मेरा जीवन प्रवाह

वियोगी हरि

सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

दो शब्द

अपने कुछ संस्मरणों, या जीवन-प्रवाह के कुछ बहे-बिखरे जल-कणों को बाँधने का मैंने इन पृष्ठों मे प्रयास किया है। जिन असंख्य जल-कणों ने मेरे प्रवाह को बनाया उनमे से किसे तो सामान्य कहा जाये, और किसे विशेष ? जल-कण तो सभी एक हैं। फिर भी, सुर-सरिता की स्तुति की जाती है, दूसरी सहस्रों नदियों की उपेक्षा। और गटर से बहनेवाले प्रवाह को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जल-कण उतरते तो सब ऊँचाई से ही हैं, पर अलग-अलग संसर्ग, भिन्न-भिन्न प्रयोग या साधन जगत् मे किसीको तो वन्दनीय बना देते हैं और किसीको निन्दनीय। किन्तु सबसे बड़ी संख्या तो उन जल-कणों की होती है, जो आदि से अन्ततक सदा उपेक्षित ही रहते हैं। उनपर किसकी दृष्टि जाती है ?

महात्माओं की जीवन-कथाएँ सामने आई हैं, और दुरात्माओं की भी। पर जिन करोड़ों के कार्यक्षेत्र सदा क्षुद्र और सीमित रहे, जिनके प्रवाह-पतित साधनों का मूल्य भी नहीं आँका गया, उनकी ओर कोई झाँकने भी नहीं जाता। स्वयं भी अपने विषय मे उन्होंने मुँह नहीं खोला, हिम्मत भी नहीं पड़ी।

मुझ-जैसों को स्वभावतः सदा संकोच और भय रहा कि कहीं कोई यह न कह बैठे कि—"अच्छा ! ये क्षुद्र मानव भी अब 'आत्म-कथाकारों' की सूची मे अपने नाम लिखाने जा रहे है। यह इनकी धृष्टता और निर्लज्जता नहीं तो क्या है ?"

तब, मै इसे आत्म-कथा का नाम नहीं दूँगा। यह तो जीवन की कुछ साधारण-सी घटनाओं और अनुभूतियों की एक

मामूली अभिव्यंजना है। जीवन के सहज प्रवाह को मैंने उसके सहज रूप मे ही देखा है, इसलिए इसमे न तो कोई गहरी जीवन-समीक्षा मिलेगी, और न कोई खास शोध या साधना ही।

लिख डालने का मन तो इसलिए हुआ कि ऐसी ही घटनाएं शायद दूसरो के भी जीवन मे घटी हो, अनुभूतियाँ भी शायद ऐसी ही हुई हों या आगे चलकर हों, तो मेरे जीवन-प्रवाह के उतार-चढ़ाव के साथ मिलान करना उनके लिए कदाचित् अच्छा ही होगा। तुलना का तो सदा आदर ही हुआ है। उपमेय और उपमान को एक दूसरे से काफी मिला है। महत् और अल्प ने मिलकर कभी कुछ खोया नही। मानव-समाज को बडो से ही सब कुछ मिला हो ऐसी बात नहीं है, छोटो ने भी उसे बहुत कुछ दिया है। विनिमय जान मे हुआ हो या अनजान मे, उसके महत्त्व को कौन स्वीकार नही करेगा ?

जीवन को मैंने प्रवाह का रूपक देकर गलती नहीं की। प्रत्येक घटना भले ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हो, पर जीवन के साथ तो उसका 'एकरूपता' का ही सम्बन्ध है न ? प्रवाह का और काल का पृथक्करण कौन कर सकता है ? देखने-वाला भले ही जीवन को समय-समय पर आंशिक रूपो मे देखता रहा हो—और मैंने भी स्वभावत यही किया है, पर अपने आपमे तो जीवन का प्रवाह सपूर्णतया एक है अविच्छिन्न है। और अन्त मे तो सारे ही प्रवाहों का प्रयास ज्ञात या अज्ञात रूप मे उस महार्णव मे अपने आपको मिला देने का है।

वियोगी हरि

विषय-सूची

वहीं सवेरे की धूप में खेलते और पढ़ते थे। शिवरात्रि को हम लोग बड़े चाव से शिवजी का शृङ्गार किया करते थे। इस शिव-मन्दिर में तुलसी-कृत रामायण के मैंने दो-तीन नवाह्न-पारायण भी किये थे।

और उस कच्चे घर के साथ तो मेरी कितनी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। मोहल्ले में धनिकों के कई अच्छे पक्के मकान थे, एक-दो हवेलियाँ भी थीं। पर मेरे लिए तो वह कच्चा घर ही सब कुछ था। उस घर की एक-एक दीवार, छप्पर की एक-एक लकड़ी जैसे जीवन के अनेक संकेतों से भरी हुई थी। पूरे इक्कीस वर्षतक उस रामसढ़ैया में मैंने बहुत-कुछ पाया। वहीं खेला, वहीं खाया। हँसा भी वहीं, रोया भी वहीं। वहाँ जनन देखे, और मरण भी देखा। मरण केवल अपने नाना का। उस मरण-दृश्य ने मुझे जो अनित्यता का अनुभव कराया वह अपूर्व था। उससे पहले मृत्यु का मैंने इतने समीप से दर्शन नहीं किया था। पर उसे मैं जीवन का स्वच्छ दर्शन क्यों न कहूँ ?

त्योहार और उत्सव भी उस घर के खूब और बारबार याद आते हैं। तो दीवाली से शुरू करूँ। माँ और मेरी मामी दशहरे से ही लाल मिट्टी से और फिर गोबर से चौतरे और दीवारें लीपने-पोतने लगती थीं। सफेद मिट्टी लेने छुईखदान उनके साथ मैं भी जाया करता था। आँगन में गोबर के 'गोवर्द्धन देव' थापे जाते, और अन्नकूट की पूजा होती। कार्तिक का नहान भी कभी भूलने का नहीं। मोहल्लेभर की स्त्रियाँ तारों की छाँह में ही तालाबों पर नहाने चली जाती थीं। 'दहीरा लैकै आजाऊँगी बड़े भोर' आदि उनके कातिक नहान के गीत बड़े श्रुति-मधुर होते थे। कई स्थानों पर रासलीला भी होती थी। पूरा कार्तिक मास

उत्साह और उत्सव में बीतता था। मकरसक्रान्ति के दिन, सिंघाड़ी नदी पर, बड़े तड़के हम लोग पर्वस्नान करने जाते थे। मेरी नानी सक्रान्ति पर नाना प्रकार के पकवान बनाया करती थीं। आषाढ़ में औरतें गाँव के बाहर, देवी-देवतों के मंदिरों के आसपास, गकड़ियाँ (बाटियाँ) खाने जातीं। साहें (पके आम) वहाँ खूब चूसने को मिलती थीं। सावन की कजलियों की सवारी भी धूमधाम से निकलती थी। कृष्ण-जन्माष्टमी की झाँकी हमारे घर पर सजाई जाती थी। गान-वाद्य के साथ सात-आठ दिन हम लोग नन्दोत्सव मनाते थे। मुझे याद है कि एक ऐसे ही उत्सव पर मेरे उदार हृदय नाना ने भक्ति-विह्वल होकर घर का बहुत सारा चाँदी का जेवर कीर्त्तन करनेवालों को दे दिया था। फिर राम-लीला के दिन आजाते। महीनों से मैं रामलीला की बाट जोहता था। 'जल विहार'का मेला तो हमारे यहाँ का दूर-दूरतक प्रसिद्ध था। मोहर्रम भी खूब धूमधाम से मनाया जाता था। हमारे छतरपुर के ताज़िये मशहूर थे, और अब भी हैं। ऊदलसिंह का अबरख का ताज़िया कितना कला-पूर्ण बनता था! हिन्दू-मुसलमान के बीच तनावट का तब कोई सवाल ही नहीं था, और आज भी उधर यह ज़हर नहीं पहुँच पाया। एक-दूसरे के त्यौहारों में हिन्दू और मुसलमान बड़े प्रेम से हिस्सा लेते थे। ताज़ियों के मेले में हम छोटे-छोटे बच्चे रेवड़ियाँ और मसाला खरीदते थे।

यह मेरे जन्मस्थान छतरपुर की बाल कहानी है। छतरपुर बुन्देल-खण्ड की एक छोटी-सी रियासत थी। वहीं, संवत् १९५२ की राम-नवमी के दिन, एक गरीब ब्राह्मण-कुल में मेरा जन्म हुआ। छह या सात महीने का था कि पिता का स्वर्गवास होगया। लालन-पालन मेरे

नाना पंडित अच्छेलाल तिवारी ने किया। मुझपर वह बहुत स्नेह करते थे। स्वभाव के क्रोधी थे, पर जहाँतक मुझे याद पडता है, मुझपर मेरे नाना कभी नाराज़ नहीं हुए। घर की स्थिति हमारी बहुत साधारण-सी थी, पर उनके वात्सल्य-स्नेह के कारण मुझे कभी किसी अभाव का अनुभव नहीं हुआ। मेरा बाल्यकाल सुख मे ही बीता।

नाना को राज्य से १५) मासिक पेंशन मिलती थी। और, घर की कुल यही आय थी। नाना अच्छे गुणी थे। सितार बडा बढ़िया बजाते थे। सङ्गीतज्ञ भी ऊँचे दरजे के थे। मुझे याद है, जब उन्होंने कलकत्ते के मशहूर पखावजी भृगुनाथ वर्मा को राज-दरबार में परास्त किया था। सितार पर तीन-चार गते, जब मैं नौ-दस बरस का था, मुझे भी सिखाई थी। पर मेरा मन उसमे लगा नही। मेरे मामा पंडित भगवानदास तिवारी ने अलबत्ता उनसे सितार बजाना अच्छी तरह सीखा था। अभ्यास मामाजी का इधर छूटा हुआ है, फिर भी खासा बजा लेते हैं। जवानी के दिनों मे कुश्ती भी मेरे नाना अच्छी लडते थे। अपने ज़माने के कई नामी गरामी पहलवानों को उन्होंने पछाडा था। बन्दूक और तलवार चलाने का भी इन्हे शौक़ था।। झाँसी मे महारानी लक्ष्मीबाई का अद्भुत पराक्रम उन्होंने अपनी आँखों देखा था। पढे-लिखे खुद बहुत मामूली थे, पर मुझे उन्होंने बडे प्रेम से पढाया।

पंडित अच्छेलाल तिवारी स्वभाव के काफी क्रोधी थे, पर हृदय उनका बालकों के जैसा सरल व मधुर था। बडे दयालु थे। किसीका दुःख देख नहीं सकते थे। सूर तथा तुलसी के पदों को गाते-गाते भक्ति-गद्गद हो जाते थे। मोहल्लेभर की बहू-बेटियाँ उनसे भय खाती थीं,

उनकी आन मानती थीं।

मेरी नानी भी मुझे खूब प्यार करतीं थीं। मेरे लिए न जाने क्या-क्या खाने-पीने की चीज़ें सेंत-सेंतकर रखती थीं। हाट बाज़ार और गाय-भैंस की ग्वाम्ली (ढोरों की सेवा) प्राय वेही करती थीं। बेचारी सबकी सुन लेती थीं। सबको राज़ी रखती थीं। पर अधिकतर वह दुखी ही रहीं। बुढ़ापे के दिन उनके काफ़ी कलेश में कटे। अत में अंधी भी हो गई थीं। मैं उनकी कुछ भी सेवा न कर सका—आर्थिक सहायता भी न पहुँचा सका, इसका सदा पछतावा ही रहा। माँ हमेशा मेरे साथ तो रहीं, पर उनसे मेरा उतना लगाव नहीं रहा, जितना कि नानी के साथ।

बाल्यकाल में घर की ग़रीबी जो मुझे खली नहीं इसका मुख्य कारण नाना और नानी का मेरे ऊपर अत्यधिक लाड-प्यार ही था। बचपन में सुनहरे पंख लगाकर उडा, झोंपडी में मैंने महल पाया, आगे की कल्पना भूमि पर एक सुन्दर बुनियाद भी रखी—यह सब इन्हीं दोनो गुरुजनों की बदौलत। तीर्थ-स्वरुप वे दिवगत आत्माएँ मेरी तुच्छ स्मृति-श्रद्धाजलि स्वीकार करें।

: २ :

मेरी जन्म-भूमि

मेरा जन्म स्थान छतरपुर, बुन्देलखण्ड का, एक छोटा सा क़स्बा है। जन संख्या उसकी कोई बारह हज़ार होगी। पर मेरी दृष्टि मे तब मेरा छतरपुर किसी भी नगर से छोटा नहीं था। सचमुच मेरे लिए तो वह बहुत बडा नगर था। बडा सुन्दर था, बडा सुखद था। छतरपुर पर मुझे गर्व था। हरी-भरी पहाडियाँ, छोटी-सी हमारी सिधाडी नदी, दो-तीन अच्छे तालाब, टेकरियों पर श्री जानराय और हनुमानजी के मदिर मेरे लिए वे सब कितने आनन्दप्रद और कितने आकर्षक थे। चौक बाजार और शानदार राजमहल के भव्य चित्र तो हमेशा मेरी आँखों के सामने रहते थे। बुन्देलखण्ड-केसरी महाराजा छत्रसालने इस सुन्दर ऐतिहासिक नगर को बसाया था। बीच बाज़ार मे छत्रसाली झंडा वहाँ फहराया करता था।

बुन्देलखण्ड मध्यभारत का बडा सुन्दर भू-भाग है। इस प्रदेश का प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास खासा समृद्ध है। इसके प्राचीन नाम 'दशार्ण' और 'जेजाकभुक्ति' हैं। वाल्मीकि ने रामायण मे और कालिदास ने 'मेघदूत' में इस पुण्य प्रदेश के मनोज्ञ चित्र अंकित किये

हैं। विन्ध्यभूमि की लावण्यमयी वनश्री देखते ही बनती है। छोटी-छोटी हरी-भरी पहाड़ियाँ, काली चट्टानों के साथ खेलती हुई चचल फेनिल नदियाँ, कई ऊँचे-ऊँचे प्रपात और सुन्दर झरने, सैकड़ों स्वच्छ सरोवर और सघन वन-समूह किस प्रकृति-प्रेमी को मुग्ध न कर लेंगे। सचमुच वेतवा और केन के अचलों पर के मनोरम दृश्यों को एक बार जिसने देख लिया, वह कभी उन्हे भूलने का नहीं। चित्रकूट का प्राकृत चित्राङ्कण भला कौन चित्त से उतारना चाहेगा? खजुराहे के कला-पूर्ण मन्दिरो पर कौन यात्री मोहित न हो जायेगा? चन्देलों के समय की वास्तुकला के ये अद्भुत नमूने हैं। देवगढ की मूर्ति-निर्माण कला भी आश्चर्यकारक है।

भारत के इस भव्य भू-भाग पर बहुत कम, बल्कि नगण्य-सा शोध-कार्य हुआ है। विन्ध्य भूमि की न जाने कितनी अद्भुत शिलाएँ अन्धकार मे जहाँ तहाँ दबी पडी हैं। उनकी भाल-लिपि कौन तो पढे, और कौन उनका रहस्यपूर्ण अर्थ लगाने का कष्ट उठाये! इस विराट् कार्य के लिए एक नहीं अनेक वृन्दावनलाल वर्मा चाहिए। मेरे मित्र पडित बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा से निस्सदेह कुछ सास्कृतिक चर्चा का सूत्रपात हुआ, पर वह समुद्र में बूँद के समान रहा।

प्रकाश में आये या न आये, यह सब अतीत की सपदा है। किन्तु इस प्रदेश का वर्तमान भी अब कुछ-कुछ प्रकाश मे आ चला है।

कलतक तो प्राय. सभी दृष्टियों से यह प्रदेश भारत का एक घोर अँधेरा कोना था। पहले तो इन्दौर, भूपाल, रतलाम, झाबुआ आदि पाँच सात राज्य ही अखबार पढनेवालों की दृष्टि में मध्यभारत के

देशी राज्य माने जाते थे। बुन्देलखण्ड के इन अभागे राज्यों की ओर तो देश का ध्यान जाता ही नहीं था। यहाँ का चित्र बहुत कुत्सित और बीभत्स रहा है। सारी शोभा और वास्तुकला को इस काले चित्र ने अपनी कुरूपता में ढक-सा लिया था।

दुर्भाग्य से इस अँधेरे कोने की ओर कभी कोई झाँकने भी नहीं जाता था। कोई भूला भटका यात्री इधर कभी पहुँचा भी, तो उसने या तो खजुराहे या देवगढ की स्थापत्य कला का कुछ साधारण-सा वर्णन लिख डाला, या बेतवा, केन और धसान के सुन्दर दृश्यों पर एकाध कविता या लेख लिख दिया। बहुत हुआ तो वसन्तोत्सव या साहित्य-समारोह मनाने की कोई सुन्दर-सी योजना बना डाली। किन्तु प्रजा जहाँ अत्याचारों के नीचे बुरी तरह पिस रही हो, कलप-कलपकर भूखों मर रही हो, जीवन जागरण का जहाँ कोई चिह्न भी न दिखाई देता हो, वहाँ मुझे तो ये सारी साहित्यिक और सांस्कृतिक योजनाएँ असामयिक और अनावश्यक-सी मालूम देती थीं।

बुन्देलखण्ड एवं बघेलखण्ड के रजवाड़ों की कहानी बड़ी करुणाभरी रही है। युग-काल की प्रगति से विन्ध्यप्रदेश आज भी प्राय पीछे ही है। सौ बरस पहले ऐसी जागृति या स्वातंत्र्य-भावना नहीं थी यह सही है, मगर प्रजा में तब समृद्धि और शक्ति थी। फिर तो जैसे वहाँ कुछ भी नहीं रहा—न कोई आकांक्षा, न आशा। अस्थि-कंकालों के भीतर प्राण-ज्योतिभर टिमटिमा रही थी। प्रजा को अपनी वर्त्तमान स्थिति में ही झूठा संतोष मानने का आदी बना दिया गया था। सामान्य लोग इतने भाग्यवादी और इतने जड़ हो गये कि उन्हें अपनी गिरावट या

दासता की याद भी नहीं आती थी।

आर्थिक स्थिति लोगों की बहुत गिर गई। मैंने वहाँ न कहीं कोई उद्यम देखा न उद्योग। शिक्षा की दिशा में भी घोर अन्धकार। काल चक्र से, कुसंस्कार और मूढ़ विश्वास जड़ पकड़ गये। पुरुषार्थ मारा लुप्त हो गया। आगे बढ़ने-बढ़ाने का न कोई साधन रहा, न अवसर।

प्रजा का रक्त-शोषण बहुत बुरी तरह किया गया। राजाओं को रिआया के सुख दुःख की रत्तीभर पर्वा नहीं थी। राज्य के कोष को ये अपनी सम्पत्ति मानते थे। विलासिता में आकंठ-मग्न। इनके नारकीय जीवन की घिनौनी कहानियाँ हैं। इनके अत्याचारों को सुन-सुनकर हृदय काँप उठेगा। दिनदहाड़े वहाँ लूट होती थी। खूनतक कर दिये जाते थे। प्रजा की बहू बेटियों की लाज सुरक्षित नहीं थी। मनुष्य की जान का मूल्य चालीस-पचास रुपये से ऊपर नहीं लगाया जाता था। शिकार में जब कोई हाँके का आदमी शेर के पंजों से, या गलती से बंदूक चल जाने से, मौत के मुँह में चला जाता, तो उसकी औरत या माँ को चालीस-पचास रुपये बतौर इनाम के दे दिये जाते थे। ऐसी घटनाओं को मैंने ख़ुद अपनी आँखों से देखा था।

एक राज्य का एक जुल्म तो मैं आज भी नहीं भूला हूँ। एक मेहतर का लड़का अपने रिश्तेदार की साइकिल पर राजमहल के सामने से जा रहा था। इस बेअदबी पर उसकी साइकिल ज़ब्त करली गई, ऊपर से उस उद्दण्ड लड़के पर जूते भी पड़े। महल के सामने से कोई छाता खोलकर नहीं जा सकता था। नंगे सिर निकलना भी किसी किसी राज्य में जुर्म माना जाता था। यह बात तो कल्पना से परे थी कि राजा या

राजकुल का कोई भी व्यक्ति अथवा कोई ऊँचा अधिकारी ही आपके मकान के सामने से जा रहा हो, और आप कुर्सी या चारपाई पर बैठे रहें, और उठकर उसे अदब से मुजरा न करें।

राजा, रानी या राजमाता के स्वर्गारोहण पर प्रजा को सूतक में शामिल होना पडता था, मूँछें मुँडानी पड़ती थीं। और मूढ प्रजा ऐसे-ऐसे अपमानों को अपना धर्म समझती थी! भोली-भाली प्रजा ही नहीं, स्वयं राजा भी अपने-आपको 'नरों में नारायण' मानता था। कविजन उसका यशोगान करते, खुशामदी सरदारों से वह हमेशा घिरा रहता, और प्रजा हाथ जोड-जोडकर उसकी स्तुति किया करती थी।

ब्रिटिश-छत्रछाया के नीचे राजा चालाक या कूट-नीतिज्ञ अधिक हो गया था। बचपन से ही अँग्रेज़ों के सम्पर्क में रहकर वह काफ़ी धूर्तता सीख गया। अँग्रेज़ों के दुर्गुण तो उसने अनेक ले लिये थे, गुण उनका एक भी नहीं। वह स्वयं अच्छा शिक्षित था, पर अपनी प्रजा को बिलकुल निरक्षर रखना चाहता था—उसे भय था कि रिआया शिक्षित हो जाने से किसी दिन विद्रोही भी बन सकती है। ब्रिटिश भारत का कोई छोटा-मोटा नेता या पत्रकार—जिससे वह काफ़ी भयभीत रहता—जब वहाँ पहुँच जाता, तो उससे वह बड़ी धूर्तता से बात करता था। देश-भक्ति का भी स्वाँग भरता, महात्मा गाधी और जवाहरलाल नेहरू के प्रति श्रद्धा भी प्रकट करता—प्रजा की खातिर अपना राज-सिंहासनतक छोडने को तैयार हो जाता था! बेचारा आगन्तुक उसके उच्च उद्गारों पर मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता था। पर उसके पीठ फेरते ही वह धूर्त फिर अपने असली रूप में आ जाता। पीठ पीछे देश के

बडे-बडे नेताओं की खिल्ली उड़ाता, उन्हें बुरी-से-बुरी गालियाँ देता था। राष्ट्र-पताका से वह घृणा करता, और खादी पहननेवालों को सदा सन्देह की दृष्टि से देखता था।

कभी-कभी प्रजा के कुछ जाग उठने व खड़े होजाने के परिणामस्वरूप किसी-किसी राज्य में मामूली-से कुछ सुधारों की घोषणाएँ भी सुनने में आती थीं, पर उन घोषणाओं का असल में कुछ भी मूल्य नहीं था। अखबार पढ़नेवाले धोखे में आ जाते थे। असल में, ये लोग स्वेच्छा से अपना एक भी अधिकार छोडने को तैयार नहीं थे। 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' ये अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे। और, प्रजा में उसे छीन लेने की ताक़त नहीं थी। साधारण प्रजा ने तो अपना यह सूत्र बना रखा था—"पहाड में सिर मारोगे तो तुम्हारा ही सिर फूटेगा, पहाड़ का क्या बिगडना है?" कुछ वर्ष पहले पडोस के अंग्रेजी इलाक़े से कुछ प्रेरणा पाकर छतरपुर की रिआया ने ज़रा सा सिर उठाया। पुलिस और फौज की मदद से फ़ौरन उन राज-विद्रोहियों को दबा दिया गया। कुछ आदमी गोली से भी उडा दिये गये। अखबारों में इस हत्याकाण्ड के बारे में एक शब्द भी नहीं आया। कई साल बाद मुझे इसका पता चला। बाहर खबर भेजने की किसीको हिम्मत भी नहीं पडी।

ऐसे-ऐसे अत्याचार तो प्राय सभी देशी राज्यों में होते थे। फिर बुन्देलखण्ड के ही राज्य क्यों क़सूरवार ठहराये जायें? ठीक है। पर

अन्य राज्यों की प्रजा की कुछ-न-कुछ आवाज़ बाहर तो पहुँच जाती थी। वहाँ का काला पत्त कम-से-कम दुनिया के सामने तो आ जाता था। दूसरे राज्यों के जुल्मों की कहानियाँ भी मैंने काफ़ी सुनी हैं। पर बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की रियास्तों के काले कारनामे और जुल्म तो सचमुच बड़े भयंकर थे। वहाँ शासन के नाम पर क्या क्या नहीं होता था!

अंग्रेजी सार्वभौम सत्ता को हर तरह से प्रसन्न रखकर ये प्रजा-पीडक नरेश अपने को पूर्णतया सुरक्षित समझते थे। अंग्रेजो को रिझाने के इनके क्या-क्या तरीके थे, इसका एक उदाहरण यहाँ देता हूं। एक राज्य मे श्रीबाँकेबिहारीजी का एक प्रसिद्ध मन्दिर था। पोलिटिकल एजेण्ट मि० प्रिचर्ड के प्रीत्यर्थ उस मन्दिर का नया नाम-संस्कार किया गया—नया नाम उसका "श्रीप्रिचर्ड-विहारी टेम्पल" रखा गया। और एक दूसरा नरेश नित्य प्रात.काल पुष्पांजलि लेकर बडी श्रद्धा-भक्ति से पोलिटिकल एजेण्ट के फोटो की वन्दना और स्तुति किया करता था!

इन राज्यों की ऐतिहासिक कीर्त्ति चाहे जो रही हो, पर बाद का तो इनका यह घृणित चित्र था! किन्तु शोक! इनकी संरक्षिका विदेशी प्रभु-सत्ता भारतसे सदा के लिए उठ गई, और ये प्रजा-पीडक नरेश आश्चर्य से ताकते रह गये! लौहपुरुष सरदार पटेल इन्हे पापड की तरह चबा गया। देखते-देखते सारा दृश्य बदल गया। अब इस प्रदेश के भी अच्छे दिन आगये हैं। यह आशा करनी व्यर्थ थी, बल्कि दिवास्वप्न था, कि ये राजे महाराजे कभी प्रजा के 'ट्रस्टी' बनकर रहेंगे। इनका हृदय कभी पलट नहीं सकता था।

चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्थातक तो मुझे अपने जन्म-स्थान की दुरवस्था का कभी भान भी नहीं हुआ—वहाँ के कष्टों और अभावों का कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। मेरे लिए भी सब की तरह वहाँ का सब-कुछ सुन्दर और सुखद ही था। वह छोटी-सी नगरी उन दिनों मेरी दृष्टि में सचमुच अलका या अमरपुरी थी। असन्तोष या विराग होने का तबतक कोई कारण ही न था। किन्तु दुर्भाग्य या सद्भाग्य से कुछ समझ आने पर वह स्वर्ग सुख धीरे-धीरे चुभने-सा लगा। थोड़ी-थोड़ी जागृति आने पर बचपन के सुनहरे पख मेरे एक-एककर झड़ने लगे। उल्लास के हिंडोले की रस्सियाँ टूट गईं। मैं अब तड़फड़ा रहा था।

: ३ :

नरक कहूं या स्वर्ग?

हमारे घर के पिछवाडे काछियों का मोहल्ला था। ये लोग या तो साग भाजी उपजाते और बेचते थे, या डेढ़-दो आने रोज़ की मेहनत-मजूरी कर लेते थे। औरतों को एक आना रोज मिलता था। सब मोटा-झोटा खाते, और चीथडे पहनते थे। बरतनों के नाम काली हडिया, काठ की कलछी और मिट्टी का तवा। फिर भी अपने रग मे मस्त रहते थे। रात के पिछले पहर गीत के साथ इनकी झोंपडियों में जाँतों का सुर बडा सुहावना लगता था। अथाइयों पर आधी-आधी राततक हमारे ये ग़रीब पडोसी सरंगी और डफली के स्वर-ताल में बडे प्रेम से गाते थे। औरतें उधर तबतक रोटी तैयार कर लेती थीं। ब्याह-शादियों में इनकी स्त्रियाँ खूब घूम-घूमकर नाचती थीं। और फाग के दिनों में इनके रंगीले जुलूस निकलते थे। कोई बीमार पड जाता या मोहल्ले पर कोई और आफत आ जाती, तो इनकी 'जात्रा' लगती थी। गाते-गाते किसी भगत के सिर भैरों बाबा आ जाते थे, तो किसी-के सिर काली माई। किसीको वह शाप दे डालते थे और किसीको वर-दान! आतक से सन्नाटा छा जाता था।

नवरात्र में, या जब गाँव में माता का प्रकोप फैलता तब, सारी रात ये लोग महामाई के 'हो माँ' या भजन गाते थे। बचपन में मुझे उनका यह भजन बड़ा प्रिय लगता था—

दिन की उवन, करन की बेरा,
सुरहिन वन को जाय हो माँ,
इक वन नाँघ दुजे वन पहुँची,
तीजे सिंघ दहाड़ो हो माँ।

भगत लोग नवरात्र में धधकते हुए अंगारों का खप्पर लेकर जवारों के जुलूस में निकलते थे, और उनके गालों में लोहे की लम्बी-लम्बी सांगें छिदी होती थीं।

काछी, कुर्मी, नाई, ढावर और कुम्हार की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति मे कोई खास अन्तर नहीं था। सबसे बुरी हालत तो वहाँ चमारों और बसोरों की थी, और आज भी है। इनके साथ लोगों का बर्ताव जानवरों से भी बुरा था। लोग इनसे गालियों और जूतों से बात करते थे। पर जहाँतक गरीबी का प्रश्न है, नानो (छोटी) जात के कहे जाने-वाले लोग लगभग सभी एकसमान थे। बहुत-से ब्राह्मण और ठाकुर भी भूखों मरते थे। यह तो राजधानी की हालत थी। देहात की प्रजा का हाल तो और भी बुरा था। आज भी लोग उधर अधिकतर कोदो, कांकन, सामा और कुटकी की रोटी खाते हैं। एक और मोटा धान्य 'बसारा' या 'लठारा' नाम का इन इलाकों में पैदा होता है, जो घास की कोटि में आता है। इसकी रोटी खाने से मल इतना सख्त उतरता है कि कभी-कभी मल के साथ खूनतक आ जाता है।

चौमासे में घास-पात तोड-तोडकर उसका साग उबाल लेते हैं, नहीं तो नमक की डली और लाल मिर्च तो है ही। दाल का दर्शन तो अमा-वस-पूनो को ही होता है। और यह काली-कलूटी मोटी रोटियाँ भी बारहों मास नहीं मिलती। दो तीन मास तो ये लोग महुए और गुलैदे (महुए के फल) खा-खाकर काट देते हैं। डूबरी (महुए की लपसी) और मुरका (भुने महुए और तिल) की गणना वहाँ के स्वादिष्ट व्यंजनों में की जाती है। कहा भी है--

महुआ मेवा, बेर कलेवा,
गुलगुच बड़ी मिठाई।

गुलैदे का एक नाम 'गुलगुच' भी है। बिरचुन (गुठली-सहित जगली बेरों का चूरन) को पानी में घोल-घोलकर नमक के साथ गर्मियों में बडे स्वाद से खाते हैं। बिरचुन यहाँ सत्तू का काम देता है। तालाब के पास गाँव हुआ तो वहाँ के अधिकाश लोग कसेरू और मुरार (कमल की जड) पर दो-तीन महीने गुज़ार देते हैं। जड़ो की रोटियाँ भी पका लेते हैं। बचपन मे इन स्वादिष्ट व्यजनों का मैंने भी कितनी ही बार रसास्वादन किया था।

गेहू की रोटी इन ग़रीबों को कहाँ नसीब होती है। मुझे याद है कि एक बुढ़िया काछिन अपने बीमार नाती के लिए हमारे घर से जौ के आटे के दो फुलके और आम का अचार मेरी नानी से माँगकर ले गई थी। बीमार बच्चे का वह पथ्य था। और इस पथ्य से, वह कहती थी, उसके नन्हे की तिजारी चली गई थी। कैसा दूध, और कैसे फल! कुनैन का तो काम देता है वहाँ नीम की छाल का काढा,

और मट्ठा और जौ चने की रोटी या कुटई (कोदों का चावल) को समझ लीजिए आप उनका दूध और फल। अब आज जब आहार-विज्ञान पर साहित्य पढा और सुना, तो देखता हूँ कि यह शास्त्र तो उनके लिए हैं, जिन्हें जरूरत से ज्यादा आहार मिलता है, और जो उसे पचा नहीं सकते। बेशक, वह बैठे-बैठे विश्लेषण किया करें कि उनके उदर में क्या-क्या विटेमिन पहुंच रहे है, या पहुँचने चाहिएँ।

पथ्य के सिलसिले मे ऊपर मैंने मट्ठे का नाम लिया हैं। मट्ठे से मतलब मेरा सफेद खट्टे पानी से है। चार-पॉच दिन के जमा किये हुए दो-तीन सेर दही की छाछ मे एक मटका पानी मिलाकर मट्ठा तैयार किया जाता है। मोहल्लेभर की औरतें उस मट्ठे को माँग-माँगकर ले जाती हैं। गाय उधर की पाव-आध सेर दूध देती है, और भैंस तीन पाव से सेर-सवा सेरतक। घर मे लोग दूध-घी नहीं खाते। घी जमा करते जाते है और सस्ते भाव बेच देते है। यह पशु-धन भी विरले भाग्यवानो के ही घरों में मिलेगा।

मैंने एक दिन दिल्ली के अपने एक राष्ट्रकर्मी मित्र को उधर की इस गरीबी का वर्णन सुनाया, तो उन्हे मेरे कथन पर विश्वास नहीं हुआ। बोले—"यह तो आपकी अत्युक्ति है। मैं भी तो गाँव मे रहता हूँ। मै भी गाँवो में 'जाट-रोटी' और छाछ पर गुज़र करता हूँ।"

"ठीक है," मैंने कहा, "पर आपकी 'जाट-रोटी' और हमारी कोदो-बसारा की रोटी में, भाई साहब, बहुत बडा अतर है। कहाँ तो जनाब, आपकी गेहूँ-चने या बाजरे की स्वादिष्ट घी-चुपडी रोटी, और कहाँ हमारा काले उपले के मानिन्द मिट्टी के जैसा भुरभुरा कोदो और

बसारा का बिल्कुल निस्सत्व रोट। हमारे यहाँ ज्वार की रोटी बड़े स्वाद से अच्छे-अच्छे घरों के लोग खाते हैं, आपके गाँवों में वही ज्वार ढाँगरों को खिलाया जाता है। आपके गाँव तो स्वर्ग हैं स्वर्ग। फिर, आपकी वह बढ़िया मीठी छाछ—वह तक्र जो शक्र को भी दुर्लभ है, और कहाँ हमारा वह सफेद खट्टा पानी! सो मैंने अपने वर्णन में जरा भी अत्युक्ति से काम नहीं लिया।"

फिर भी उनकी मुख-मुद्रा से मालूम होता था कि मेरी बात पर शायद वह विश्वास नहीं कर रहे हैं। काश, खुद जाकर अपनी आँखों से मेरे ग्राम-सेवक मित्र ने एक बार मेरे अभागे प्रांत की हृदय-विदारक दशा देखली होती।

मगर मेरा जन्म जिस वर्ग में हुआ उसके लेखे मेरा खाना-पीना बुरा नहीं था। हम लोग वहाँ मध्यम वर्ग के कहे जाते थे। इस वर्ग के लोगों की सख्या ३० प्रतिशत से ऊपर नहीं है। हमारी वहाँ प्रतिष्ठित घरों में गिनती की जाती थी। मेरे घर मे एक-दो गायें थीं, और शायद एक भैंस भी। राज्य से एक टट्टू भी नाना को प्रदान किया गया था। बाद को एक पुराना इक्का भी उन्हे बख्शा गया था। अपने बुड्ढे नन्हू खा साईस की मुझे खूब याद है। नई-नई कहानियाँ हमारे नन्हू मियाँ मुझे रोज सुनाया करते थे।

खाना मुझे घर के और लोगों से अच्छा मिलता था, क्योंकि मुझ-पर सभी का लाड-प्यार था। जाडो में रात की बासी रोटियाँ खाकर स्कूल जाता था। बारह बजे से पहले उधर रोटी बनाने का रिवाज नहीं है। रोटियाँ चुपडी हुई होती थीं—घी से, जाडों मे प्राय. तेल से, और

गर्मियों में कभी-कभी पानी मे बासी रोटियाँ चुपड़ लेता था। साग-तरकारी तो हमारे यहाँ कभी-कभी ही बनती थी। दाल रोज। कुटई या कुटकी के चावल अकसर बनते थे। दूध भी पाव-आध पाव मिल जाता था। कभी-कभी पैसे-दो पैसे की मिठाई भी मेरी नानी ला देती थीं।

कपडे-लत्ते भी मैंने कुछ बुरे नहीं पहने। साल में दो या तीन धोतियाँ फाडता था, और शायद इतने ही कुरते। याद पडता है कि सन् १६११ में जब मुझे हैडमास्टर साहब के आदेश से अन्य विद्यार्थियों के साथ मर्दुमशुमारी का काम करना पडा था, बद गले का एक काला कोट भी मेरे नाना ने सिलवा दिया था। कोट, बस, वही एक पहना। एक पजामा भी तभी बनवाया था। मर्दुमशुमारी का मुंशी जो बनना था। पहले काली टोपी पहनता था। बाद को साफ़ा बाँधने लगा। जाडों मे रुईभरी छींट की फतुही पहनता था। परिवार के दूसरे लोगों को इतने सारे कपडे कहाँ मिलते थे!

मध्यम वर्ग के लोगों को भी मुश्किल से साल में एक धोती-जोड़ा नसीब होता है। स्त्रियाँ बीसियों पैवद लगी धोती पहनती हैं। लडकियों के शिक्षण-क्रम में सीना-पिरोना और बेल-बूटों का काढना आज अनिवार्य कर दिया गया है। पर ऐसी हजारों-लाखों स्त्रियों को आप किस प्रकार की ललित कला की शिक्षा देंगे, जिनके शरीर पर फालतू तो क्या, ज़रूरी कपडे भी नहीं?

और बहुत बडी संख्या तो उन ग्राम-वासियों की है, जिनका सारा जीवन चीथडों में ही कटता है, जो बारहों मास लगभग नग्न ही रहते हैं। बहुत-से तो सर्दी की लम्बी-लम्बी हडकम्प रातें पुआल में घुसकर

या आग के पास करवट वदलते-बदलते काट देते हैं। उनके पास एक फटी-पुरानी चादर भी नहीं होती, जिसे रात को अपने काँपते हुए हाडो पर डाल लें।

ऐसी नगी-भूखी जनता, फिर भी, आश्चर्य है, विद्रोह नहीं कर बैठती! ठाकुर लोग डाके डाल लाते हैं ब्राह्मण भीख माँग खाते हैं, बनिये भी कुट-पिटकर कुछ-न-कुछ बनिज कर लेते है। पर दूसरे लाखो आदमी, जिनकी हड्डियों पर केवल चमडा मढा है, किस तरह आखिर अपना पापी पेट पालें?

ऐसी हद दरजे की दरिद्रता मे मुझे जैसा खाने-पहनने को मिला उससे असन्तोष या कष्ट होने का कोई कारण नहीं था। मैं नहीं कह सकता कि मेरे बचपन के दिन कसाले मे कटे। ईश्वर के प्रति कृतघ्न नहीं बनूँगा। अपने से अधिक साधन-सम्पन्न लडको को देखकर मन में ईर्ष्या नहीं होती थी। सौभाग्य से सापेक्षता मेरे लिए दु:ख और डाह का कारण नहीं बनी। या तो बुद्धि आगे दौडती नही थी, या फिर मेरे स्वभाव मे ही कुछ सन्तोषवृत्ति थी, जिससे बचपन मे कोई ऐसी बडी आकाक्षा मन मे नहीं उठी। दूसरो के अभाव और कष्ट देखकर भी दु:ख नहीं होता था। अपनी स्थिति मे तो मुझे सन्तोष था ही। घर मे चैन की बाँसुरी बजती थी। और राज्य भी हमारा, मेरी दृष्टि मे, राम-राज्य था। दु:ख का अनुभव न होने मे मेरा अज्ञान भी बडा सहायक हुआ। घर मे जब कभी कलह होता, तब ज़रूर मैं कुछ खिन्न-सा होजाता था। फिर भी लडकपन में मेरा सुख का ही पलडा झुका रहा।

हाँ, एक-दो लम्बी-लम्बी बीमारियों ने अलबत्ता मुझे बडी पीडा

दी थी। राजनगर में पेचिश से मैं मरते-मरते बचा था। तब मैं सात-आठ साल का था। जिस दवा से मैं अच्छा हुआ था। उसपर मेरी आज भी श्रद्धा क़ायम है। सोंफ,सोंठ और खारक(छुहारा)को दो-दो तोला लेकर आधी कच्ची और आधी तवे पर भून लेते थे। तीनो चीज़ों को पीसकर दो तोला मिश्री मिलाकर, दिन मे कई बार में, पानी के साथ, फाका करता। औषधि बडी गुणकारक थी और स्वादिष्ट भी।

ज्वर भी मुझे बचपन मे लगातार पाँच महीने आया था। तब मैं कोई ग्यारह बरस का था। ज्वर जीर्ण पड गया था। किसी तरह जाता ही नहीं था। बहुत अशक्त हो गया था। अपने आप उठकर बैठ भी नहीं सकता था। लाला सालिगरामजी ने, जो पेशेवर हकीम नहीं थे, मेरा इलाज किया था। दवा का भी पैसा नहीं लेते थे। सचमुच वे पीयूष-पाणि थे। कई दिनों के बाद मूँग की पतली दाल से पथ्य कराया था। पीछे थूली (दलिया) दी थी। बकरी का दूध, छोटी पीपल डालकर, बाद को दिया था। उन दिनो वहाँ न कोई थर्मामीटर लगाता था, न दिल और फेफडों की परीक्षा होती थी। थर्मामीटर का प्रयोग मैंने खुद पैंतीस वर्ष की अवस्था के बाद किया। कुनैन भी तभी जीभ पर रखी।

गरीब लोगो की दवा-दारू उन इलाकों में अनाडी वैद्य ही अधिकतर करते हैं,या यों ही बिना दवा के वे अच्छे होजाते हैं। सैकडों मर भी जाते हैं। अस्पताल अव्वल तो बहुत कम है, दूसरे, इनमें कोई खास लाभ भी नहीं। जो दवाइयाँ दूध और फलो के सेवन पर निर्भर करती हों, उनके लिए वहां कोई स्थान नहीं। यह सब तो बडे आदमियों के लिए हैं—दवाइयां भी, डॉक्टर भी और छोटी-बडी अनेक

प्रकार की बीमारियाँ भी। सौ बीमारी की बीमारी तो वहाँ हद दरजे की गरीबी है, भुखमरी है। धन्वन्तरि और लुकमान के पास भी इस बीमारी का कोई इलाज नहीं।

स्वयं मैं मन से स्वस्थ था। दूसरों की चिन्ता तब मेरे मन को अस्वस्थ नहीं बना सकी। अज्ञान का पर्दा उठना ही मेरे हक में बुरा हुआ।

: ४ :

विद्यार्थी-जीवन

पितृ-भूमि मेरी पुरमऊ नाम के एक छोटे-से गाँव में थी। उस गाँव में आज भी पूर्वजों का एक कुआँ है और माफी की कुछ ज़मीन भी। महुए और आम के कुछ दरख्त भी हैं। ज़िन्दगी में सिर्फ एक बार मैं पुरमऊ गया हूँ—कोई तीस साल पहले। पूर्वज मेरे कनौजिया दुवे थे। खेती बाड़ी किया करते थे। पढ़ा-लिखा उनमें कोई नहीं था। गाँव में मेरा जन्म हुआ होता, तो मैं भी वहाँ आज हल जोतता होता। गाँव के उस तंग घेरे में, अनपढ़ होने के कारण, बहुत-सी झंझटों से तो बच जाता। जो आज हूँ वह न होता, और जो नहीं हूँ वह होता—इन असम्भावनाओं या सम्भावनाओं पर व्यर्थ क्यों अपनी कल्पना को दौड़ाऊँ? मेरे मन में ऐसा अजीब विचार आया ही क्यों?

मेरे नाना ने मुझे अपनी गान-विद्या नहीं सिखाई। स्वर का यह थोड़ा-सा ज्ञान तो सुनते-सुनते होगया। उन्होंने मुझे पढ़ाना उचित समझा। घर पर स्वय ही मुझे अक्षर-बोध कराया। फिर मदरसे में नाम लिखा दिया। हमारे छोटे-से शहर में एक हाईस्कूल था, और एक कन्या-पाठशाला। सस्कृत का भी एक विद्यालय था। शिक्षा नि शुल्क थी। पाडेजी की एक 'चटसाल' भी थी। इसमे पुरानी पद्धति की

पढ़ाई होती थी। 'ओ नामा सीधम' (ओ३म् नम सिद्धम्) से आरम्भ कराके पाडेजी चारों 'पाटियाँ' और 'चन्नायके' (चाणक्य अर्थात् राजनीति के दोहे) समाप्त करा देते थे। पहाडो और महाजनी हिसाब-किताब में भी पक्का कर देते थे। बनिये-महाजनों के लडके सब इसी चटसाल मे पढते थे। 'पाटियो' से अभिप्राय अपभ्रंश रूप में पचसन्धियों से था। पाडेजी दण्ड मुक्तहस्त से देते थे। नाम लिखाते समय लडके के मा-बाप गुरुजी को दण्ड-दान का खुद ही पूरा अधिकार दे आते थे। उस दिन से लडके की चमडी और मास पर वे अपना अधि-कार नहीं समझते थे। विद्या की समाप्ति पर वे अपने लडके की सिर्फ हड्डियाँ वापस चाहते थे—"हाड-हाड हमारे, मास-मास तुम्हारा।"

नोगाँव केण्टूनमेण्ट छतरपुर में फिर से आजाने से राज्य मे अब एक हाईस्कूल और बढ गया है। खास छतरपुर का हाईस्कूल अब इटर कालेज कर दिया गया है। राजनगर क़स्बे मे शायद एक मिडिल स्कूल भी है। कुछ ग्राम-पाठशालाएँ भी है। लेकिन जिस राज्य की जन-सख्या पौने दो लाख के लगभग हो, और क्षेत्रफल ११३० वर्गमील, उसमे ४ प्रतिशत से भी कम साक्षरता का होना दुःख और लज्जा की ही बात है। पर यह दुःखद दशा तो बुन्देलखण्ड के प्रायः सभी रज-वाड़ो की है। पड़ोस के अँग्रेजी इलाको में भी आपको साक्षर लोगों की सख्या कुछ अधिक नहीं मिलेगी।

हमारे हाईस्कूल के हेडमास्टर रायसाहब मुशी सोहनलाल थे। पक्का रग, बडी-बडी मूँछ, बगले के पख के जैसा बन्द गले का लम्बा कोट, चूडीदार पजामा और सिर पर काली टोपी, हाथ मे चादी की मूठ की

छडी। मिजाज के बडे तेज थे। अनुशासन उनका बडा सख्त था। स्कूल में किसीने कभी उनको हँसते नहीं देखा। लडकों और मास्टरो पर उनका बडा रौब था। जिस क्लास के पास से निकल जाते, सन्नाटा छा जाता। छठे दरजे के सालाना इम्तिहान मे अपने एक साथी को मैं गणित का एक सवाल, मास्टर की नजर बचाकर, लिखा रहा था। उन्होंने मेरी यह हरकत देखली। उस पर्चे मे हम दोनो को फेल तो किया ही, पॉच-पॉच बेंत की सज़ा भी दी।

सेकण्ड मास्टर थे हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार स्व० लाला भगवानदीन। अंग्रेजी की पहली पोथी लालाजी से ही मैंने उनके घर पर पढ़ी थी। लालाजी के काशी चले जाने के बाद उनके पट्टशिष्य बाबू गोविन्ददास सेकण्ड मास्टर बना दिये गये थे। हिन्दी के यह भी ऊँचे कवि और लेखक थे। अपनी किसी-किसी तुकबन्दी का संशोधन मास्टर गोविन्ददासजी से मैं कराया करता था। संस्कृत के प्रधानाध्यापक पं० अनन्तराम शास्त्री थे। शास्त्रीजी के घर पर भी मैं संस्कृत पढने जाया करता था। तीन सर्ग रघुवंश के, पूर्वार्द्ध मेघदूत का और थोडी लघु-कौमुदी, इतना मैंने इनसे पढा था। पंडितराज जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के भी कुछ श्लोक उनसे पढे थे।

अध्यापकों का मैं बहुत भय मानता था। एक पुण्य प्रसंग मुझे आज भी याद आता है। मास्टर दिल्लीपत ने, जब मैं सातवें दरजे में पढता था, छुट्टियो मे घर पर कुछ 'पार्जिङ्ग' (पद-व्याख्या) करने को दिया था। हम तीन लडकों ने पार्जिङ्ग नहीं दिया। मास्टर साहब की बडी डॉट पडी। गुस्से मे कांपते हुए बोले--"कल इन दो पूरे पेजों का

पाजिट करके लाना—अगर न किया तो क्लास से निकाल दिये जाओगे।'

दो पूरे पृष्ठों का क्या मतलब होता है! सैकडो शब्दों की व्याख्या कर लाने का हुक्म मिला था, जिसके पीछे भारी दण्ड का भय था। हम लोग काँप गये। मगर मुहँ से 'ना' कहने की हिम्मत न हुई। रात को आठ घटे, और सवेरे भी दो घटे कलम घिसता रहा, तब कहीं पार पड़ा। देखकर मास्टर साहब ने प्रेम से मेरी पीठ ठोकी। आँखों में उनकी स्नेह के आँसू छलछला आये। मेरे साथी अपराधियों ने भी ज़ोर लगाया था, पर वे एक पृष्ठ से आगे नहीं जा सके। मगर स्नेह-दान पाने में वे भी पीछे नहीं रहे।

अध्यापकों के प्रति केवल भय का ही भाव रहा हो यह बात नहीं, आदर भी उनका हम लोग काफी करते थे। विद्या से विनय प्राप्त होती है और विनय से विद्या, इस स्वर्ण-सूत्र को क्या अच्छा हो कि प्रत्येक विद्यार्थी जीवन में सदा अपने सामने रखे। 'स्वाभिमान' शब्द का आज बहुत पाठ किया जाता है, लेकिन गलती से 'औद्धत्य' को स्वाभिमान मान लिया गया है। विद्यार्थी को इस दुष्ट मान्यता से बचना चाहिए। स्वाभिमान तो विनय का दूसरा नाम है। मैं तो 'स्व' का अर्थ आत्मा या समस्त सद्गुण लगाता हूँ। 'अभि' का अर्थ सम्पूर्ण और 'मान' का अर्थ आदरभाव—अर्थात् सद्गुणों के प्रति सपूर्ण आदरभाव। हृदय के इस उदात्त भाव को ही विनय या शील का नाम दिया गया है। विद्या की साधना ही जिसका एकमात्र अर्थ है वह विनययुक्त न हो यह कैसे हो सकता है? ज्ञान का साधक विनयी न होगा, तो फिर कौन होगा?

उस युग मे हमारे स्कूल में हाकी, क्रिकेट या फुटबाल के यह विलायती खेल दाखिल नहीं हुए थे। सिर्फ कवायद कराई जाती थी। पर मैं उससे भी बचता था। न जाने क्यों अच्छी नहीं लगती थी। क़वायद का महत्व तो बहुत पीछे समझ मे आया। हरेक विद्यार्थी के लिए क़वायद, बल्कि फौजी कवायद, आवश्यक होनी चाहिए। मुझे कसरत करने का शौक था। खूब दंड-बैठक लगाता था। मुगदर की जोडी भी घुमाता था।

गरीब कस्बे के विद्यार्थियों को केवल पढने का शौक़ था। हमारे ज़माने में वहाँ न फैशन था, न सिनेमा। हमने सिनेमा का नाम भी नहीं सुना था। बायस्कोप तब झाँसीतक पहुंच पाया था। सिनेमा की यह बीमारी तो शायद छतरपुर में अब भी नहीं पहुंच पाई। उच्च अधिकारियो के दो-चार लडके कपडे बेशक कुछ अच्छे पहनते थे। शौक या व्यसन में फंसने-फँसाने का हम गरीब विद्यार्थियों के पास कोई साधन भी नहीं था। हमारे पास पैसे कहाँ थे ?

पैसे का मुह तो तब देखा, जब शायद मै मिडिल में पढता था। दरबार से एक रुपया मसिक वजीफा मिलने लगा था। एक-डेढ साल बाद दो रुपये महीने की एक ट्यूशन भी मिल गई थी। उससे कागज़-क़लम व पढाई का साधारण खर्च चलता था। अच्छी-अच्छी किताबें खरीदने की इच्छा अवश्य होती थी, पर उसका पूरा होना मुश्किल था। कुछ पुराने सूचीपत्रो का सग्रह कर रखा था। उनपर अक्सर निशान लगाया करता कि कौन-कौन पुस्तकें वी० पी० से मँगानी हैं। पर कीमत जोडने बैठता तो मीजान दस-बारह रुपयेतक पहुँचता।

इतना रुपया कहां जुटा सकता था ? दरिद्र के मनोरथ का पूरा होना कठिन था। मेरे कुछ साथियों ने एक बाल-पुस्तकालय खोला था। पर मैं उसका भी सदस्य नहीं बन सकता था, क्योंकि चन्दा उसका दो आना मासिक रखा गया था। निःशुल्क पुस्तकालय तो 'सरस्वती-सदन' था, जिसकी स्थापना लाला भगवानदीन ने की थी। अपनी पढने की प्यास मैं वहीं जाकर बुझाता था।

फिर भी, मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मैं एक ग़रीब घर का विद्यार्थी हूं। मेरे साथ ऐसे भी कुछ लडके पढते थे, जिनके पास कोर्स की भी पूरी किताबें नहीं थीं। एक-दो साथी मेरी किताबों से काम चलाते थे। किताबें उन्हें मैं इस शर्त पर देता था कि उनके पन्ने न मोडें, मैली न करें और समय पर लौटा दें।

मुझे कभी पाठ्य सामग्री का अभाव नहीं खटका। किताबें पूरी थीं। बिना दराज का एक डेस्क भी था। तीन रुपये की एक छोटी-सी आलमारी भी खरीद ली थी। उसमें मेरे पास जो दस-बीस किताबें थीं उनको बडे प्रेम से सजाकर रख छोडा था। अपनी पढने की कोठरी में महापुरुषों की कुछ सूक्तियाँ भी सुन्दर अक्षरों में लिखकर टॉग दी थीं। और उस कोठरी का नाम मैंने 'प्रेम-निकेतन' रख लिया था।

व्यर्थ का एक व्यसन मुझे निस्सन्देह विद्यार्थी अवस्था में लग गया था। उसमें पैसा-टका खर्च नहीं होता था। वह व्यसन था कविता—कविता क्या, कुछ तुकबन्दियां लिखने का। पैसे से भी अधिक मूल्यवान समय तो उसमें मेरा खर्च होता ही था। मेरी कविता के प्रशंसक हमारे पडोसी लाला चिन्ताहरण और छक्कीलालजी थे। मेरे मित्र

भवानीप्रसादजी पटेरया भी दाद दिया करते थे। छक्कीलालजी की बैठक में रात्रि को रामायण की कथा कहा करता, और श्रोताओं को नित्य अपनी एक नई रचना भी सुनाता। पर नाना को मेरा यह काव्य-व्यसन पसन्द नहीं था। उन्हें डर था कि इसकी पढ़ाई में इससे बाधा पहुँचेगी, और परीक्षा मे यह ज़रूर फ़ेल हो जायगा। लेकिन चस्का लग चुका था। नशा चढ़ चुका था, उतरना अब मुश्किल था। यह अनुभव तो बाद को हुआ कि विद्यार्थी को विद्या-व्यसनी ही होना चाहिए, दूसरे व्यर्थ के व्यसनो में वह क्यो पड़े ? तब का लगा हुआ यह व्यसन आयु के सैंतीसवे वर्ष मे जाकर छूट सका। इसे भी गनीमत समझता हूँ।

: ५ :

रग में भंग

सन् १६१४ मे मैंने मैट्रिक पास किया। आगे और पढने या बढ़ने का वहाँ कुछ भी साधन नहीं था। कालेज मे पढने का मन में विचार भी नहीं आया। वहाँ के लिए तो यही आखिरी मज़िल थी। मैट्रिक-पास को दस-बारह रुपये माहवार की नौकरी, कोशिश करने पर, मिल जाती थी। अच्छी सिफारिश पहुँच गई, तो पन्द्रह-बीस रुपये की नौकरी भी राज्य में मिल सकती थी। लेकिन कई महकमों मे ऊपर की आय अच्छी होजाती थी।

मेरे मित्र छक्कीलालजी, एक अच्छे प्रतिष्ठित घराने के होने के कारण, मदरसों के इन्सपेक्टर नियुक्त कर दिये गये थे। उन्नीस रुपये उनकी तनख्वाह थी और पाँच रुपये घोड़ी के भत्ते के मिलते थे। घर में उनके चाँदी-सोने का व्यापार होता था। खासा सम्पन्न घराना था। व्यापार में हाथ डाला होता, तो उन्हे उसमे अच्छी सफलता मिल सकती थी। मगर दूकान पर बैठना शान के खिलाफ समझते थे। सेठ की अपेक्षा 'बाबू' कहलाने मे वह अधिक गौरव अनुभव करते थे। फिर सवारी के लिए घोड़ी, और चार रुपये माहवार का पट्टेदार अर्दली, इससे उनकी वश-प्रतिष्ठा, उनकी दृष्टि मे, और भी बढ़ गई थी।

प्रयत्न करने पर दस रुपये माहवार की नौकरी मुझे भी वहाँ मिल सकती थी। उन दिनों दीवान का पद हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प० शुकदेवबिहारी मिश्र सुशोभित कर रहे थे। मेरी काव्य-रचनाओं की खबर उनके कानोंतक पहुंच चुकी थी। दीवान साहब ने कृपाकर एक दिन मुझे अपने बंगले पर बुलाया। उन दिनों राज-काज के साथ-साथ 'मिश्रबन्धु-विनोद' का संपादन कार्य भी चल रहा था। मुझसे कहा—"मैं अपने साथ तुम्हें दौरे पर लेजाना चाहता हूँ। तुमसे वहाँ कुछ 'मिश्रबन्धु-विनोद' का काम कराऊँगा। वेतन तुम्हें अपने पास से बारह रुपये मासिक दूँगा। यह काम तीन या चार महीने में समाप्त हो जायेगा। बोलो, तैयार हो ?"

"और उसके बाद ?" मैंने डरते-डरते पूछा।

"कोशिश करके फिर कहीं दूसरा काम तलाश लेना।"

"लेकिन मुझे यह काम पसन्द नहीं।" मैंने साफ़ इन्कार कर दिया।

"तो जाओ।"

जब मैं कमरे से बाहर निकला, तो पेशकार ने, जो मेरे हितचिन्तक थे, लानत-मलामत करते हुए कहा—"तुम निकले वही निरे बुद्धू ! इतने बड़े अफसर की सेवा बड़े भाग्य से मिलती है। घर आई लक्ष्मी तुमने ठुकरादी। और तुम्हें तहज़ीब से बोलना भी तो नहीं आता। बातचीत के सिलसिले में दीवान साहब को एक बार भी तुमने 'हुजूर' न कहा। हमारे मिश्रजी महाराज तो देवता हैं। वह ऐसी बातों का खयाल नहीं किया करते। कोई और दीवान होता तो तुम्हें आज इस बदतमीज़ी का मज़ा मिल जाता।"

'मैं क्यों किसीको 'हुजूर' कहूं ? यह कोई बदतमीज़ी नहीं है। रहने दीजिए आप अपना यह उपदेश ।'' मुझे गुस्सा आगया । पेशकार की समझ में नहीं आरहा था कि अगर मैं सामने पड़ी हुई कुर्सी पर जाकर बैठ गया तो मैंने कोई बेअदबी नहीं की । घरवालों को भी मेरी इस बुद्धिहीनता पर बहुत बुरा लगा। कल्पवृक्ष के पास से इस तरह मेरा रिक्तहस्त लौटना सचमुच मेरी भाग्यहीनता का द्योतक था ।

खुशामद करना मुझे यूँ भी पसन्द नहीं था, फिर स्वतन्त्र विचारों की हवा भी कुछ-कुछ लग चुकी थी । जब मैं दसवें दरजे में पढ़ता था, उन दिनों यूरोप का महासमर बड़े जोर से छिड़ा हुआ था। हमारे मोहल्ले में एक सज्जन साप्ताहिक 'हिन्दी बंगवासी' मँगाया करते थे । उसे मैं नियम से पढ़ता था । रात को मैं ऊँचे स्वर से उसका एक-एक अक्षर पढ़ता और मोहल्ले-भर के लोग बड़े ध्यान से लड़ाई की खबरें सुना करते । एक वृद्ध पंडितजी भी कभी-कभी हमारी मण्डली में आकर बैठ जाते थे । उन्हें विज्ञान के नये-नये आविष्कारों और चमत्कारों पर विश्वास नहीं होता था । उनकी जिह्वा पर रामायण और महाभारत के ही योद्धा और शस्त्रास्त्र सदा रहते थे। वायुयान उस युद्ध में इतनी बड़ी-बड़ी करामातें नहीं दिखा सके थे । पंडितजी यदि आज जीवित होते, और उड़न बमों और परमाणु-बमों की कथाएँ उनके सामने आई होतीं, तो भी शायद वह विश्वास न करते । मैं नास्तिक था, जो त्रिजटा राक्षसी के वंशज (पंडितजी का ऐसा ही विश्वास था) अँग्रेज़ों या जर्मनों की विज्ञान-विद्या का उनके आगे नित्य गुण-गान किया करता था ! संसार में कहाँ क्या हो रहा है, इसका

मुझे पहले कुछ भी पता नहीं था। 'हिन्दी बंगवासी' ने दुनिया की कितनी ही नई चीज़ों और घटनाओं से मेरा परिचय करा दिया। अपने यहाँ से मिलान किया तो पृथ्वी-आकाश का अन्तर पाया। कूप-मण्डूक का संसार अब बड़ी तेज़ी से विलीन होने लगा। मन बड़े विस्मय में पड़ गया। चित्त अपनी पूर्व सृष्टि से उचटने-सा लगा, किसी और दिशा की ओर खिंचने लगा। अपने मनोरम नगर का नक्शा अब पहले के जैसा नहीं रहा। मगर नहीं, तत्त्वत वह कुछ बदला नहीं था। सब कुछ वही का-वही था। दोष तो, असल में, मेरी दृष्टि में आगया था। अपने नगर के 'सम्पन्न' और 'पठित' दरिद्रों के बीच रहना मुझे अब-घड़ी-घड़ी व्याकुल कर रहा था। यहाँ, 'सम्पन्न' और 'पठित' दरिद्रों का अर्थ खोल देना आवश्यक है।

एक ज़माना था, जब हमारा छतरपुर एक खासा सम्पन्न नगर माना जाता था। यह शायद सौ साल पहले की बात है। पर अब तो उसकी गिरती के दिन थे। लखपती मिट चुके थे, उनके सिर्फ़ क़िस्से चलते थे। हवेलियाँ खाली पड़ी थीं। जिस हवेली मे कभी रुपये तुला करते थे, उसके दरवाज़ो मे से लोग किवाड़ और चौखटेंतक निकाल ले गये थे। जिनके बड़े-बड़े साके सुनने में आते थे कि व्याह-शादियों की ज्योंनार मे घी की धार तोड़कर नहीं परोसते थे, भले ही फर्श पर घी की कीच मच जाये, उनके वंशधरो का कहीं पता भी नहीं चलता था। हमारे पड़ोसी मिश्रजी के घर मे भी लक्ष्मीजी उनकी महाकृपणता से रूठकर चली गई थीं।

दो-चार अब वहाँ जो साधारण-से धनवान रह गये थे, वे पूरे मूँजी

थे। न उन्हें खाने का स्वाद था, न पहनने का। उनके धन का कुछ भी उपयोग नहीं होरहा था। स्वेच्छा से अथवा अपने दुर्भाग्य से उन धनिकों ने दरिद्रों का रहन-सहन अख्तियार कर रखा था। रुपये को ज़मीन में गाड रखना ही उनका परम ध्येय था। उनका धन हमारी ईर्ष्या का विषय नहीं बन सकता था। उनकी हद दरजे की कृपणता देख-देखकर हँसी ही आती थी। रुपया होते हुए भी रूखा-सूखा खाते थे, मैले चीथडे पहनते थे। मेरी दृष्टि मे वे 'सम्पन्न दरिद्र' थे।

और 'पठित दरिद्रो' की भी वैसी ही दशा थी। मेरा आशय उन लोगो से है, जो शिक्षित तो थे, जिन्होंने पुस्तकें पढ-पढ़कर ज्ञान का कुछ सचय तो कर लिया था, पर उसका उपयोग वे कुछ भी नहीं कर रहे थे। उनमें और दूसरी अपढ़ प्रजा मे कुछ भी अन्तर नही था। वे पठित कूप-मण्डूक थे। उनका भी रहन-सहन खास कुछ बदला नहीं था। बौद्धिक घेरा उनका बिलकुल सिकुड गया था। उनके मुकाबिले, बल्कि अपढ़ लोगों में मुझे कुछ अधिक सहानुभूति व उदारता दिखाई देती थी। न तो उन धनिकों से कुछ प्रेरणा मिलती थी, और न इन शिक्षितो से। दोनों ही मानों 'अजागला-स्तन' थे। मै इन दोनो ही प्रकार के 'सम्पन्नो' से कभी प्रभावित नहीं हुआ। कभी ऐसा नही लगा कि मै एक दरिद्र या अनपढ़ घर में पैदा हुआ हूँ, और उनके जैसा बनने का मैं भी प्रयत्न करूँ। वे सब 'बडे आदमी' अलबत्ता कहे जाते थे। पर मैं हैरान था, कि उनके अदर आखिर ऐसा क्या है, जिससे कि लोग उन्हे 'बडे आदमी' कहते है। इस तरह का कुछ कुछ विचार-सघर्ष उन दिनो भी मेरे अन्दर चला करता था। बाद को तो उन बडो के प्रति उपेक्षा के

बदले अंदर-अंदर एक प्रकार की विद्रोह-भावना उठने लगी। सोचा करता कि न तो इन धनिकों के पैसे का ही कोई अर्थ या उपयोग होरहा है, और न उन शिक्षितों के यत्किंचित् ज्ञान-संचय का ही। प्रजा का उत्पीड़न इन 'बड़ों' के अस्तित्व से ज़रा भी कम नहीं हुआ, बल्कि कुछ बढ़ा ही है। जीवन में यहीं से संघर्ष ने जड़ पकड़ी।

मैट्रिक की परीक्षा देने हम नौ या दस विद्यार्थी नौगाँव छावनी गये हुए थे। रजवाड़ों की दृष्टि में नौगाँव छावनी का तब भारी महत्व था। नौगाँव पोलिटिकल एजेंट का सदरमुकाम था, लगभग सभी छोटी-बड़ी रियासतों के वहाँ शानदार बँगले थे, और अमन क़ायम रखने के लिए अँग्रेजी फौज भी वहाँ रहती थी। छतरपुर के बंगले में हम सब परीक्षार्थियों को ठहराया गया था। साथ मे हमारे एक मास्टर साहब भी थे। मेरी माँ ने कलेवा के लिए बेसन के लड्डू बनाकर साथ में बाँध दिये थे। परीक्षा तो दी, परचे भी ठीक किये, पर मन वहाँ लग नहीं रहा था। चित्त हमेशा अशांत रहता था। ऐसा लगता था कि सामने पहाड़-जैसी डरावनी दीवार खड़ी है और पीछे से मुझे कोई धक्का देरहा है। पहाड़ की बड़ी-बड़ी काली शिलाएँ टूट-टूटकर मेरे सिर पर गिरनेवाली हैं। मेरी एक भी हड्डी-पसली नहीं बचेगी, फिर भी मुझे उस दीवार की तरफ ढकेला जा रहा है। कल्पना की भयावनी दीवार पर कुछ मूर्तियाँ भी दिखाई देती थीं, जो मुझे मोहित करने का प्रयत्न कर रही थीं। मेरे साथ के विद्यार्थी तो रात को रोज़ परीक्षा की तैयारी किया करते, और मै कोमल-कठोर कल्पनाओ मे उलझता रहता था। घर पर जो मेरे विवाह की तैयारी होरही थी उसीकी विचित्र

कल्पना ने मुझे बुरी तरह उलझा रखा था।

सवेरे रेखा-गणित का परचा करना था, पर रात को मैं अपने भविष्य की अस्पष्ट रेखाएँ खींचने में व्यस्त था। अन्त में आधी रात को विवाह-बन्धन में न पडने का निश्चय कर डाला। तर्क-वितर्क में नहीं पडा, या पडना चाहता नहीं था, अथवा तर्क-वितर्क में पडना तब मुझे आता नहीं था। रात को तीन बजे अपने मित्र छबीलालजी को एक संक्षिप्त पत्र लिखा, और उसके द्वारा घर के लोगों को अपने निश्चय की सूचना भेजदी। पत्र में थोडी धमकी भी दी थी। यह कि, अगर वे लोग ज़िद करेंगे, तो परिणाम अच्छा नहीं होगा, बाद मे उन्हे बहुत पछताना पडेगा।

परीक्षा समाप्त हुई और मैं घर वापस आया। सारा दृश्य बदल गया था। मेरे उस छोटे-से पत्र ने वज्रपात का काम किया था। सारी तैयारी सहसा बन्द होगई। अब न वे मंगल-गीत थे, न वह आनन्द-उल्लास। रो-रोकर सब मुझे समझाते थे। पर मैं अपने निश्चय से डिगा नहीं। काफ़ी कठोर बन गया। विवाह के पक्ष या विपक्ष की दलीलों में नहीं उतरा। चुपचाप सबकी सुन लेता था। एक 'नकार' की शरण ले रखी थी। विवाह के पक्ष में तब इतना ही तर्क मेरे पास था: "गृहस्थ-जीवन भारी झंझट का है। पडौस के और खुद अपने घर के ही लोग सुखी कहाँ हैं? घर में नित्य कितना कलह मचा रहता है। कौन झंझट मोल ले? क्यों न पहले से ही 'सावधान' होजाऊँ? जान-बूझकर क्यों इस मोह-भरे दलदल में धँसूँ?" विवाह के पक्ष में जो युक्तिपूर्ण और पुष्ट दलीलें हैं उनकी ओर ध्यान नहीं दिया था। समर्थ रामदास स्वामी

का उन दिनों जीवन-चरित पढ़ा था। याद पड़ता है कि विवाह-बन्धन में न पड़ने की तात्कालिक प्रेरणा समर्थ स्वामी की जीवनी से ही मुझे मिली थी।

एक पहाड़-जैसी दीवार से तो बचने का प्रयत्न किया, पर जिस ओर मुड़ा, वहाँ भी सामने दीवार ही पाई और वह दीवार कुछ मोम की बनी नहीं थी। वह मामूली चट्टानों की नहीं, वज्र की थी। मेरा वह निश्चय, जैसा कि मैंने तब समझ रखा था, वैसा आसान साबित नहीं हुआ। लड़ते-झगड़ते मैं चूर-चूर होगया। प्रयत्न करते हुए भी विषय-विकारों से पार न पा सका। संकल्प सदा दुर्बल रहा। पर ईश्वर की कृपा का आसरा नहीं छोड़ा। अपने किये पर पछताया भी नहीं। स्वजनों को भले ही निर्दयतापूर्वक रुलाया, पर खुद नहीं रोया।

: ६ :

नया संसार

मेरे जिस निश्चय के पीछे न गहरी विवेक-बुद्धि थी, न कोई ऊँचा उद्देश, उसने लोगो मे एक भारी भ्रम फैला दिया। जहाँ-तहाँ मेरे 'त्याग' का गुण-गान होने लगा। गनीमत थी कि मै उनके भुलावे में आया नहीं। वह मेरा कोई त्याग नहीं था। पर जब दूसरा रास्ता पकड़ लिया, तब कैसे भी हो, मन को कुछ न-कुछ तो उस ओर मोड़ना ही चाहिए था। वैराग्य विषय की जो भी पुस्तक हाथ लगती, बड़ी श्रद्धा मे पढ़ डालता। पढ़ने-सुनने मे तो ज्ञान-वैराग्य बड़ा अच्छा लगता, पर उसे आचरण मे कुछ भी उतारना पहाड़-जैसा मालूम देता था।

स्व० महाराजा विश्वनाथसिंह के चचेरे भाई ठाकुर जुझारसिंह से मेरी घनिष्ठ मित्रता होगई थी। उनके संपर्क से काफ़ी लाभ हुआ। ठाकुर साहब का अपना एक छोटा सा पुस्तकालय था। विवेकानन्द और राम-तीर्थ का लगभग सारा साहित्य उनके पुस्तकालय से लेकर पढ़ डाला। फलत चित्तवृत्ति वैराग्य की ओर झुकने लगी। चाहता भी मै यही था। पर वैराग्य-निधि हाथ लगी नहीं। अब मै एक विचित्र-से मनो-राज्य मे जा पहुंचा। स्वामी रामतीर्थ के दिव्यउद्गारों मे प्रेरित होकर हिमालय-प्रवास के शुभ्र स्वप्न देखने लगा। उसी साल,—शायद १९१६

से—ठाकुर साहब के साथ चित्रकूट, प्रयाग, काशी, गया और जगन्नाथ-पुरी की यात्राएँ भी कीं, किन्तु इन यात्राओं मे जितना ज्ञान बढ़ा उससे कही अधिक मेरा मिथ्या अहकार बढ़ा।

उन दिनों की मेरी दिनचर्या प्राय. यह रहती थी —

सवेरे के दो तीन घटे पूजा पाठ मे जाते, फिर खाना खाकर या तो यूँही इधर-उधर घूमने निकल जाता, या कोई कविता लिखने बैठ जाता। शाम को नित्य नियमपूर्वक हनुमानूजी की टोरिया (टेकरी) पर घूमने चला जाता। मेरे पाँच-सात साथी वहाँ जमा होजाते थे। टोरिया पर हमारा अपना अखाडा भी था। हम लोग कसरत करते और कुश्ती भी लडते थे। फिर एकाध घटा सत्सग होता था। समय हमारा आनन्द में कटता था।

हनुमानूजी की टोरिया को मैं कभी भूल नहीं सकता। बडा भव्य स्थान है। मंदिर से लेकर नीचेतक पक्की सीढियाँ बनी हुई हैं। खासी चढाई है। चढती उम्र के जोश मे मै दौडता हुआ चढ़ता और उतरता भी उसी तरह खूब सरपट था। पर इस लडकपन का एक दिन मुझे पूरा फल चखने को मिल गया। पैर चूका और बहुत बुरी तरह लुढ़कते-लुढकते नीचे आया। एक हाथ मे लम्बी लाठी थी, दूसरे में कुछ किताबें। इसलिए सँभल नहीं सका। काफी चोट आई। आधे से अधिक दाँत हिल गये। मुँह से बहुत खून आया। पर बेहोश नही हुआ। दो महीनेतक चारपाई सेता रहा। मुँह के अन्दर बडी मुश्किल से पाव-डेढ पाव दूध जाता था। उस भारी यन्त्रणा को मैं कभी भूलने का नहीं।

रात को रोज़ तीन-चार घटे ठाकुर जुझारसिहजी के डेरे पर बैठक

जमती थी। हम लोग विविध विषयों पर चर्चा करते थे। कुछ मित्र शतरंज के खेल में व्यस्त रहते थे। बुन्देलखंड के अज्ञात इतिहास-लेखक स्व० दीवान प्रतिपालसिहजी को शतरज और चौसर खेलने का बड़ा शौक़ था। अकेले ही, बग़ैर किसी बाहरी मदद के, उन्होंने बुन्देल-खंड का बृहत्काय इतिहास बड़े परिश्रम से तैयार किया था। अर्थाभाव के कारण वे उसे प्रकाशित न करा सके। किसी संस्था से भी उन्हें प्रोत्साहन न मिला। उस इतिहास का केवल प्रारंभिक भाग लाला भगवानदीनजी ने काशी से प्रकाशित कराया था। इतिहास तथा पुरा-तत्त्वशोध के दीवान प्रतिपालसिंह एक ऊँचे विद्वान् थे। मगर उनकी वहाँ क़द्र न हुई—प्रकाश मे न आ सके। चिराग बन्द अँधेरी कोठरी में ही गुल होगया। पता नहीं, उन बड़ी-बड़ी हस्तलिखित जिल्दों का फिर क्या हुआ। दीवान प्रतिपालसिह राज-काज भी करते थे, और साहित्यिक कार्यों के लिए भी काफ़ी समय निकाल लेते थे। थक जाते तो हमारी बैठक मे शतरज खेलने आजाते थे। एक खेल और हुआ करता था, जिसमें शायद ९६ गोल पत्ते रहते थे। उस खेल का नाम याद नहीं आ रहा है। खेल एक भी मेरी समझ मे न आता था। समझने की कुछ कोशिश भी की, पर दिमाग आगे चला नहीं।

हाँ, तो जितना किताबी ज्ञान बढा, उससे कहीं अधिक मेरा अहंकार बढ़ा। अपने को अब मैं उस वातावरण के उपयुक्त नहीं समझ रहा था। कवि तो मै था ही, विद्वान् भी अब अपने को मानने लगा। बेकार बैठा-बैठा बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाया करता। जैसे, हिमालय के किसी एकान्त स्थान में जाकर बैठूँगा। वहाँ एक आश्रम बनाऊँगा। आश्रम

का आदर्श स्वामी रामतीर्थ का रखूँगा। एक मासिक पत्र भी वहाँ से निकालूँगा। नही, अभी वेदान्त के चक्कर मे न पडूँगा। पहले तो इन अन्धकूप-जैसे रजवाडो की प्रजा को किसी तरह जगाना है। तत्काल तो राजनीतिक जागरण की आवश्यकता है। तो सब से पहले मुझे प्रजा-पक्ष का एक आग उगलनेवाला अखबार निकालना चाहिए। उसे झाँसी से निकालूँ या इलाहाबाद से? इलाहाबाद जँचता है। सुनता हूँ कि वहाँ पत्र-प्रकाशन के साधन बडे अच्छे हैं। पर इन सब कामों के लिए मेरे पास रुपया कहाँ है? यह पिशाचिनी अर्थ-चिन्ता मेरे सारे सुनहरे स्वप्नो को भग कर देती थी। निठल्ला बैठा-बैठा और भी न जाने क्या-क्या सोचता रहता था। नौन-तेल जुटाने की फ़िक्र तो कुछ थी नहीं। रोटी दोनो वक्त बिना हाथ-पैर हिलाये मिल ही जाती थी। घर के लोग अब मुझे नौकरी करने के लिए भी नही उकसाते थे। पर मेरी चित्त-वृत्ति जैसी बनती जारही थी, उसकी ज़रूर उन्हे कुछ चिन्ता थी।

एक दिन एक ऐसा सयोग आगया, जिससे मेरी डावाँडोल नाव को एक निश्चित दिशा मिल गई। वह पुण्य प्रसग निस्सन्देह मेरे किसी पूर्व सुकृत का सुफल था। छतरपुर-नरेश स्व० विश्वनाथसिहजी की बडी महारानी श्रीमती कमलकुमारी देवी ने मुझे अचानक एक दिन बुलवाया, और कुछ ही दिनो मे मै उनका स्नेह-भाजन बन गया। उनके निश्छल वात्सल्य को जीवन में कभी भूल सकता हूँ? उनकी ज्वलन्त धर्म-श्रद्धा और तपोनिष्ठ आध्यात्मिक जीवन ने मेरी विशृखल विचार-धारा को एक निश्चित दिशा बता दी। मेरी वे, वास्तव में, धर्म-माता थी। उन्हे मैंने अपने जीवन में 'जननी' से भी अधिक आदर

दिया है। उनके विषय में कुछ विस्तार से किसी अगले प्रकरण मे लिखूँगा। उनके साथ कई बार भारत के विभिन्न भागों की यात्राएँ करने और नये-नये अनुभव बढाने का मुझे बडा सुन्दर अवसर मिला।

प्रवास के लिए तो मैं कभी से लालायित बैठा था। सो वह सुयोग अपने आप आ गया। अनेक नये-नये स्थान अनायास देखने को मिले। दक्षिण भारत का दर्शन पहली बार किया। कृतकृत्य होगया। उस प्रवास में तीर्थदृष्टि ही मुख्य थी। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो का काफ़ी निकट से परिचय हुआ। चित्त उन दिनो शकाशील नहीं था। सामान्य श्रद्धा से ही सब जगह काम लेता था। अथवा, उस अपूर्व सत्संग ने मन को अश्रद्धा की ओर जाने का अवसर ही नही दिया।

उन लम्बी तीर्थ-यात्राओं से वापस लौटा, तब घर की आर्थिक स्थिति काफी गिर चुकी थी। उसी साल, १९१८ के शुरू मे, पूज्य नाना की मृत्यु हुई। उन्होंने 'मगलमरण' पाया। साधारणतया स्वास्थ्य उनका अच्छा था। माघ का महीना था वह। मृत्यु से दो घडी पूर्व सूरदासजी का एक पद गाया, फिर हाथ सेकने के लिए मेरी माँ मे आग जलवाई, और हरिस्मरण करते हुए, बिना किसी कष्ट के, शांतिपूर्वक प्राण त्याग दिये। आश्चर्य-सा होगया। मै बाहर शिवाले पर बैठा तब सवेरे की धूप ले रहा था।

चारों ओर हमारे लिए अब अँधेरा-ही-अँधेरा हो गया। घर की आय कुल सात या आठ रुपये मासिक रह गई। यह रुपया भी पेंशनों से आता था। साल मे साठ-सत्तर रुपये गाँव की जमीन से आजाते थे। छोटे-बडे हम सब आठ प्राणी थे। कल्पनाओं के जो सुनहरे भवन

मैंने खड़े किये थे वे सहसा ढह गये। भयानक वास्तविकताएँ सामने आकर खड़ी होगई। महारानी साहिबा ने बड़ा ज़ोर डाला कि मैं अर्थ-चिन्ता में न पड़ूँ, घर की आर्थिक सहायता वे बराबर करती रहेंगी। पर मैं उनके उज्ज्वल स्नेह को अर्थ-सम्बन्ध से मलिन नहीं करना चाहता था। मैं तो बाहर भाग जाने को तड़फड़ा रहा था। पुस्तकें पढ़ना या एकान्त में बैठकर चिन्तन करना मुझे अब अच्छा नहीं लगता था।

सचमुच मेरा बुरा हाल था। घर की दुर्गति देखी नहीं जाती थी। और, परिवार के मोह से सर्वथा मुक्ति भी नहीं मिल रही थी। सोचता, अगर यहीं कहीं नौकरी करलूँ तो पन्द्रह-बीस रुपये में घर का खर्चा तो अच्छी तरह चल ही सकता है, फिर क्यों जननी-जन्म-भूमि को छोड़ूँ? पर उचटे हुए मन को यहाँ स्थिर कैसे करूँ? यहीं, मोह-पंक में पड़ा सड़ता रहूँ यह तो मेरे लिए एक तरह का 'आत्म-घात' होगा। बाहर एक बार घूम-फिर तो आया हूँ, पर ऐसी कोई जगह ध्यान में नहीं आरही, जहाँ बैठकर किसी काम में लग जाऊँ।

ऐसा लगता था कि पैरों को जैसे किसी अज्ञात शक्ति ने जकड़ रखा हो, यद्यपि पिंजड़े से निकल भागने को मेरी कल्पना के निर्बल पंख बुरी तरह फड़फड़ा रहे थे। उन सुनहरे स्वप्नों का अब कहीं पता भी न था। कहाँ चला गया मेरा वह हिमालय का सुरम्य आश्रम, और क्या हुआ मेरी उन बड़ी-बड़ी योजनाओं का! हाय! मुझ कल्पना-शील वेदान्ती को एक वर्ष में ही, एक ही झटके से, निष्ठुर परिस्थितियों ने बिल्कुल दीन-हीन बना डाला!

हिन्दी-ससार के सुपरिचित विद्वान् बाबू गुलाबरायजी उन दिनो महाराजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। महाराजा को विद्या का बड़ा व्यसन था। पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन-शास्त्रो के स्वय अच्छे ज्ञाता थे। गुलाबरायजी और बाबू भोलानाथजी के साथ नित्य एक-दो घंटे शास्त्र-चर्चा होती थी। गुलाबरायजी ने तब हिन्दी में लिखना शुरू ही किया था। उनसे मेरी अच्छी मित्रता होगई थी। उनके द्वारा आरा के स्व० देवेन्द्रकुमार जैन से मेरा पत्र-व्यवहार हुआ। 'प्रेम-पथिक' नामक मेरी एक छोटी-सी रचना उन्होंने अपने 'प्रेम-मन्दिर' से प्रकाशित की, और इसी सिलसिले मे मुझे १९१८ के अक्तूबर मे इलाहाबाद बुलाया। देवेन्द्रकुमारजी ने बड़ा सुन्दर हृदय पाया था। वह साहित्य-रसिक और कला-प्रेमी व्यक्ति थे। गुलाबरायजी की पहली कृति "फिर निराशा क्यो?" देवेन्द्रकुमारजी ने ही प्रकाशित की थी। प्रकाशन बड़ी सजधज से करते थे। इलाहाबाद में श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास-जी टण्डन से उन्होंने मेरा परिचय कराया था। टण्डनजी ने, प्रथम परिचय मे ही, मुझे खींच लिया। 'सूरसागर' का एक सक्षिप्त सटिप्पण सस्करण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से संपादित करने की चर्चा की, और बड़ी हिचकिचाहट के साथ मैने उस महाकठिन काम को अपने हाथ मे ले लिया। शायद २०) मासिक पर टण्डनजी ने मुझे सम्मेलन में रखा था। मेरे लिए इतना वेतन पर्याप्त था। खर्च तो १२) मे ही चल जाता था। बाक़ी रुपया घर भेज देता था। मुट्ठीगंज में, गोकुलदास तेजपाल की धर्मशाला में, देवेन्द्रकुमारजी ने खास सिफारिश करके मुझे एक कोठरी दिलादी थी। सूरसागर का संपादन-

कार्य टण्डनजी के जान्स्टनगंजवाले मकान में बैठकर किया करता था। मेरे लिए वह बिल्कुल नया संसार था, एक नया ही वायुमण्डल था। खुलकर अच्छी तरह साँस ली। धीरे-धीरे छतरपुर की एक-एक स्मृति ध्यान से उतरने लगी। पर जिस पवित्र मातृ-स्नेह को छोड़कर आया था, उसे न भुला सका।

: ७ :

फिर तीर्थ-यात्राएँ

डोरी अभी कटी नहीं थी। घर के प्रति पहले जो मोह था, वह तो टूट चुका था, किन्तु उस पवित्र स्नेह की डोरी से मै अब भी वैसा ही बँधा हुआ था। इसीलिए, इलाहाबाद मे जमकर बैठ न सका। बीच में तीन या चार बार छतरपुर जाना पडा।

दो और लम्बी-लम्बी तीर्थ-यात्राएँ करने का अवसर मिला। चित्र-कूट, वृन्दावन और हरिद्वार तो यूँ कई बार गया। सबसे पहले मिथिला की चिरस्मरणीय यात्रा को लेता हूँ। इस जनपद के प्रति आज भी मेरे मन में वैसा ही आकर्षण बना हुआ है। तिरहुत के सरल सात्विक सौन्दर्य को भला कभी भूल सकता हूँ? जनकपुर में कोई एक मास हम लोग ठहरे थे। आसपास भी खूब घूमा था। घोडे की सवारी का वहाँ मुझे खासा अच्छा अभ्यास हो गया था। 'धनुषा' मैं घोडे पर ही गया था। बडा रमणीक स्थान था। मिथिला की छोटी-छोटी कमला-विमला नाम की नदियाँ कितनी निर्मल और कितनी सुन्दर थीं! भूमि भी यहाँ की बडी मृदुल है। ग्रामवासियों का स्वभाव भी मैंने भूमि के जैसा ही मृदुल और सरल पाया।

मिथिला की इस तीर्थयात्रा में नवाही के परमहंस बाबा का भी

दर्शन किया था। यह एक पहुँचे हुए महात्मा थे। आयु सौ वर्ष से ऊपर थी। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी स्वभाव उनका बालकों के जैसा सरल और मधुर था। लोकमान्यता उनकी काफ़ी थी, पर उससे वे सदा दूर ही रहे। अच्छे सिद्धपुरुष थे। 'नवाही' उस ग्राम का नाम इसलिए पड़ गया था कि वहाँ बैठकर परमहंसजी ने साधना काल में वाल्मीकि-रामायण के लगातर एक सौ आठ 'नवाह-पारायण' किये थे।

जनकपुर में हम लोग टीकमगढ़ के राजमन्दिर में ठहरे थे। सामने नित्य हाट लगती थी। मिट्टी की छोटी-छोटी हंडियों में गाँवों से दही इतना मीठा और इतना सोंधा बिकने आता था कि उसे कितना ही खायें, तृप्ति न होती थी। मैंने तो जनकपुर के अति स्वादिष्ट दधि को अपना मुख्य आहार ही बना लिया था। एक दिन हम लोगों ने श्रीखंड तैयार कराया। एक बड़े कटोरे में भरकर पड़ौस के मन्दिर में भी हमने कुछ श्रीखंड भेजवाया। पर हमारा प्रेमोपहार वहाँ एक खासे विनोद का कारण बन गया। महन्तजी ने, जो व्याकरण और न्याय के अच्छे विद्वान् थे, उसे केसरिया चन्दन समझा, और अपने प्रशस्त ललाट और वक्षस्थल पर उसका खूब गाढ़ा लेप कर लिया। रूप से ही नहीं, नाम से भी उन्होंने और उनके शिष्यों ने उसे पीत चन्दन ही समझा। चन्दन का एक नाम संस्कृत में 'श्रीखंड' भी है। पर जब वह सूखा नहीं, और शरीर चिपचिप करने लगा, तब विद्वान् महन्त को कुछ शंका हुई कि कहीं यह चन्दन मधु-मिश्रित न हो! जब उन्हें बताया गया कि 'महाराज, यह पीत स्निग्ध पदार्थ आलेप्य कहाँ, आलेह्य है, इस श्रीखंड

का उपयुक्त स्थान आपका ललाट-पटल नहीं, किन्तु जिह्वाग्र और आमाशय है, तब अपने घोर अज्ञान पर वह बडे विस्मित और लज्जित हुए। हम लोग तो श्रीखंड की इस 'श्लेष-लीला' को देखकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

अन्नाहार का त्याग भी मैंने जनकपुर में ही किया था। शायद सन् १९२० में। पूज्य धर्ममाता ने दस ग्यारह वर्ष से फलाहार का नियम ले रखा था। उन्होंने ऐसा तप साधना की दृष्टि से किया था। योग-साधन के लिए फलाहार को वह आवश्यक समझती थीं। उनका तो तप था। किन्तु मेरा वह मूढ़ग्राह था। देखा-देखी हठपूर्वक, बिना कुछ सोचे-समझे, मैंने अन्नदेवता का तिरस्कार किया था। अन्नत्याग में मेरी कोई योगात्मक दृष्टि भी नही थी। प्रयोगो के विषय मे तब मैं कुछ जानता भी न था। अन्नाहार और फलाहार विषयक कोई साहित्य भी नहीं पढ़ा था। अन्न का तो त्याग कर दिया, पर 'रोटी' का नहीं। रोटी सिंघाडे या कूट्टू के आटे की, और कभी-कभी कच्चे केले की खाता था। केले के गूदे की रोटी, और छिलके का साग। चावल भी खाया करता था, परन्तु 'पसई' का, जिसे 'तिन्नी' भी कहते हैं। यह बोया नहीं जाता। बरसात में नालो या तालावों के पास यह अपने आप उगता है। रग इसका लाल होता है। पोषक तत्त्व बहुत कम रहता है। साग-भाजी पर्याप्त मात्रा में लेता था। दूध-दही का कोई खास नियम नहीं रखा था। फल भी खाता था, पर बहुत कम और वह भी सस्ते। इसलिए, सच्चे अर्थ मे, मेरा आहार 'फलाहार' नहीं था। फिर भी जहाँ-तहाँ मेरे इस त्याग की महिमा गाई जाती थी!

लोगो का यह गुण गान मुझे बडा अप्रिय लगता था। प्रवास मे मित्रों को बहुधा मेरे इस व्रत से असुविधा भी होती थी। और कहीं-कहीं तो मुझे भूखा भी रह जाना पडता था। कोई इक्कीस वर्षतक मेरी यह सनक जैसे-तैसे निभी। सौभाग्य से यह मेरा आजीवन व्रत नहीं था। बुद्धिसगत इसका कोई आधार भी नही था। कई बार सोचा कि यह चीज तो अच्छी नहीं। जो नहीं हूँ लोग मुझे वह समझें और मैं चुप-चाप उन्हें वैसा समझने दूँ, यह तो एक प्रवचना ही हुई। फिर ऐसी व्यर्थ की चीज क्यो गले से बाँधे रहूँ ? फलाहारी जीवन से और 'तपस्वी' की उपाधि से जी मेरा ऊब उठा। फलत अपने उस तप को मैंने साहसपूर्वक एक दिन भग कर दिया। अपने आहारयोग से मैं १६४१ में भ्रष्ट हुआ। मन पर से मूढग्राह का एक भारी भार उतर गया। भय था कि कहीं स्वास्थ्य पर इस यकायक परिवर्त्तन का कोई हानिकारक असर न पडे, पर वैसा कुछ भी नही हुआ। स्वास्थ्य जैसा तब था 'योगभ्रष्ट' होने के बाद भी प्राय वैसा ही रहा। हो सकता है कि इसका कारण मेरा वह आहार-विषयक स्वर्ण-नियम हो, जिसका पालन मैं आज लगभग बीस वर्ष से कर रहा हू। वह यह कि पेटभर कभी नहीं खाता, थोडा भूखा ही रहता हूं, भोजन चाहे कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो।

सबसे लम्बी और अतिम तीर्थ-यात्रा हमारी १६२०-२१ के साल की थी। आरम्भ इस यात्रा का चित्रकूट से हुआ था, और अन्त नाथ-द्वारा से लौटते हुए जयपुर में। बडा लम्बा प्रवास था। कोई छह महीने मे हमारा यह भ्रमण समाप्त हुआ था।

चित्रकूट से हम लोग सीधे नासिक गये थे। ब्रह्मगिरि पर गोदावरी का उद्गम-स्थान भी देखा था। बड़ा सुन्दर दृश्य था। नासिक से हम लोग सीधे इलोरा के विश्व-विख्यात गुहा-मन्दिरों को देखने गये। इलोरा जाने का मुख्य उद्देश तो घृष्णेश्वर महादेव का दर्शन करना था। घृष्णेश्वर की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की गई है। दौलताबाद से मिला हुआ यह एक पहाड़ी स्थान है। पहाड़ को खोद-खोदकर उसके अन्दर बड़े सुन्दर मन्दिर बनाये गये हैं। इन गुहा-मन्दिरों का निर्माण-काल ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी माना जाता है। पार्श्वनाथ का मन्दिर अठारहवीं शताब्दी का है। अर्द्धचन्द्राकार पर्वत की दक्षिण भुजा पर बौद्ध-मन्दिर, उत्तर भुजा पर इन्द्र-सभा अथवा जैन-मन्दिर और मध्यभाग में शिव और विष्णु के अनेक मन्दिर बने हुए हैं। इन गुहा-मन्दिरों और मूर्तियों का शिल्प-नैपुण्य देखते ही बनता है। चौबीस खंभों पर खड़ा हुआ विस्तीर्ण बौद्ध-विहार, शिल्प-कला का अद्भुत नमूना कैलास-भवन तथा इन्द्र-सभा और पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर देखकर भारत के उन अमरकीर्ति शिल्पियों के चरणों पर किस कला-प्रेमी का मस्तक न झुक जायेगा। किन्तु तब मेरी कला की दृष्टि नहीं थी। मैं तो मात्र तीर्थ-दृष्टि लेकर इलोरा के महामहिम गुहाद्वार पर पहुंचा था। अब की दक्षिण-यात्रा में हम लोग किष्किन्धा भी गये। तुङ्गभद्रा के तट पर हम एक प्राचीन खंडहर में तीन-चार दिन ठहरे थे। मातंग ऋषि का आश्रम भी देखने गये थे। यहाँ से सीधे पंढरपुर पहुंचे। इस महातीर्थ को महाराष्ट्र का वृन्दावन कहना चाहिए। पर तब महाराष्ट्र के सन्तों के विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था।

तुकाराम और एकनाथ के पावन चरित तो बहुत पीछे पढ़े। वह भी हिन्दी में। इच्छा होते हुए भी मराठी अबतक सीख न सका, इसका मुझे पछतावा है। तुकाराम महाराज के अमृतोपम अभगों का यदि मुझे थोड़ा भी परिचय होता, तो पंढरपुर की पुण्ययात्रा में न जाने कितना आनन्दानुभव हुआ होता। फिर भी चन्द्रभागा का वह सुन्दर तट और विठोबा के मन्दिर का वह सतत हरि-कीर्तन सदा स्मरण रहेगा।

इस बार दक्षिण भारत की प्राकृतिक शोभा और स्थापत्य-कला को देखकर तो मैं स्तब्ध होगया। वेकटाद्रि और नीलगिरि के मनोरम दृश्यों को भला कभी भूल सकता हूँ? गोदावरी, कृष्णा और कावेरी की वह मनोज्ञता आज भी वैसी ही हृदय-पट पर अकित है। और कन्याकुमारी के पुण्य प्रागण में दोनों सागर सहोदरों का वह धीर-गम्भीर सम्मिलन! रामेश्वरम्, मदुरा, तजोर और श्रीरगम् के महान् मन्दिरों की शिल्प-कला का वह अद्भुत वैभव आँखों मे आज भी वैसा ही झूल रहा है। तोताद्रि और उडुपी इन दो आचार्य-पीठों का भी मैंने इसी यात्रा मे दर्शन किया था। तोताद्रि मलबार में है, और उडुपी कन्नड प्रदेश में। तोताद्रि के तत्कालीन रामानुजाचार्य दर्शन के पारगत विद्वान् थे। साथ ही, वह युग के प्रवाह को भी पहचानते थे। विचारों मे सकीर्ण नहीं थे, जैसे प्राय दूसरे धर्माचार्य होते हैं। उडुपी मे श्रीमध्वाचार्य स्वामी का विशाल मठ है। स्थान बड़ा रमणीक है। उन दिनों, जब हम लोग वहाँ गये, कोई महोत्सव हो रहा था। मध्व सप्रदाय के महस्रों अनुयायी दूर-दूर से आये हुए थे। बड़ा सुन्दर समारोह था।

सुन रखा था और इसका हमें डर भी था कि दक्षिण भारत के

भ्रमण मे भाषा की भारी कठिनाई आती है। या तो द्राविडी भाषाओं का थोडा-बहुत ज्ञान होना चाहिए, या फिर राजभाषा अँग्रेजी का। अन्यथा गति ही नहीं। पर जितनी कठिनाई की कल्पना कर रखी थी, उतनी असल में थी नही। तीर्थों के पडे, पुजारी और दूकानदार, हर जगह के, कामचलाऊ हिन्दी समझते और बोलते थे। साधु-सन्त भी सनातन काल से भारत के विभिन्न भागो मे 'एकभाषा' का प्रचार करते चले आरहे हैं। वास्तव मे, यही लोग राष्ट्रभाषा के असली निर्माता है। इन अज्ञात प्रचारको ने 'एकभाषा-निर्माण' का इतना बडा काम किया है, जितना सैंकडो प्रचार-सभाएँ भी न कर पातीं। उन दिनों दक्षिण मे राष्ट्र-कार्य शुरू ही हुआ था। मद्रास मे हिन्दी-प्रचार-सभा का एक छोटा-सा दफ्तर था। मद्रास के शहरो और कस्बो में हमें भाषा-सम्बन्धी कोई खास दिक्कत पेश नहीं आई। हाँ, ग्रामों में जरूर कठिनाई होती थी। वहाँ अँग्रेजी से भी काम नही चलता था। विश्व-भाषा के सच्चे प्रतीक 'सकेत' ही वहाँ काम देते थे। लेकिन कहीं-कहीं हमारे सकेत गडबडी भी पैदा कर देते थे। तिन्नेवली के पास के एक गाँव मे एक दूधवाली को मै समझाना चाहता था कि हमे गाय का दूध चाहिए, क्या वह उसके यहाँ मिल जायेगा? पहले तो गाय की मैंने साकेतिक व्याख्या की। फिर दोनों हाथो से दूध दुहने की क्रिया का सकेत किया। पर वह कुछ और ही समझ बैठी। मेरे सामने, कुएँ के पास, रस्सी लाकर फेंक दी। दूध दुहने के सकेत से उसने गराडी पर से 'पानी खींचने' का अर्थ ले लिया। लोटा तो मेरे हाथ मे था ही। उसके इस अज्ञान पर मैं हँस पडा। मेरी अशिष्टता

पर वह बहुत झल्लाई। अपनी भाषा मे देरतक बडबडाती रही। मैंने तब उसके एक पडोसी को उसी सकेत से अपना भाव समझाया। वह समझ गया, और दूधवाली बहिन को भी मेरी बात समझादी। देवीजी का क्रोध तब कहीं शात हुआ। मेरे लोटे मे दूध दुहकर भर दिया और दाम भी मुझसे उसने उचित ही लिये। और भी ऐसे दो-तीन प्रसग उन यात्राओं मे आये थे, जब भाषा की अनभिज्ञता ने काफ़ी झमेले मे डाल दिया था।

तमिल और मलयाली की कुछ कविताओं का अर्थ जब मुझे बतलाया गया तो उनके भाव सौष्ठव पर मैं मुग्ध होगया। तमिल का साहित्य, सुनता हूँ, बडा समृद्ध है। मेरे मन में हुआ कि सब तो सब भाषाएँ जानने से रहे, क्यों न हिन्दी के कुछ विद्वान अन्य प्रातीय भाषाओं का, खासकर दक्षिण की भाषाओ का, गहरा अध्ययन करके उनके ऊचे साहित्य का शुद्ध भाषान्तर कर डालें ? हम लोग विदेशी भाषाओं में जब पारगत हो सकते है, तब अपने देश की साहित्य-सम्पदा से ही क्यों वचित रहे ? केवल बगला साहित्य का, और वह भी कहानियों और उपन्यासों का ही हिन्दी मे सबसे अधिक अनुवाद हुआ है। दक्षिण की भाषाओं को तो अबतक हमने हाथ भी नही लगाया। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को हाथ मे लेने की यदि हमारी बडी-बड़ी सस्थाओं को फुर्सत नहीं है, तो कुछ व्यक्ति ही क्यो न इस काम को शुरू करदें ? प्राचीन काल के महापुरुषार्थी बौद्ध भिक्षुओ के उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं। उन्होंने अकेले ही तो दूर-दूर के देशों में जाकर भाषा-विनिमय के द्वारा सद्धर्म का प्रचार किया था। क्यों न

हम उन्हीं भिक्षुओं से प्रेरणा ग्रहण करें ?

हमारी इन यात्राओं की पूर्णाहुति नाथद्वारा में हुई। नाथद्वारा की यह दूसरी यात्रा थी। कौन जानता था कि इस यात्रा के पन्द्रह दिन बाद ही मेरी अनन्त स्नेहमयी धर्म-माता 'महायात्रा' की तैयारी कर देंगी।

: ८ :

अब तो प्रयाग ही था

स्नेह की जो लंबी डोरी थी वह कट चुकी थी। सो जन्मभूमि अब सदा के लिए छूट गई। एकमात्र आश्रय-स्थान अब मेरा प्रयाग ही था। 'मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक' थी, वहीं जाकर बैठ गया। सद्गुरु के वियोग से काफ़ी हृदय मन्थन हुआ। वैराग्य-वृत्ति की ओर फिर एक बार चित्त का झुकाव हुआ। किंतु वह वैराग्य-वृत्ति अधिक दिन टिकी नहीं, क्योंकि उसके मूल में ज्ञान की अपेक्षा कोमल भावना ही अधिक थी। हृदय की इसी भक्ति-भावना ने मुझे 'हरिप्रसाद' से 'वियोगी हरि' बना दिया। मेरा यह दूसरा नाम-संस्कार त्रिवेणी के तट पर ठीक २६ वर्ष बाद हुआ—उस दिन संवत् १९७८ की रामनवमी थी।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कृपा-भाजन तो मैं पहले ही बन चुका था। अब सर्वथा 'उसका' ही हो गया। सम्मेलन से भला कभी ऋण-मुक्त हो सकता हूँ? मैं सम्मेलन का हूँ—यह पवित्र अभिमान मुझे सदा सर्वत्र रहेगा। ग्रन्थ-संपादन के साथ-साथ हिन्दी-विद्यापीठ में अध्यापन कार्य भी दिया गया। विद्यापीठ की स्थापना २२ दिसम्बर, १९१८ को हुई थी। उद्घाटन डॉ० भगवानदासजी ने किया था। निमन्त्रण देने काशी मुझे ही भेजा गया था। विद्वद्वर रामदास गौड़

मे तभी मेरा प्रथम परिचय हुआ था, जो धीरे-धीरे घनिष्ठ मैत्री में परिणत हो गया। उद्घाटन-भाषण बाबू भगवानदासजी का बड़ा विद्वत्ता-पूर्ण हुआ था। विद्यापीठ खोलने का उद्देश यह था कि, "यह केवल साहित्य-शिक्षा का ही केन्द्र न हो, किन्तु साथ ही ऐसा हो कि इससे निकले हुए विद्यार्थी पेट भरने के लिए पराधीन न रहें। ऐसे कला-कौशल भी साथ-साथ सिखाये जायें, जिससे विद्यार्थियो का नित्य का व्यय ही नहीं, विद्यापीठ के भी समस्त व्यय का निर्वाह होता रहे।" आचार्य-पद सस्कृत एव हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर विद्वान् पडित चन्द्र-शेखर शास्त्री को दिया गया था। उद्घाटन के बाद ही प्रयाग मे मैं तीर्थ-यात्राओं पर चला गया।

विद्यापीठ हमारा अब बड़ा अच्छा चल रहा था। किन्तु केवल साहित्य-शिक्षण ही उसमें दिया जाता था। कला-कौशल सिखाने की योजना अभी व्यवहार में नहीं आ सकी थी। टण्डनजी भूमि की तलाश मे थे। कृषि तथा उद्योग सिखाने का काम शहर से बाहर ही हो सकता था।

सम्पादन और अध्यापन का वेतन सम्मेलन से मुझे ४०) मासिक मिलता था। यह वेतन मेरे लिए बहुत अधिक था। कुछ दिनो बाद माँ को तथा ममेरे भाई लक्ष्मण को भी प्रयाग बुला लिया। गृहस्थी जमा तो ली, पर मै तो फिर भी उससे अलग ही रहा। ये लोग मुट्ठीगज मे रहते थे और मैं ढाई मील दूर जान्स्टनगज मे।

सन् १९२४ तक मैं प्रयाग में ही रहा। इस बीच में अनेक साहित्य-सेवियों से निकट का परिचय हुआ। सद्भाग्य से कई सत्पुरुषों का कृपा-पात्र बना और कई विद्यार्थियों को अपना स्नेह-भाजन बनाया।

कितने ही सुखद संस्मरण हैं, किस-किसका उल्लेख करूँ ?

सम्मेलन से संबंध तो मेरा इतना पुराना है, पर उसके अधिवेशनों में अधिक बार सम्मिलित नहीं हुआ। सिर्फ तीन अधिवेशनों में गया था। सबसे पहले, १९२० में, पटनावाले दसवें अधिवेशन में शामिल हुआ था। सभापति मध्यप्रांत के यशस्वी राजनेता पंडित विष्णुदत्त शुक्ल थे। टण्डनजी ने मुझे तथा अपने सबसे बडे पुत्र स्वामीप्रसादजी को भाषणों की संक्षिप्त रिपोर्ट लेने का काम सौंपा था। डरते-डरते हमने इतने बडे उत्तरदायित्व के काम को हाथ में लिया। हम लोगों को संकेत-लिपि का ज्ञान तो था नहीं, हाँ, तेज लिखने का अभ्यास अवश्य था। फिर भी हम ठीक-ठीक लिख न सके। भाषणों की सही रिपोर्ट एक दूसरे सज्जन ने ली। श्रीदेवदास गाधी को मैंने सबसे पहले वहीं पटना के अधिवेशन में देखा था। शायद तब वे मद्रास से लौटे थे। पू० महात्माजी ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचारक बनाकर उन्हे मद्रास भेजा था। अधिवेशन के अन्तिम दिन हम लोग गंगा-स्नान करने चले गये थे। वहीं, गंगा के तट पर देवदासजी से, जहाँतक मुझेस्मरण है, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ने हमारा परिचय कराया था। नहा-धोकर हम लोग जब खडे-खडे गप-शप लडा रहे थे, तबतक उधर देवदास भाई ने तीन-चार सम्मान्य साहित्य-सेवियों के गीले वस्त्र फुर्ती से धोकर सुखाने के लिए नावों पर फैला दिये थे। उनकी उस सेवा भावना को देखकर हम लोग अत्यन्त प्रभावित हुए थे।

तेरहवाँ सम्मेलन कानपुर में श्रद्धेय टण्डनजी के सभापतित्व में हुआ था। यह सन् १९२३ की बात है। टण्डनजी जेल की पहली यात्रा से

लौटे ही थे। पहले का वेश उनका बिल्कुल बदल गया था। जिन्होंने हाईकोर्ट के मशहूर वकील के सुसज्जित वेश में उनको कभी देखा था उन्हें जेल से बाहर आने पर टण्डनजी को पहचानने में ज़रूर कुछ कठिनाई हुई होगी। दाढ़ी बढी हुई थी और सिर के बाल भी बढा लिये थे, अस्त-व्यस्त-से। तन पर मोटे खद्दर का कुरता था और धोती भी वैसी ही मोटी खुरदरी। फकीरी बाना था। अध्यक्ष-पद से टण्डनजी ने जो भाषण किया था, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह बडे महत्त्व का था। उसमें मूल प्राकृत को सस्कृत से प्राचीन सिद्ध किया था। अनेक शब्दों को उद्धृत करके यह भी दिखाया था कि पुरानी सस्कृत और पहलवी व फ़ारसी ये सब एक ही आर्य-कुल की भाषाएँ है।

कवि-सम्मेलन उस वर्ष स्व० लाला भगवानदीनजी के सभापतित्व मे हुआ था। मैं, बस, उसी एक कवि-सम्मेलन में दर्शक के रूप मे, सम्मिलित हुआ। जाकर पछताना पडा। अच्छा नही लगा। सुनता हूँ, कवि-सम्मेलन प्राय सब ऐसे ही होते हैं। न कोई आदर्श, न कोई मर्यादा। मनोरजन के और भी तो कई अच्छे साधन हो सकते हैं। इस हीन वस्तु को सम्मेलन के कार्यक्रम मे क्यो जोड दिया गया है, कुछ समझ में नहीं आया।

सहारनपुर के प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का भी एक सस्मरण उल्लेखनीय है। यह शायद पटना-सम्मेलन से पहले हुआ था। युक्तप्रातीय राजनीतिक परिषद् के साथ इसका आयोजन किया गया था। स्थायी समिति ने प्रयाग से मुझे अपने प्रतिनिधि के रूप मे भेजा था। सहारनपुर में सबसे पहले पहुँचा। स्वागत-समिति के प्रबन्ध-

मंत्री ने मुझे एक ऐसे मकान में ठहराया, जिसका दरवाज़ा अंदर से बन्द नहीं होता था और उसका पीछे का हिस्सा बिलकुल खंडहर था। सवेरे सोकर उठा, तो सारा सामान गायब! सब चोरी चला गया था। पहनने के लिए एक कुरता भी न छोड़ा था। और सामान सब गया सो गया, अधिक परिताप मुझे एक हस्तलिखित पुस्तक के चोरी चले जाने का हुआ। मेरे एक मित्र ने अपनी कविताएँ मुझे संशोधनार्थ दी थीं, और उनकी उस पुस्तक को मैं अपने साथ सहारनपुर ले गया था। दूसरी नकल भी उनके पास नहीं थी। यह तो कवि ही जानता है कि उसकी रचनाएँ खो जाने पर उसे कितना मानसिक क्लेश होता है। कई महीनेतक मारे लज्जा के मैं अपने मित्र से आँख नहीं मिला सका। पर वे इतने भले थे कि मुझसे उसके विषय में कभी एक शब्द भी नहीं कहा। टण्डनजी यदि उस दिन न आ जाते, तो मेरा तो सम्मेलन में सम्मिलित होना मुश्किल ही था। टण्डनजी उसी दिन बारह बजे की गाडी से उतरे, तब मैंने उनके कपड़ों से काम चलाया। पंजाब-हत्याकांड की जाँच करने के लिए कांग्रेस ने जो स्वतंत्र समिति नियुक्त की थी, उसीके काम से वे अमृतसर और लाहौर गये हुए थे।

यह हुई कतिपय अधिवेशनों की कहानी। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन को अभी छोड़ देता हूं, उसके विषय में किसी अगले प्रकरण में लिखूँगा।

एक साथ, एक ही मंच पर, दो-दो शीर्षस्थानीय साहित्याचार्यों का दर्शन-लाभ भी मुझे इसी सम्मेलन में हुआ था। पंडित गोविन्द-नारायण मिश्र और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पाद-पद्मों पर

श्रद्धा-भक्ति से मेरा मस्तक झुक गया। हमारे साहित्य-क्षेत्र के दोनो ही आचार्य अजेय महारथी थे—दोनों ही महान् मेधावी, दोनो ही महान् यशस्वी।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपने स्वागत-भाषण मे हिन्दी माध्यम के द्वारा उच्च शिक्षा देने के लिए जो जोरदार अपील की थी उसमे उनके हृदय की उत्कट वेदना स्पष्ट दिखाई देती थी। इलाहाबाद-विश्व-विद्यालय के सेनेटरों को उन्होंने बहुत धिक्कारा था। उन्होने कहा था कि, "शेक्सपियर, श्यली और बाइरन ही को नहीं, चासरतक को याद करते-करते हम अपने सूर, तुलसी और केशवतक को भूलते जा रहे हैं, नार्मन और सैक्सन लोगोंतक की पुरानी कथाएँ कहते-कहते हम अपने यादवों, मौर्यों और कण्वो का नामतक विस्मृत करते जा रहे है! हमे धिक्कार है!"

तब से आज कुछ तो वह दुर्व्यवस्था बदली है, पर शिक्षा का माध्यम, हमारे दुर्भाग्य से, अधिकाश मे अब भी अँग्रेजी भाषा ही है। हिन्दी प्रान्तों के विश्व-विद्यालयों को यह बहाना मिल गया है कि हिन्दी में विविध विषयो के उच्च साहित्य का निर्माण ही नहीं हुआ है, तब उसे उच्च शिक्षा का माध्यम कैसे बनाया जा सकता है? लेकिन इसमें दोष किसका है? साहित्य-निर्माण का भी काम क्या विश्व-विद्यालयो का नहीं है? काशी-विश्व-विद्यालय से हमें इस सम्बन्ध में बडी-बडी आशाएँ थीं, पर उसने भी कुछ न किया। मालवीयजी महाराज की भी सारी आशाएँ विफल ही गई। यह लज्जा और दुःख की बात है कि काशी-विश्व-विद्यालय के ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी भी

अँग्रेजी मे लिखते हैं और अँग्रेजी में ही बोलते हैं।

प्रथम 'मगलाप्रसाद-पारितोपिक' भी, इसी सम्मेलन में, स्व० पडित पद्मसिंह शर्मा को, उनकी 'बिहारी-सतसई की भाष्य-भूमिका' पर, ताम्र-पत्र के साथ, प्रदान किया गया था। [टण्डनजी के अनुरोध पर काशी के रईस श्री गोकुलचन्दजी ने अपने प्रिय भ्राता मगलाप्रसादजी की स्मृति में चालीस हज़ार रुपया सम्मेलन को इस उद्देश्य से दिया था कि उस निधि के सूद से सर्वोत्तम मौलिक ग्रन्थ पर उसके लेखक को १२००) रुपये का पारितोपिक प्रतिवर्ष दिया जाये। हमारे दरिद्र हिन्दी-ससार में इस पारितोपिक को लगभग वही प्रतिष्ठा प्राप्त है, जो पाश्चात्य देशों में 'नोबुल प्राइज़' को मिली हुई है।

: ९ :

साहित्य के पथ पर

साहित्यकारों के सपर्क में या साहित्य के वातावरण मे रहते-रहते मैं भी अपने को अब एक साहित्यक जीव समझने लगा था—एक ऐसा जीव, जिसका मुख्य धधा कुछ-न-कुछ लिखते रहना और साहित्य की समस्याओं पर विचार-विनिमय अथवा मात्र विनोद करना होता है। पर सफलतापूर्वक वैसा बन नहीं सका, उन गुणों या उपादानों का मुझमें एक तरह से अभाव था, जो सफल साहित्यकार बनने के लिए आवश्यक हैं। अपने उस साहित्यक जीवन से मैंने वैसा कुछ अर्थोपार्जन भी नहीं किया।

एक दिन मन में विचार आया कि सम्मेलन से पारिश्रमिक लेना ठीक नहीं। क्यों ? कोई खास दलील तो थी नहीं, केवल भावना ही बारबार प्रेरित कर रही थी। सोचा, सम्मेलन की जो भी सेवा बन पडे उसे अब अवैतनिक रूप से करूँगा। लेकिन तब जीविका कैसे चलेगी ? जीविका लेखन के व्यवसाय से चलाओ। औरों की भाँति मसि-जीवी बनने में तुम्हे क्या बाधा है ? पुस्तको की लिखाई से जो कुछ मिले उसीसे निर्वाह करो।

तो सम्मेलन से वेतन नहीं लूँगा, अपना यह सनकभरा निश्चय

श्रद्धेय टंडनजी को एक दिन लिखकर दे दिया। टंडनजी ने बहुत समझाया, पर समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने प्रेमसे डाँटते हुए कहा—"तो क्या तुम भूखों मरना चाहते हो? इस तरह तो तुम सम्मेलन की कुछ सेवा भी नहीं कर सकोगे। सम्मेलन इतना दरिद्र नहीं कि अपने कार्यकर्त्ताओं को भोजन-वस्त्र के लिए भी न दे सके। तुम्हारा यह सब पागलपन है।"

"पर यह पागलपन आपसे ही तो सीखा है", धीरे से डरते-डरते मैंने इतना ही कहा।

और अधिक दबाव नहीं डाला। तुरन्त तो मुझे अर्थ-संकट का सामना नहीं करना पड़ा। स्वभाव में थोड़ी लापर्वाही-सी आ गई थी। सोचा, फिलहाल एक-दो मित्रों से कुछ कर्ज़-वर्ज ले लूँगा, बाद को देखा जायेगा, कुछ लिख-लिखाकर चुका दूँगा। चार सालतक इलाहाबाद में और छह साल पन्ना मे भी मेरा यही क्रम चलता रहा। ऋण-भार से दब गया तब कुछ लिख डाला, अधिकार बेचने से जो मिला उससे कर्ज़ा चुकाया और जो बच गया उससे एक-दो महीने बेफिक्री से काम चलाया। फिर उधार लिया, फिर दिमाग बेचा, फिर कर्ज़ा बेबाक किया। एकमुश्त जितना भी प्रकाशक ने दिया उसीसे सन्तोष मान लिया। रायल्टी क्या चीज़ होती है इसका पता तो मुझे बहुत पीछे चला। कई किताबें मेरी काफी सस्ती गईं। दो पुस्तकोंका सारा अधिकार एक प्रकाशक महाशय ने, मेरी गरज़ का फ़ायदा उठाकर, १७५) में खरीद लिया था। ये पुस्तकें काफी बिकीं, अनेक संस्करण हुए, पटना-विश्व-विद्यालय के मैट्रिक के कोर्स में दस-बारह सालतक

चलती रहीं। मगर मुझे जितना मिल गया उसीमें संतोष माना। जो आया वह ख़र्च कर डाला। आय का मासिक औसत हमेशा तीस-पैंतीस रुपये का ही पड़ा। पैसा पल्ले नहीं रहा। न कभी जोड़ने या बचाने का मन हुआ। तंगदस्त तो रहा, पर ऐसा कोई कष्ट नहीं हुआ। पैसे के तईं उपेक्षा का भाव पहले से अधिक हो गया। ऐसे भी अवसर आये, जब एक भी पैसा गाँठ मे नहीं रहा, पर, सिवा एक अवसर के, ईश्वर की दया से कभी भूखा नहीं सोया।

वह प्रसग भी प्रयाग का ही है। उन दिनों मैं सम्मेलन के पुराने भवन में रहता था। करीब ४०) का कर्ज कर डाला था। टण्डनजी के सबसे बड़े पुत्र स्वामीप्रसादजी से अब और उधार लेने की हिम्मत नहीं होती थी। दिनभर का भूखा था। शाम को एक बार मन हुआ कि आज का काम चलाने के लिए एक रुपया तो उनसे ले ही लूँ। पर माँगने का साहस न हुआ। भूखा ही तख्त पर लेट गया। मन मे सघर्ष चलता रहा। आज की रात भूखे पड़े-पड़े काट दी, तो कल तो उधार लेना ही पड़ेगा। ऐसे कबतक भूखा रह सकता हू? तब फिर अभी ही क्यों न ले लूँ। स्वामीप्रसादजी से न सही, एक दूसरे मित्र से भी तो ले सकता हूँ। इस उधेड़बुन मे पड़े-पड़े एक दो घंटे बाद नींद आगई। सवेरे उठा तो उतनी चिंता नहीं थी। मन में बेफिक्री थी। चित्त स्वस्थ था। कुछ लिखने बैठ गया। कोई ११ बजे सहसा डाकिये ने आकर आवाज दी,—"आपका एक मनीआर्डर है।" मनीआर्डर ६) का था। यह मनीआर्डर कैसा! कूपन पढ़ने पर मालूम हुआ कि मेरे एक-दो लेख 'सरस्वती' में दो वर्ष पहले छपे थे और वह उन्हीं लेखो का पुरस्कार

था, जिसके मिलने का मुझे खयाल भी नहीं था। मेरी श्रद्धा ने तो यही माना कि भगवान् ने ही अनमाँगे यह 'महाप्रसाद' भेजा है।

चिन्ताओं ने मुझे वहाँ सताया नहीं। चित्त खूब प्रसन्न रहता था। आनन्द-विनोद में दिन कट जाता था। टण्डनजी के छोटे-बड़े सभी बच्चे मुझसे खूब हिल-मिल गये थे। चि० गुरुप्रसाद (टण्डनजी के द्वितीय पुत्र) और भवानीप्रसाद गुप्त मेरे पास बहुत बैठते थे। और भी कई मित्र और विद्यार्थी शाम को घूमते-घामते आ जाते थे। हमारे बैठने के दो मुख्य अड्डे थे—साहित्य-भवन और साहित्योदय। भवानीप्रसाद गुप्त को, जो पहले पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी के यहाँ काम करते थे, पुस्तकों की स्वतन्त्र दूकान खोलने की मैंने ही सलाह दी थी और उसका 'साहित्योदय' नाम भी सुझाया था। मेरी गद्य काव्य की प्रथम रचना 'तरंगिणी' इस साहित्योदय से ही प्रकाशित हुई थी। हास्य-विनोद का हमारा मुख्य अड्डा साहित्योदय था। साहित्य-भवन में तो, फिर भी, मर्यादा का ध्यान रखना पड़ता था। वह अधिकतर बुजुर्गों के बैठने की जगह थी। लड़के वहाँ खुलकर हँस-बोल नहीं सकते थे। मगर मेरी समायत तो दोनों ही जगह हो जाती थी—लड़कों में भी और बुजुर्गों में भी। लड़के मुझे हौवा नहीं समझते थे और बुजुर्गों की दृष्टि में मैं एक गम्भीर स्वभाव का नवयुवक माना जाता था। कभी-कभी अपनी मित्र-मण्डली में हमारा हास्य-विनोद बढ़ते-बढ़ते 'चिरकीं मियाँ' के गलीज़ साहित्यतक पहुँचता। विनोद-चर्चा में खद्दर भण्डार के व्यवस्थापक श्रीकालिका भाई (पंडित कालिकाप्रसाद शर्मा) भी भाग लेते थे। हम दोनों एक दूसरे को मात देने का प्रयत्न करते थे। कभी बाज़ी उनके हाथ रहती, कभी मेरे। दिल्ली

आया तो हजरत यहाँ भी मौजूद। हँसते हुए पूछा—"यहाँ, दिल्ली में भी, चौपटचरण ?" जवाब तैयार था—"तुम्हे तारना जो था !" कालिका भाई को देखते ही मेरा पुराना विनोदी स्वभाव आज भी हरा होजाता है। नई-नई उक्तियाँ, नई-नई सूझें बिना ही प्रयास के ज़बान पर आ जाती हैं। विनोद अब मेरा कालिका भाईतक ही सीमित रह गया है।

साहित्यिक विनोदोंमें प्राय. श्रद्धास्पद स्व हरिऔधजी के 'प्रिय-प्रवास' को मै अपना लक्ष्य बनाया करता था। उसमें से 'मुहुर्मुहु', 'चों-चों' (त्यों त्यों का पर्याय) जैसे विकट शब्दों को लेकर हम लोग बहुत हँसते थे। मिश्रबन्धुओं की, भाषा और शैली की भी खूब आलोचना किय करता था। परन्तु परिणाम इस हास्य-विनोद का अच्छा नहीं हुआ। दूसरों के दोष देख देखकर खुश होनेकी आदत बनने लगी और उससे स्वभाव मे एक तरह की तुच्छता आ गई। तब यह समझ नहीं थी कि विनोद का भी संयम होता है। संयम को तोडकर अविवेकपूर्वक जो बहुत हँसता और बहुत बोलता है, वह अपना मोल कम कर देता है। एक दिन एक वयोवृद्ध सज्जन को हम लोगोंने बहुत बनाया। मेरे भी मुहँ से हँसी मे एक दो अनुचित शब्द निकल गये। हमारी अशिष्टता से उन्हें काफ़ी दु ख हुआ। बाद को मैं भी बहुत पछताया। जाकर उनसे क्षमा माँगी और आगे से विनोद पर नियन्त्रण रखने का निश्चय किया। सयम-ने तो कम, मगर जीवन की परिस्थितियोंने ज्यादा मेरे विनोदी स्वभाव को पलट देने मे मदद दी। आध्यात्मिक प्रसन्नता तो दुर्लभ रही ही, मन की वह साधारण प्रसन्नता भी धीरे-धीरे मन्द पड़ती गई। मनुष्य में क्या से क्या हो जाता है !

तब कितने ही विद्यार्थी मेरे पास आकर बैठते और पढ़ने को उत्सुक रहते थे। अब, आज वह बात नहीं रही। बीस-पचीस साल के अन्दर ही ज़माने की परछाईं काफ़ी आगे सरक गई। मैं शिकायत नहीं कर रहा हूँ। यह तो प्रगति का वेग है। हाँ, तो व्रजभाषा का भक्ति-साहित्य मेरे विद्यार्थी बड़े प्रेम से पढ़ते थे। मैं नहीं कह सकता कि उन्हे उससे कितना लाभ मिला होगा, पर मेरा अपना अध्ययन अवश्य अच्छा होगया था। अथवा, यह कहना ज्यादा सही होगा कि मेरे विद्यार्थियों ने मुझे काफी पढ़ाया। विद्यार्थियों में चि० गुरुप्रसाद मुख्य थे। पाँच वर्षतक वे मेरे घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। उन्हे मैं आज भी अपना वैसा ही स्नेह-भाजन मानता हूँ। उनके बाल-हठ के कितने ही मधुर प्रसग याद हैं। श्रीराम-बहोरी शुक्ल भी मेरे पास पढ़ा करते थे। शुरू में रहते भी मेरे ही साथ थे। बड़े परिश्रमी और लगन के विद्यार्थी थे। सोलह-सत्रह वर्ष बाद जब रामबहोरीजी मुझे काशी में मिले, तब उनके प्रति मेरे हृदय में पहले के जैसा ही वात्सल्य-स्नेह उमड़ आया। अब वह नागरी-प्रचारिणी-सभा के प्रधान मन्त्री थे।

दक्षिण भारत के कुछ राष्ट्रभाषा-सेवियों को भी पढ़ाने का अवसर आया था। दक्षिण से राष्ट्रभाषा के ज्ञान भिक्षुओं का एक छोटा-सा दल प्रयाग पहुँचा था। श्रीहरिहर शर्मा उनमें मुख्य थे। शर्माजी तथा श्रीशिव-राम ने जिस परमनिष्ठा से मध्यमा परीक्षा की तैयारी की थी वह हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए भी अनुकरणीय है। मेरे मित्र पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी उन्हें तथा अन्य मद्रासी विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। मेरे पास 'प्रिय प्रवास' या व्रजभाषा का कोई काव्य-ग्रन्थ पढ़ते थे। कुछ ऐसे

भी विद्यार्थी मद्रास से आ गये थे, जो हिन्दी बिल्कुल नहीं समझते थे और अंग्रेजी भी नहीं जानते थे। उन्हें पढ़ाना बड़ा मुश्किल मालूम देता था। 'मोहन ने खाना खा लिया होगा' जैसे वाक्यों का अर्थ समझाना आसान नहीं था। कहते—'खाना खा लिया' यह तो समझ में आ गया, पर यह 'होगा' क्या? क्या अभी और भी 'खाना' होगा? पर वे घबराते नहीं थे। कुछ ही दिनों में कामचलाऊ हिन्दी सीख लेते थे।

: १० :

ब्रज-साहित्य की ओर झुकाव

श्रद्धेय टण्डनजी की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के लिए 'संक्षिप्त सूरसागर' और 'ब्रजमाधुरी-सार' ये दो सटिप्पण सग्रह-ग्रन्थ मैंने तैयार किये। सूरसागर उन दिनो बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस का ही उपलब्ध था। पाठ उसका काफ़ी भ्रष्ट था। दूसरा कोई और सस्करण सामने था नहीं। पाठ शुद्ध करना बडा कठिन कार्य था। इसलिए मैंने ऐसे ही पदों को अपने संग्रह में स्थान दिया, जिनका पाठ अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध था, और अर्थ भी जिनका सरलता से लग जाता था। परन्तु प्रथम प्रयास होने के कारण पाद-टिप्पणियो मे मैंने अनेक भद्दी भूले कर डालीं। छपाई मे भी बहुत-सी भूलें रह गईं। प्रूफ़-सशोधन का तब मुझे कुछ भी ज्ञान नही था। सूरदास के पदों का यह छोटा-सा सग्रह, फिर भी, लोगों को पसन्द आया। भूमिका इसकी श्री पडित राधाचरणजी गोस्वामी ने लिखी थी। उसमें उन्होंने सूरदास का जन्म-स्थान रुनकता ग्राम बतलाया था। इसके एक या दो महीने बाद स्व० डा० बेनीप्रसाद द्वारा सपादित 'संक्षिप्त सूरसागर' इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस ने प्रकाशित किया। बेनीप्रसादजी ने प्रस्तावना में भक्ति-विषयक कुछ सर्वथा नये

विचार प्रकट किये। भक्ति-सिद्धान्त को उन्होने थोडा इसलाम धर्म से प्रभावित बतलाया। भागवत धर्म का गम्भीर अध्ययन करनेवालों के गले उनकी यह दलील कुछ उतरी नहीं। परन्तु पद-सकलन की दृष्टि से संग्रह उनका सुन्दर था।

'ब्रजमाधुरी-सार' मेरा दूसरा संग्रह-ग्रन्थ था। छतरपुर मे ब्रज-साहित्य देखने का मुझे खासा अच्छा अवसर मिला था। साहित्यिक दृष्टि से तो नहीं, किन्तु एक श्रद्धालु वैष्णव की दृष्टि से अनेक भक्तों की बानियाँ मैंने वहाँ पढ़ी और सुनी थीं। दो-तीन भक्तों की अनछपी बानियाँ मैं अपने साथ वहाँ से लाया भी था। विचार आया कि 'अष्ट-छाप' के प्रमुख भक्त कवियों तथा दूसरे ब्रज-रसिकों के कुछ सुन्दर पदों का एक सटिप्पण सग्रह यदि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित करा दिया जाये, तो उससे ब्रज-साहित्य की ओर हमारी काफ़ी अभिरुचि पैदा हो सकती है। मेरा यह विचार टण्डनजी को भी पसन्द आया। कोई छह महीने में प्रस्तावित सग्रह की पाण्डुलिपि मैंने तैयार करदी। मूल में तो मेरा विचार यह था कि केवल भक्तो की ही बानियों का सकलन किया जाये, पर बाद को क्षेत्र मैंने कुछ विस्तृत कर दिया—ब्रजभाषा के बिहारी, देव-जैसे प्रसिद्ध महाकवियों की कविताओं को भी उसमें ले लिया। चुनाव करते समय निर्णय करना कठिन होगया कि कविता की दृष्टि से कौन तो भक्त है और कौन अभक्त। शृङ्गारी अभिव्यजना को देखा तो दोनों में प्राय. बहुत कम अन्तर पाया। यदि पहले से मन पर यह छाप न पडी हो कि अमुक कवि भक्त या महात्मा था अत. उसकी बानी को श्रद्धापूर्वक निर्विकार मानना ही चाहिए, तो उस रसिक भक्त

की बानी और सामान्य श्रृङ्गारी कवि की कविता में शायद ही कुछ अन्तर दिखाई दे। किन्तु मेरी दृष्टि तो वैष्णवी दृष्टि थी। इसी दृष्टि से मैंने तर्क का आश्रय न लेकर द्वितीय संस्करण में ग्रन्थ को दो खंडों में विभक्त कर दिया। मन शंकाशील होते हुए भी यह मानता रहा कि भक्तों और सामान्य कवियों या महाकवियों की कविताओं में अवश्य कुछ-न-कुछ अन्तर रहता ही है। मैंने भरसक भक्तों की श्रृङ्गारी कविताओं का अध्यात्मपरक अर्थ लगाया, पर शंकाएँ कम न हुईं, बल्कि कुछ बढ़ीं ही। यूँ तो खींचातानी से बिहारी के घोर श्रृङ्गारी दोहों का भी आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। उत्तान श्रृङ्गार की निरावरण कविताओं को भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत मानते हुए मुझे तो भय लगता है, फिर चाहे वे कितने ही बड़े भक्त कवि की रचनाएँ क्यों न हों। हो सकता है कि उसकी कुछ रचनाओं में भक्ति या ज्ञान-वैराग्य की भी अभिव्यक्ति हुई हो, पर इससे उसके पक्ष में यह निर्णय देना निरापद नहीं है कि उसकी घोर श्रृङ्गारी रचनाएँ भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। भक्ति कोई बाजारू चीज़ नहीं है। वह तो अत्यन्त निर्मल वस्तु है। निर्विकार की अभिव्यक्ति भी निर्विकार ही होती है।

'ब्रजमाधुरी-सार' का जब द्वितीय संस्करण निकालने की बात आई, तब मैंने उसमें से कितने ही पदों और कवित्तों को निकाल दिया। तृतीय संस्करण में सुरुचि का और भी अधिक ध्यान रखा गया। और भी कुछ अंश कम किया जा सकता है, और ऐसा करने से ब्रजमाधुरी में, मेरा विश्वास है, कुछ भी कमी न आयेगी। पृष्ठ-संख्या जरूर कम हो जायेगी, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह कृशांग संकलन सुधारस के सार

का भी सार होगा।

व्रजभाषा के साहित्य की ओर उन दिनो मेरा बहुत अधिक झुकाव था। मैं भी व्रजभाषा को सबसे मधुर भाषा मानता था। किन्तु पीछे, धीरे-धीरे मेरी यह धारणा बदल गई। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि व्रजभाषा के द्वारा कोमल भावों की अभिव्यक्ति बड़ी अच्छी हुई है। सूरदास, बिहारी, देव, आनन्दघन आदि निसर्गजात कवियों ने अपनी निर्माण-क्षमता से व्रजभाषा के अन्दर कुछ ऐसी शक्ति डाल दी थी कि उसमें अभिव्यक्ति के विलक्षण गुण पैदा हो गये। कविता के लिए वह एक अच्छी समर्थ और समृद्ध भाषा सिद्ध हुई। मगर मेरा पक्षपात निर्बल पड गया, जब मैंने देखा कि ऐसा ही शक्ति-सचार तो जायसी और तुलसी ने अवधी भाषा में किया है। बल्कि आज तो मैं यहाँतक मानने लगा हूँ, कि वियोग-शृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए जितनी अवधी भाषा समर्थ हुई उतनी व्रजभाषा नहीं। यही कारण है कि वियोग-शृङ्गार की ऊँची अभिव्यजना व्रजभाषा मे अपेक्षाकृत कम ही मिलती है। अवधी मे जायसी और कुछ दूसरे प्रेम-मार्गी कवियो और संतो ने प्रेम के जिस निर्मल रूप को हृदयवेधी शब्दों मे अभिव्यक्त किया है वैसी चीज़ व्रजभाषा के साहित्य में कम ही देखने में आई है। मेरे कहने का यह अर्थ न लगाया जाये कि अवधी का सारा शृङ्गार-साहित्य निर्विकार है। जायसी प्रभृति प्रेममार्गी कवियों ने जहाँ सयोग शृङ्गार का वर्णन किया है वहाँ वे भी फिसल गये हैं। ऐसे कुरुचिपूर्ण अश क्षेपक-जैसे मालूम पडते हैं, और उनकी शुभ्रता पर निश्चय ही ऐसे अश्लील अंश काले धब्बे-से प्रतीत होते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य तो केवल इतना ही है

कि अवधी में निर्मल वियोग-शृङ्गार की अभिव्यक्ति की जो समर्थता है, जो सम्पूर्णता है वैसी ब्रजभाषा को उपलब्ध नहीं हुई।

मगर यह तो मेरा अपना मत है। मैं जानता हूँ कि मेरी इस मान्यता के विरोध मे काफ़ी कहा जा सकता है। 'ब्रजमाधुरी सार' के सपादन के सिलसिले में भारतेन्दुजी के स्नेही सखा श्रीराधाचरण गोस्वामी से मैं दो या तीन बार वृन्दावन मे मिला था। गोस्वामीजी महाराज से मैं एक दिन कबीर के विषय मे चर्चा कर रहा था। स्वभावत. अवधी भाषा के साहित्य का भी प्रसग छिड गया। उस ओर उन्हे मेरा झुकाव अच्छा नहीं लगा। बोले—"ब्रज-साहित्य के अनुपम माधुर्य के आगे तुमने कबीर और अवधी के शुष्क साहित्य की यह क्या नीरस चर्चा छेडदी।" 'जीभ, निबौरी क्यों लगै, बौरी, चाखि अँगूर' बिहारी का यह दोहा भी मुझे धिक्कारते हुए कहा।

आगे कुछ कहना बेअदबी मे शुमार किया जाता। मैं चुप होगया। पर मुझे तो, सच मानिए, जो स्वच्छ, निर्विकार रस-माधुर्य कबीर और जायसी की कविता में मिला, वह अन्यत्र नहीं।

फिर भी ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य की मैं उपेक्षा नहीं करूँगा। ऐसा करना भारी अपराध होगा। उस साहित्य पर यद्यपि मेरा आज वैसा मोह नहीं रहा,तो भी मैं यह कहने को कदापि तैयार नहीं कि उसमे ऊँचे उठने की प्रेरणा देनेवाली रचनाओं का अभाव है। ऐसा कहने का कौन दु.साहस करेगा? सूर और आनन्दघन की कविता का बहुत-सा अश और मीरां की तो प्राय सारी ही पदावली ऊँचा उठाने का बल रखती है। यह सही है कि रत्नों के साथ काच के टुकडों का ढेर भी काफ़ी पड़ा

है, और दुर्भाग्य से उस कचरे की राशि को आज भी हमारे कुछ साहित्य-रसज्ञ मूल्यवान् समझते हैं। ऐसी बेकार चीज़ों की शोध पर धन और शक्ति का खर्चना कहाँतक वाञ्छनीय है यह विचार करने की बात है। अच्छा हो कि साहित्य के संग्रहालय चाहे जो कुछ संग्रह करने का मोह छोड़दें। उनमें तो असली रत्नों का ही संग्रह हो। काच के हज़ारो-लाखों टुकड़ों से हमारे संग्रहालय क्यों बेकार सजाये जायें ?

'व्रजमाधुरी-सार' में, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, कुछ ऐसे भी कवियों को स्थान दिया था जिनकी कविताएँ प्रकाश में नहीं आई थीं। उनमें गदाधर भट्ट, हरिराम व्यास और श्रीभट्ट मुख्य थे। हरिराम व्यासकी समस्त वाणीका संग्रह मुझे छतरपुर में उपलब्ध हुआ था। उसमें लगभग ८००पद हैं और १४९ दोहे। वह संग्रह मैंने सम्मेलन के संग्रहालय को भेंट कर दिया है। हरिराम व्यास ओरछा-नरेश महाराजा मधुकरशाह के दीक्षा-गुरु थे। व्रज-साहित्य में इनका ऊँचा स्थान माना जाता है। व्यासजी के अनेक पद सूरदासजी के पदों से, भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियों से, किसी तरह कम नहीं। साखियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हरिराम व्यास के पदों का यदि एक अच्छा-सा संग्रह प्रकाशित हो जाये, तो उससे व्रज-साहित्य का एक उज्ज्वल रत्न सामने आ जाये। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के परम शिष्य गदाधर भट्ट की भी पदावली बड़ी सरस और अनूठी है। वह भी अप्रकाशित ही है। व्रज-साहित्य के इन उत्तम रत्नों का परिचय साहित्य-संसार को बहुत कम है। खेद का विषय है कि इस दिशा में न तो साहित्य सम्मेलन ने कुछ काम किया, न नागरी-प्रचारिणी सभा ने ही। चालीस-पचास मुख्य-मुख्य भक्त कवियों की बानियों में से साररूप

सुरुचिपूर्ण पदों के बडे सुन्दर सकलन किये जा सकते हैं। सम्मेलन अथवा सभा इस उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण काम को हाथ में लेले, तो एक खटकनेवाले अभाव की पूर्ति हो सकती है।

उन दिनों व्रज-साहित्य पर ही मेरा सारा ध्यान केन्द्रित था। उसी-का सपादन, उसीका अध्ययन और उसीका अध्यापन। व्रज-माधुरी का गाढ़ा रंग चढ चुका था, और कई वर्ष वैसा ही चढ़ा रहा। कुछ कविताएँ भी मैंने व्रजभाषा में उसी शैली में लिखीं। 'अनुराग-वाटिका' के पदों की रचना मैंने उसी रग में की। भावुकता की धारा में वहकर मैंने यहाँ-तक कह डाला—

"हमारे व्रजवानी ही वेद,
भावभरी या मधुवानी कौ
नायँ मिल्यौ रस-भेद।
निगमागम-कृत सब्दजाल मे
वा सुख की कहँ आस?
जो सुख मिलत चाखि व्रजपद-रस,
मौधी सहज मिठास।" इत्यादि।

परिणाम यह हुआ कि व्रजभाषा-साहित्य का मैं 'अन्ध पक्षपाती' गिना जाने लगा। यह धारणा तो शायद आज भी मेरे विषय में कुछ-कुछ बनी हुई है। इसका कारण तो था ही। आरोप वहुत-कुछ सही था। मेरे तव के विचारो मे परिवर्तन हो जाने का पता मेरे आरोपियों को लग नहीं सका। भावुकता मे चाहे जो लिख डाला हो,पर व्रज भाषा-साहित्य के उन अन्धाधुन्ध समर्थकों में मैंने अपने को कभी शामिल नहीं

किया, जो व्रजभाषा के आगे अवधी, बिहारी और खड़ी बोली का उपहास किया करते थे। कुछ वर्ष पहले 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' का मैं भी एक निर्णायक चुना गया था। व्रजभाषा के एक महाकाव्य की विद्यमानता में भी मैंने अपना निर्णय मैथिलीशरण गुप्त और सुमित्रानन्दन पन्त की कृतियों के पक्ष में दिया। एक मित्र को मेरे इस निर्णय पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"तुम्हे तो मै व्रजभाषा का अनन्य या अन्ध पक्षपाती मानता था। 'साकेत' के पक्ष में तुम्हारा यह निर्णय देखकर मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ।"

मैंने उनसे कहा—"मुझे प्रसन्नता हुई कि आपका यह भ्रम निर्मूल सिद्ध हुआ।"

दूसरी बार मैंने प्रसादजी की 'कामायनी' के पक्ष मे अपनी सम्मति दी। 'कामायनी' को पढ़ते समय इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि वह किस भाषा मे लिखी गई है।

: ११ :

मेरी काव्य-रचनाएँ

कविता करने का शौक मुझे लगा तब मेरी आयु मुश्किल से नौ वर्ष की रही होगी। सबसे पहले गणेशजी की वन्दना की एक कुण्डलिया जोडी थी, जिसका पहला चरण 'लंबोदर गजवदन को सुमरौं बारम्बार' शायद ऐसा कुछ था। अपने पडौसी लाला चिन्ताहरण को जब बडे चाव से अपनी यह प्रथम रचना सुनाई तो उन्होंने मेरी खूब पीठ ठोंकी। हमारे ये दाद देनेवाले देवता कभी-कभी अनजान में अनर्थ कर बैठते हैं। लडकों को जरूरत से ज्यादा प्रोत्साहन दे-देकर अक्सर निरर्थक बातों का शौक़ पैदा करा देते हैं। कविता बनाने का नशा बड़ी जल्दी चढ़ता है,और फिर उतरता भी बडी मुश्किल से है।

छतरपुर में पुरानी परम्परा के एक अच्छे नामी कवि थे। उनका नाम पंडित गंगाधर व्यास था। उनके शिष्य उन्हें 'दद्दा' के नाम से पुकारा करते थे। प्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ स्व० लाला भगवानदीन इन्हीं व्यासजी के शिष्य थे। लालाजी ने इनसे आचार्य बलभद्र का 'नखशिख' पढ़ा था। व्यासजी आशुकवि थे। कैसी ही कठिन समस्या हो उसकी तुरन्त पूर्ति कर देते थे। काव्य-शास्त्र के अंगों का उन्हे अच्छा ज्ञान था।

लोक-प्रसिद्धि में ईसुरी कवि के बाद बुन्देलखंड में गंगाधर व्यास का ही स्थान था। व्यासजी के रचे दादरे वहाँ की स्त्रियाँ आज भी बड़े प्रेम से गाती हैं। उन दिनों उधर लावनी और रेखता की बडी धूम थी। लावनीबाजों के जहाँ तहाँ अखाडे भी थे। उनके दो सम्प्रदाय थे—तुर्रा और कलँगी। दोनों एक दूसरे को मात देने की चेष्टा में रहते थे। मामूली-सी बात पर शास्त्रार्थ छिड जाते। आपस में कभी-कभी हाथापाई तक हो जाती। रेखता के निष्ठावान श्रोता हमारे मोहल्ले के रामगुलाम सराफ और ऊदलसिंह दाउजू थे। ये सबसे पहले पहुँच जाते थे।

मैं भी उस वातावरण के असर से बच नहीं सका। बदनसीबी से कविता का शौक़ लग ही गया। पर मेरी स्कूली पढ़ाई में उससे कोई वैसी बाधा नहीं पहुँची। जब मिडिल में पढता था, तब कितनी ही तुकबन्दियाँ लिख डाली थीं। बहुत-से सवैये और दोहे 'धनुष-यज्ञ' पर भी लिखे थे। वीर हरदौल पर एक नाटक भी उन्हीं दिनों लिखा था। श्रीकृष्ण के नखशिख-शृङ्गार के भी कुछ पद बनाये थे। राणा प्रताप पर खड़ी बोली में एक खण्डकाव्य भी लिखा था। कुछ शेर भी बना डाले थे, हालांकि उर्दू बिलकुल नहीं जानता था। उनके सग्रह का नाम 'प्रेम-गजरा' रखा था। पता नहीं, तब की उन सारी रचनाओं का क्या हुआ। कविता के साथ वह सब मेरा एक खेलवाड था। मगर उन तुकबन्दियों के भी सुनने और सराहनेवाले मिल जाते थे।

मैट्रिक पास कर चुकने के बाद कविता लिखने का यह मर्ज़ काफ़ी बढ गया। प्राय रोज़ ही कुछ-न-कुछ लिखता। शिखरिणी छंद में एक छोटा-सा काव्य भी लिख डाला। नाम उस काव्य का 'प्रेम-पथिक' रखा।

इसमें 'प्रेम-पुरी' की कल्पित यात्रा का रूपक चित्रित किया था। भाषा पहले से अब कुछ मँज गई थी। 'प्रेम-पथिक' लिखने के बाद मेरी यह धारणा बन गई कि हिन्दी का अब मैं एक अच्छा कवि हो गया हूँ। जब मेरी यह पहली रचना छपकर मेरे पास पहुँची तो मारे हर्ष और गर्व के मैं आकाश में उडने लगा। मित्रों ने बधाइयाँ भी दीं। कुल २० प्रतियाँ प्रकाशक महोदय ने भेजी थीं। बडे फेर में पड गया कि किसे दूँ, किसे न दूँ। बडी मुश्किल से एक प्रति अपने पास सेंतकर रख सका। बाद को वह रक का धन भी चोरी चला गया। मेरे पास आज उसकी एक भी प्रति नहीं है। प्रेम मन्दिर, आरा से तीन-चार और भी छोटी-छोटी रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं—प्रेमशतक, प्रेमांजलि, प्रेमपरिषद और एक रचना और, जिसका नाम याद नहीं आ रहा है। आज वे सभी अप्राप्य हैं। मैंने अपनी एक भी पुस्तक कभी अपने पास नहीं रखी। इस अर्थ में चाहें तो मेरे मित्र मुझे 'अपरिग्रही' कह सकते हैं।

अपनी कविताओं को आपस के चार छह मित्रों के बीच में तो सुना दिया करता था, पर किसी सभा-सम्मेलन में सुनाने का साहस नहीं होता था। केवल एक बार छतरपुर में, गोशाला के वार्षिकोत्सव पर, एक कविता पढ़ी थी। उस कविता को मैंने खूब सुन्दर अक्षरों में लिखा था। उत्सव के अध्यक्ष तब राज्य के दीवान सुविख्यात साहित्यकार स्व०पंडित श्यामबिहारी मिश्र थे। कविता अत्यन्त साधारण थी,फिर भी मिश्रजी ने मुझे बडा प्रोत्साहन दिया। स्व० राधामोहन गोकुलजी के बहुत आग्रह करने पर इलाहाबाद में भी मैंने विश्व-विद्यालय की किसी साहित्य-गोष्ठी में वीररस के दो-तीन कवित्त पढ़े थे। और किसी कवि-

समाज में कभी शामिल नहीं हुआ।

कविताएँ मैंने अधिक नहीं लिखीं, यद्यपि सहृदय मित्रों ने मेरी गणना सदा कवियों में ही की। मैंने कविता तो की, पर अपने को कभी कवि कहने की धृष्टता नहीं की। ऐसा कुछ लिखा भी नहीं, जिसमें कोई खास तंत हो। प्रारंभिक रचनाओं का मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ। उनको यदि छोड़दूँ, तो 'कवि-कीर्तन', 'वीर-सतसई', 'अनुराग-वाटिका' और 'मन्दिर-प्रवेश' तथा दस-पन्द्रह फुटकर कविताएँ बस इतनी ही मेरी सारी काव्य-रचना है।

भाषा मुझे व्रज की अधिक अनुकूल पड़ी, और उसीमें अधिकतर पद्य-रचना की। उसमें मुझे कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। खड़ी बोली में 'शुकदेव' नामक केवल एक खंडकाव्य लिखा था, पर वह बंगला 'शुकदेव' का छायानुवाद था, मौलिकता मेरी उसमें बहुत कम थी। तीन और छोटी-छोटी कविताएँ खड़ी बोली में लिखी थीं, जिनके नाम 'मीठी-बात', 'एक ही बात' और 'विश्व-कीर्तन' थे।

'कवि-कीर्तन' मैंने प्रयाग मे भारी अर्थ-संकट की अवस्था में लिखा था। नाभाजी की 'भक्तमाल' की चमत्कारपूर्ण कथाओं से भले ही हम सहमत न हों, पर एक ही छप्पय के अन्दर जिस खूबी के साथ उसमें भक्तों के चरित का पुष्ट भाषा मे संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित वर्णन किया गया है, उससे 'भक्तमाल' को निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। साहित्य की इस दृष्टि से ही मैंने 'भक्तमाल' को पढ़ा था। मन हुआ कि इसी शैली पर हिन्दी के मुख्य-मुख्य प्राचीन और अर्वाचीन कवियों का संक्षिप्त वर्णन क्यों न लिख डाला जाये। पैसे की

की ज़रूरत थी। सो साहित्य-भवन से सौ मुद्रा की पेशगी दक्षिणा लेकर, 'कवि-कीर्तन' मैंने छह-सात दिन में लिख डाला। श्रद्धेय कविरत्न शंकर-जी ने मेरी उस तुच्छ कृति को बहुत पसन्द किया था।

फिर कई बरस बाद वीर रस के कुछ दोहे लिखे, जिनकी संख्या धीरे-धीरे सात सौतक पहुँच गई। उस दोहावली का नाम मैंने 'वीर-सतसई' रखा। सतसई के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से अगले प्रकरण में लिखूँगा।

'अनुराग-वाटिका' को पन्ना में लिखा था। यह मेरा यथासम्भव शुद्ध ब्रजभाषा में लिखने का प्रयास था। शैली भी उसकी ब्रजमण्डल के प्राचीन भक्त कवियों की है, और यत्र-तत्र उनके भावों का मैंने अपहरण भी किया है। 'अनुराग-वाटिका' के विषय में इतना अवश्य कहूँगा कि उसे मैंने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर लिखा था, कोई दूसरा हेतु नहीं था। 'अनुराग-वाटिका' मुझे प्रिय भी है—उतनी ही प्रिय, जितनी कि गद्यकाव्यों में 'प्रार्थना।'

'प्रबुद्ध यामुन' नाम का एक नाटक भी लिखा, जिसमें स्वामी रामानुजाचार्य के गुरु श्रीयामुनाचार्य की जीवन घटनाओं को कथावस्तु बनाया था। कुछ स्थलों पर अपने आपको अभिव्यक्त करने का भी उसमें मैंने प्रयत्न किया है। 'प्रबुद्ध यामुन' में कविताओं का भी अनेक प्रसगों मे समावेश किया है। यह खासा बड़ा नाटक है। शैली वही भारतेन्दु-काल के नाटकों की है। इस नाटक को मैंने बड़े परिश्रम से एक या डेढ़ महीने में पूरा किया था। उन दिनों भी मैं ऋणग्रस्त था। जमना-पार हिन्दी-विद्यापीठ में बैठकर मैंने इसे लिखा था। सोचा था कि पारिश्र-

मिक से कम-से-कम दो ढाई-सौ रुपये मिल जायेंगे। लेकिन लाचार होकर सौ रुपये में ही मुझे अपनी वह श्रम-साध्य रचना बेच देनी पड़ी। सन्तोष यही रहा कि मेरे सहृदय मित्रों ने 'प्रबुद्ध यामुन' की, खासकर उसके पद्य-भाग की, क़द्र की।

वीररस के कुछ पद भी लिखे थे, जो स्व० गणेशशंकरजी के सपादन-काल में 'प्रताप' में प्रकाशित हुए थे। वैसे कोई पचासेक पद लिखने का संकल्प था, पर वह पूरा न हो पाया। केवल नेत्र और बाहु पर ही दस-पन्द्रह कवित्त लिख सका।

'गुरु-गौरव' शीर्षक एक लम्बी कविता पूज्य सद्गुरु की पुण्यस्मृति मे 'कल्याण' के लिए लिखी थी। पत्र-पत्रिकाओं के लिए शायद ही अपने कवि-जीवन मे दस-पाँच कविताएँ लिखी हो। मेरे स्वभावगत संकोच ने मुझे आगे नहीं आने दिया। हमेशा सकोच रहा कि मेरी व्रजभाषा की मामूली-सी रचनाओं को इस प्रगतिशील युग में शायद ही कोई पसन्द करे। फिर भाषा का ही प्रश्न नहीं था, कुछ तंत भी तो होना चाहिए। तथा व्रजभाषा का युग भी समाप्त-सा हो चला था। रत्नाकरजी की व्रजभाषा की रचनाओ को यदि ल० प्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं मे गौरव का स्थान मिल जाता था, तो उसे एक अपवाद ही कहना चाहिए। किन्तु यदि सत्यनारायण और रत्नाकर-जैसे रससिद्ध कवियों को उचित सम्मान न मिला होता, तो असे मैं हिन्दी-ससार के लिए एक महती दुर्घटना ही मानता।

अतिम कविता मेरी वह थी, जिसे मैंने पूज्य गाधीजी के अनशन पर लिखा था—उस महान् अनशन पर, जो इन्होंने हरिजन-सेवको की

अन्त शुद्धि के अर्थ पूना में, सन १९३२ में, किया था। उसके बाद मेरा सहृदय-कवि मुझसे हमेशा के लिए विदा ले गया, और सचमुच यह बड़ा अच्छा हुआ। यही मेरे कवि-जीवन की अरोचक-सी कहानी है।

: १२ :

"वीर-सतसई"

'वीर-सतसई' पर यह अलग प्रकरण इसलिए लिख रहा हूँ कि एक तो इस रचना के कारण कवि-जगत् में मेरी कुछ ख्याति हुई, और दूसरे इसके साथ मेरे कुछ अनुभवों का घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा है। सन् १६२५ में जब मैं ,श्रीटण्डनजी से मिलने लाहौर गया, तब वहीं, लाजपतराय-भवन में, वीर-रस के कुछ दोहे लिखने आरम्भ किये थे। सतसई लिखने की तब कल्पना भी नहीं थी। मुक्तक रचना तो थी ही, इसलिए जब कभी कोई भाव मन में उठा, उससे प्रेरित होकर कुछ दोहे लिख डाले। इस तरह डेढ़-दो साल में कोई सात सौ दोहे लिखे, और उस दोहावली का नाम, एक मित्र के सुझाव पर, 'वीर-सतसई' रख दिया।

वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' होने के कारण इस रस को मैंने सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध करने का नया प्रयत्न या अतिसाहस किया। मैंने माना कि उत्साह के अभाव में एक भी रस मन को प्रिय नहीं लगता। स्थायी भाव उत्साह उसी प्रकार सब रसों में व्यापक है, जिस प्रकार स्वाद की दृष्टि से मधुर रस शक्कर, नमक, नींबू, आँवले, मिर्च और

करेले में। यह शायद मेरा सर्वथा नया प्रयास था। संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के सभी आचार्यों ने एक स्वर से शृङ्गार को 'रसराज' कहा है। केवल एक भवभूति ने 'एको रस. करुण एव' बताकर करुण रस की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। स्वभाव से ही शृङ्गार रस की यह सर्वश्रेष्ठता मुझे बहुत अखरती थी। रीति-ग्रन्थ जितने भी मेरे देखने मे आये उनमें, सिवा एक 'शिवराज-भूषण' के, सर्वत्र शृङ्गार रस का ही अतिशय बाहुल्य मिला। रस ग्रन्थो मे ६९ प्रतिशत से ऊपर तो केवल शृङ्गार रस पर हमारे बडे-बडे आचार्यों ने लिखा, शेष अन्य रसो के तो जैसे उन्होंने केवल नाम गिना दिये। मनोविज्ञान के तर्कों से भी शृङ्गार का ही 'रसराजत्व' सिद्ध किया गया, और आज भी किया जा रहा है। सभी रसाचार्य स्थायी भावो में 'रति' को ही प्राधान्य देते हैं। यह तो उनकी भारी कृपा है, जो रति से ठीक विपरीत 'विरति' को भी—निर्वेद को भी—नवरसों में एक रस का स्थायी भाव मान लिया है।

विषय-वासना को प्रयत्नपूर्वक, शास्त्रीय रीति से, उत्तेजन देनेवाली इस मान्यता से व्यष्टि और समष्टि दोनों पर बड़ा घातक प्रभाव पडा। समाज के मानस में इससे विष पैदा हो गया। इसके उत्तर में शायद यह कहा जाये कि वासना की धारा तो स्वाभाविक है, उसके अजस्र प्रवाह में बाधा डालना व्यर्थ है और ऐसा करना प्रकृति-विरुद्ध भी है। यह सही है। तब नैसर्गिक विषय-रति को, तर्क का आश्रय लेकर, सिद्ध और प्रसिद्ध करने की भी क्या आवश्यकता है? और, मनुष्य मे पुरुषार्थ की स्थापना करना भी बेकार है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। गिरना स्वाभाविक अवश्य है, किन्तु श्रेष्ठ नहीं। ऊँचा उठना और आगे बढ़ना

ही सनातन काल से जीवन का परम उद्देश्य माना गया है। विसर्जन ही सच्चा अर्जन है, जो बडे-से-बडे पुरुषार्थ की, ऊँचे-से-ऊँचे उत्साह की अपेक्षा रखता है।

मेरा यह विश्वास दृढ़ से दृढतर और दृढतम होता गया कि रति और शृङ्गार के अंधाधुन्ध निरूपण और समर्थन ने समाज की जीवन-शक्तियों का बड़ा क्षय किया है। साहित्य के भव्य भवन को नायिकाभेद के विषैले धुएँ ने बुरी तरह भर दिया, जिससे समाज का कई शताब्दियों-तक दम घुटता रहा। राष्ट्र में इस विघातक विचार-धारा के द्वारा नीति-भ्रष्टता और क्लीवता ने भी प्रवेश किया। और तो और, हमारी पवित्र भक्ति-भावना पर भी इसका दुष्ट प्रभाव पड़ा। प्रेम-मार्गी संतों और कवियों ने जिस ज्ञान-गर्भित स्वच्छ प्रेम-रस का स्रोत खोला था उसे अमर्याद शृङ्गार के अन्ध समर्थकों ने बंद कर देने का कुत्सित प्रयत्न किया। रीतिकाल के कुछ कवियो और महाकवियों ने तो गंदगी का ढेर लगाने में हद करदी। नखशिख-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन और नायक-नायिका-वर्णन में ही अपनी सारी प्रतिभा और कला-कुशलता उन्होंने खर्च की। इस परंपरा की बदौलत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में, "प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित-सा हो गया।" साथ ही, समाज की चेतना और पौरुषशीलता को भी संकुचित और निर्जीव कर डाला। मनुष्य की हीन वासनाओं को 'शास्त्रीय रीति' से अनुचित उत्तेजन देकर आखिर उन्होने जीवन की क्या

साधना की ?

आश्चर्य और क्लेश होता था और आज भी होता है, जब मैं देखता था कि हमारे कुछ आधुनिक सुकवि भी स्वाभाविकी अन्तःप्रेरणा और प्रगतिशीलता की ओट में प्रकारान्तर से उसी हीन वासनात्मक शृङ्गार को अपनी रहस्यमयी लाक्षणिक रचनाओं द्वारा अनुचित उत्तेजन देते हैं, और बेचारी कला का ज़बरन नीति से संबंध-विच्छेद करा रहे हैं। शृङ्गार रस के प्रति मेरी इस विद्रोही भावना ने बहुत-से दोहे लिखाने की प्रेरणा दी। 'वीर-सतसई' के रचना-काल में मैं जिस वातावरण में रहा, उससे भी मुझे बहुत-सारा मसाला मिला। राष्ट्र को क्लीव बना देनेवाली विलासिता को नज़दीक से देखा, तो मेरे आतंरिक विद्रोह की आग उससे और भी भड़क उठी। मैंने देखा कि हमारे ऐतिहासिक राष्ट्र-वीरों की कृतियों की आज केवल ठठरी रह गई है। निराशा और मुर्दनी से मुझे उस वातावरण में उत्साह और जीवन का सन्देश मिला। स्त्रैण राजपूतों और नृशंस नरेशों को मैंने अनेक दोहों मे बड़े कड़े शब्दो में धिक्कारा। उत्तान शृङ्गार के प्रमुख प्रतिपादक बिहारी पर भी बुरी तरह आक्रमण किया। जैसे—

"झझकत हियैं गुलाब कैं, झँवा झँवैयत पाइ।"
या विधि इत सुकुँवारता अब, न दई सरसाइ॥

जाव भलैं जरि, जरति जो उरध उसाँसनि देह।
चिरजीवौ तनु रमत जो प्रलय-अनल कै गेह॥

जहँ गुलाब हूँ गात पै गडि छाले करि देत।
बलिहारी! बखतरन के तहाँ नाम तुम लेत॥

होउ गलित वह अङ्ग, जेहिं लागति कुसुम-खरौंट।
चिरजीवौ तनु सहत जो पुलकि-पुलकि पवि-चोट॥

'वीर-सतसई' में सभी प्रकार की वीरता का वर्णन आया। 'विरह-वीर' की उसमें मेरी एक नई कल्पना है, जिसकी आलोचना भी हुई थी। स्वभावत. अस्त्र-बल पर निर्भर करनेवाली वीरता का सबसे अधिक वर्णन सतसई मे आया है। इतिहास ने तथा जन-श्रुतियो ने ऐसे ही वीरो को हमारे सामने उपस्थित किया है। वर्तमान में भी यही हो रहा है और शायद भविष्य में भी ऐसे ही वीरों का वर्णन होता रहेगा। आज की युद्ध-नीति में 'कूट-वीरता' ने भी अपना एक स्थान बना लिया है, और 'कूट-वीरों' का गुण-गान भी होने लगा है। कुल मिलाकर अस्त्र-धारी वीरो को ही इतिहासों और काव्यों ने प्रतिष्ठा प्रदान की है। मैने भी लगभग इसीका अनुसरण किया। पर आज मेरा वैसा मत नहीं रहा। अब अस्त्र-धारियों को प्रथम श्रेणी के वीरो मे स्थान देना अनुचित-सा मालूम देता है। संसार के प्रथम श्रेणी के वीरों में तो प्रह्लाद, रंतिदेव, दधीचि, हरिश्चन्द्र, बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा और गांधी आते हैं। यह सही है कि तलवार से लडनेवाले योद्धा भी रण-भूमि पर अपने प्राणो का मोह छोड़ देते हैं। पर दूसरों के प्राण लेने के विचार से, और तलवार के बल पर वे ऐसा करते हैं। अस्त्र-बल पर निर्भर रहने से आत्म-विसर्जन मे जो अतुलित शक्ति सन्निहित है वह प्राय. क्षीण पड़ जाती है। फिर अस्त्र-बल का उपयोग भी लोक-संहार के लिए ही होता है। अत. अस्त्र-बल के आधार पर पुष्ट होनेवाली वीरता का समर्थन करने को अब जी नहीं करता, यद्यपि ऐतिहासिक और

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आजतक इसी प्रकार की वीरता के पक्ष मे नैतिक एव वैज्ञानिक तर्क उपस्थित किये गये हैं। प्रत्यक्ष मे भी आज उन्हीं योद्धाओं के भारी पराक्रम देखने व सुनने में आ रहे है। उनके शौर्य और पराक्रम की सराहना न करना अपने आपको नीचे गिराना है। उन शूरमाओं के साहस को धन्य है, जो अपने प्राणों को हथेली पर रखकर आकाश से आग मे और समुद्र में हँसते-हँसते कूद पड़ते है। फिर भी निष्ठुर न्याय-तुला उन योद्धाओं को प्रथम श्रेणी के वीरो मे स्थान देने के लिए तैयार नहीं। उस श्रेणी को तो उसने बुद्ध और ईसा, सुकरात और गाधी जैसे वीरों के लिए ही सुरक्षित रखा है। इस श्रेणी में आनेवाले वीरपुरुषों का भी मैंने 'वीर-सतसई' में आदर-पूर्वक उल्लेख किया है, पर मेरा सारा ध्यान तो तब युद्ध-वीरों पर ही केन्द्रित था। जिस वातावरण के बीच 'वीर-सतसई' लिखी गई उसमे मैंने राग और विलास के, द्वेष और प्रतिहिसा के भयकर दृश्य देखे। उन सब अनुभवों का सतसई की रचना पर कहीं तो प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।

'वीर-सतसई' में कई प्राचीन कवियों की सूक्तियों का मैंने भावापहरण भी किया है। आज मैं उसे देखता हूँ तो कई स्थलों पर काफ़ी भाव-शैथिल्य पाता हूं। काव्य-कला की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में एक-से-एक सुन्दर सतसइयाँ है। फिर भी मेरी इस असुन्दर रचना को सहृदय साहित्य-रसज्ञों ने प्रेम से अपनाया और मुझे खासा प्रोत्साहन भी दिया। जब साहित्य-सम्मेलन की निर्णायक-समिति ने 'वीर-सतसई' पर 'मगलाप्रसाद-पारितोपिक' देना घोपित किया, तब मुझे सचमुच

आश्चर्य हुआ। उस निर्णय पर कुछ शकाएँ भी उठाई गईं। यह भी आरोप किया गया कि निर्णायकों ने निर्णय देने मे पक्षपातसे काम लिया है।

सम्मेलन के मुजफ्फरपुरवाले अधिवेशन में पारितोषिक लेने के लिए मुझे निमन्त्रण मिला। उन दिनों मैं पन्ना में था। मित्रों ने बधाइयाँ भी भेजीं, पर इतना बडा सम्मान स्वीकार करते हुए कुछ झिझक सी मालूम देती थी। अस्वीकार भी नहीं करते बनता था। भय था कि इस भारी संकोच की स्थिति में कहीं मुझसे कोई अविनय न हो जाये।

पूज्य टण्डनजी, श्रद्धेय हरिऔधजी और आदरणीय पडित पद्मसिंह-जी के साथ स्वागत-मन्त्रीजी ने मुजफ्फरपुर में मेरे ठहराने का प्रवन्ध किया था। हरिऔधजी के सत्सग का पहली वार लाभ मिला। मुझे दो दिन में ही उन्होंने अपना स्नेह-भाजन बना लिया। अपनी एक-से-एक बढ़कर सुन्दर रचनाएँ स्वय पढ़कर सुनाईं। सुनाने का ढंग भी उनका अनूठा था। उठने को जी नहीं करता था। ऐसा कौन पत्र-सम्पादक होगा, जिसने हरिऔधजी से अपने पत्र के लिए कविता माँगी, और उसे न मिली हो। उन्होंने किसीको खाली हाथ नहीं जाने दिया। और भी कई साहित्य-सेवियों से मेरा वहाँ नया परिचय हुआ। पुरातत्व शोध के महान् पण्डित स्व० काशीप्रसाद जायसवाल का भी दर्शन हुआ। इतना बडा धुरन्धर विद्वान्, जो भारत में ही नहीं, विदेशों में भी काफी ख्याति पा चुका है, इतना विनम्र, इतना सरल! श्रद्धा से उनके चरणों पर अपने आप मेरा मस्तक झुक गया।

जिस दिन मुझे पारितोषिक मिलनेवाला था, उस दिन सवेरे से ही मन में न जाने क्या-क्या सकल्प-विकल्प उठ रहे थे। सम्मान का इतना

बड़ा भार मैं सँभालूँगा कैसे ? इतनी बड़ी रकम लेकर उसका आखिर करूँगा क्या ? स्वीकार न करूँ तो यह मेरी गुस्ताखी कही जायेगी। बच निकलना अब कठिन था। हृदय जैसे एक भारी बोझ से दबा जा रहा था। पर रस्म तो अदा होनी ही थी।

पारितोषिक मुझे सम्मेलन के अध्यक्ष पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने हाथ से प्रदान किया—बारह सौ रुपये, ताम्रपत्र और नारियल। आँखें ऊपर नहीं उठ रही थीं। ऐसा लगता था, जैसे सिर पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ रहा हो। आदरपूर्वक ताम्रपत्र को माथे से लगाया, और अध्यक्ष को तथा सब उपस्थित जनों को भीगी हुई आँखों से नमस्कार किया। समझ में नहीं आ रहा था कि इस महान् सम्मान के उत्तर में कहूँ तो क्या कहूँ। रुँधे हुए कण्ठ से केवल इतना ही कह सका, "त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये!" और वह पारितोषिक-निधि पुन. सम्मेलन के श्रीचरणों पर अर्पित करदी।

मैंने तो अपने हृदय का भार हलका करने के लिए ऐसा किया था, पर उससे मेरा यशोगान होने लगा। हैरान था कि पारितोषिक की निधि को लौटाकर मैंने ऐसा कौन सा बड़ा त्याग किया! वह मेरी कुछ पसीने की कमाई तो थी नहीं। पारिश्रमिक तो प्रकाशकों से मैं पहले ही पा चुका था। यह रुपया तो बिना परिश्रम के ही अकस्मात् मुझे मिल रहा था। मन में, उससे पहले एक बार, लोभ तो आया था कि पारितोषिक का बारह सौ रुपया अपने पास रखलूँ—उससे ऋण भी चुक जायेगा, और शेष रकम से उदर-पूर्ति का साल डेढ़-साल निश्चिन्तता से काम भी चलेगा। पर मेरी वह लोभ-लिप्सा वहीं-की-वहीं दब गई। कुछ मित्रों को मेरा

वह समर्पण अच्छा नहीं लगा, और कुछ को तो, जहाँतक मुझे याद है उसमें मेरे अहंभाव की भी गध आई थी। अस्तु। पारितोषिक की उस निधि से सम्मेलन द्वारा बालोपयोगी वीर-साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। इससे अच्छा उपयोग उस निधि का मैं और क्या कर सकता था?

: १३ :

क्या इसे संन्यास कहूँ ?

सन् १९३३ के बाद कविता से—यदि उस सब रचना को कविता कहा जाये तो उससे, जी अब ऊब-सा चला था। उत्साह उतार पर आ गया था। देखता था कि आजतक जितनी रचना की उसमें कोई खास तत नहीं। उस ढेर में से ढूँढ़ने पर शायद ही एकाध मूल्यवान वस्तु हाथ लगे। सोचता था कि शब्दों के साथ आखिर इतने दिनोंतक मैं यह खिलवाड किस उद्देश्य को लेकर करता रहा! कुछ अशतक उदर-पूर्ति का उद्देश्य अवश्य सधा, पर वह तो अन्य साधनों से भी सध सकता था। हाँ, यशोलिप्सा की नीयत से भी मैं वाग्विलास के इस क्षेत्र में उतरा था। पर वह उन्माद भी दीर्घकालतक चढ़ाव पर न रहा। छन्द-रचना की सनक थोडे ही दिन सवार रही। कहीं पढ़ा था—"वाताधिका हि पुरुपा कवयो भवन्ति", पर सौभाग्य से मेरा वात-रोग अधिक बढ़ा नहीं। जल्दी ही उसका शमन हो गया। यह मानने में मुझे कुछ खेद या पछतावा नहीं होना चाहिए कि मैं कवि या कलाकार के रूप मे असफल रहा। जो अर्थलाभ हुआ उसे मैं बेईमानी की कमाई कहने को तैयार नहीं, पर उससे जो यशोलाभ हुआ उसे तो मैं जुए की

ही कमाई मानता हूँ।

चित्त शकाशील हो गया था, फिर भी छन्द-रचना से सबध-विच्छेद न हो सका था। कविता लिखने का आखिर उद्देश्य क्या है ? मैं जो कुछ लिखता हूं,उससे कई गुना अच्छा लिख-लिखकर लोग छोड गये है। फिर भी हम लिखे ही जाते हैं। यह सही है कि 'तदपि कहे विना रहा न कोई,'पर यह भी तुलसी-जैसा युग-निर्माता कवि ही कह सकता है। तुलसी की वह जीवन-साधना और तुलसी की वह अहकार-शून्यता भी तो हो। किसी मासिक पत्रिका मे कभी पढा था कि कविता का उद्देश्य तो कुछ होता ही नहीं—कविता तो कविता के लिए होती है। उस लेख में 'कोयल की कूक' का भी उदाहरण दिया गया था। पर वह तर्क कुछ जँचा नहीं। यदि ये कवि कविता के लिए ही कविता करते हैं, अथवा अपने लिए ही लिखते हैं,तो उसे सभा-सम्मेलनो में—या अपने मित्रो में ही सही, सुनाने और प्रकाश मे लाने के लिए फिर इतने उत्कठित क्यो रहते हैं ? कोयल अपनी कूक सुनाने किसीके पास कभी गई है ? हाँ, तुलसी की 'स्वान्त सुखाय' वाली बात समझ में आ सकती है। उसमे उद्देश्य की बडी सुन्दर और सजीव व्याख्या मिलती है। तुलसी का अन्तर हमारे अर्थ में 'अपना' कहाँ था ? वह अन्तर तो 'सीय-राममय' अखिल जगत का था। उसीके सुख के लिए, उसीके उदय के लिए तुलसी ने रामचरित-मानस की रचना की थी। तुलसी का वह स्वान्त-सुख कुछ और ही था। मेरे पास न तो वह 'स्व' था, न वह 'अन्तर'—फिर सुख कहाँ से आता ? उद्देश्य-हीन रचना कैसी होती है मैं समझ नहीं सका। बिना किसी उद्देश्य के, सिगरेट से निष्कृत धुएँ की भाँति,

कविता का अन्तरिक्ष में कुण्डलाकार मडराना मेरी समझ में तो कुछ आता नहीं। उद्देश्य तो कुछ-न-कुछ अवश्य होता है—वह उत्तम हो सकता है और हीन भी हो सकता है। मेरा अपना उद्देश्य न उत्तम था न वैसा हीन। मैंने अपनी वाणी या लेखनी को जराभर वहकने नहीं दिया। फ़रमायश पर लिखना मुझे कभी आया नहीं। और प्रतिभा भी वैसी प्रखर नहीं थी।

दिन-दिन यह विचार व्याकुल करने लगा कि मैंने कविताएँ तो लिख डालीं, पर कवि न बन सका। कवि तो ब्रह्मा की तरह सजीव सृष्टि खड़ी कर देता है। अपनी तरफ देखा, तब विधाता बनना तो बहुत दूर, एक कुशल कुम्हार भी न बन पाया। चौदह-पन्द्रह वर्षतक अटपटी आकृतियों के कुछ शाब्दिक घडे ही मैंने कल्पना के टेढे-मेढे चाक पर उतारे थे। उन अनघड घडों में कभी जीवन-रस न उँडेल सका। सहज में रस कुछ पट भी जाता, तो उनमें इतने अधिक छिद्र थे कि एक बूँद भी न ठहर पाती। कुशल कुम्हार बनने के लिए भी तो प्रतिभा और तपस्या की ज़रूरत होती है। मेरे कवि-जीवन में इसका भी अभाव रहा। किन्तु आश्चर्य है कि इस प्रत्यक्ष अनुभूति के बाद भी मैंने कई कविताएं लिखीं। तृष्णा मर नहीं रही थी। उसे मारना भी नहीं चाहता था। अहिंसा का प्रयोग मैंने अपनी इस तृष्णा पर शुरू किया था।

मेरे अन्दर एक तरफ तो यह मन्थन चल रहा था। दूसरी तरफ, कविताएँ भेजने के तकाज़े आते थे। कद्र भी कविता की तब हुई, जब कि मै उसे दिल से उतारने का इरादा कर रहा था। पत्र आया करते—और अब भी कभी-कभी आ जाते हैं, कि 'विशेषांक के लिए तो अवश्य

अपनी एक नई रचना भेजिए', अथवा 'इस विराट् कवि-सम्मेलन में तो कृपया अवश्य पधारिएगा, न आ सकें तो अपनी कविता ही भेज दीजिएगा।' गुण-ग्राहकता से भरे ऐसे पत्रों का जवाब न देना ही मैंने मुनासिब समझा। काव्य-रसिकों के प्रति मैंने बेअदबी तो ज़रूर की, मगर बहुत सारी आफ़त से अपने को बचा लिया।

लिखने में अब पहले के जैसा रस नहीं आता था, फिर भी लिखना छूट नहीं रहा था। अक्सर अपने कवि-जीवन का सिंहावलोकन भी कर लिया करता। मैंने सचमुच कभी 'अष्टछाप' की कक्षा मे बैठने की आकांक्षा की थी और कभी 'भूषण' और 'सूदन' बनने के स्वप्न देखे थे। ये मन-मोदक भी बड़े स्वादिष्ट लगते थे। मेरे एक-दो प्रशंसक ऐसा मान भी बैठे थे। कुछ अरसिक आलोचकों ने मेरी खबर भी खूब ली थी। उनकी आलोचना से मानसिक क्लेश तो हुआ था, पर मैंने उन्हें 'अनधिकारी' माना था। सच ही कभी-कभी मैं अपने को उन महाकवियो का समकक्ष समझ बैठता था। इस प्रकार की 'समझ' से यदि कवि का निर्माण होता हो, तो निस्सन्देह मै कवि बन गया था।

अपनी रचनाओं को आधुनिक सुकवियों की भी कृतियो के आगे रखता, वो फीकी और हलकी मालूम होती थीं। रत्नों की प्रदर्शिनी में काच के टुकड़ों का रखना खुद ही भद्दा और लज्जाजनक-सा लगने लगा। मित्रों के अनुरोध को टाल देता, जब वे सुनाने को कहते। कविता छूट जाने के बाद तो काव्य-चर्चा भी अच्छी न लगती थी। स्वभाव मे धीरे-धीरे जैसे कुछ रूखापन आ गया। समझा यह गया कि मैं अभिमानी हो गया हूँ। अपनी पुस्तक में दो साहित्य-यात्रियों ने मेरे अभिमानी स्वभाव

का उल्लेख भी किया है। कोई छह-सात साल की बात है। एक दिन शाम को दो साहित्य-यात्री मुझसे तथा श्रीरामनाथ 'सुमन' से साहित्यिक मुलाक़ात लेने की गरज़ से हरिजन-निवास पहुँचे। उस समय मैं इमारती काम का हिसाब देख रहा था, जो बड़ा ज़रूरी था। उन आगन्तुकों से मैंने थोडी बात की और अपने काम में लग गया। उन्होंने रहस्यवाद की चर्चा छेड़दी। अब मैं उनकी बातों का जवाब दूँ या हिसाब-किताब जाँचूँ ? साहित्य-यात्रियों ने मेरी कठिनाई को न समझा। हिसाब देखना मुश्किल हो गया। दो मज़दूरो की मज़दूरी झगडे में पड़ी थी। लकडीवाला अलग अपना बिल पास कराने के लिए बैठा था। मगर वे दोनो हज़रत उठने का नाम नहीं ले रहे थे। मैं मन-ही-मन खीझ रहा था। उनका विषय-प्रवाह रुक नहीं रहा था। याद नहीं किस बात पर उन्होने पूछा कि 'आपका आखिर भाव क्या है ?' 'आप भाव पूछते हैं ? तो ये हैं—ईंट का भाव तो पन्द्रह रुपये हज़ार है, सीमेंट सवा दो रुपये बोरी मिला हे और चूना बारह आने मन, और पूछिए।' मेरी इस अशिष्टता पर एक महाशय तो बहुत बिगडे। आसन को छोड़ते हुए बोले, 'हम आपसे ईंट-चूने का भाव पूछने नहीं आये हैं। आप हृदय-हीन हैं, जो हमारे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का इस बुरी तरह जवाब देते है। हम लोग तो आपके पास कुछ और ही समझकर आये थे। गलती हुई, क्षमा कीजिए।' नमस्कार करके चले गये। मज़दूर बहुत खुश हुए। बाद को मालूम हुआ कि उन सज्जनो के चढे हुए पारे को सुमनजी ने अपने शीतल व्यवहार से उतार दिया था। उन्होंने अपनी यात्रा के अनुभवों में मुझे शुष्क और अभिमानी लिख दिया तो अनुचित नहीं किया।

गांधीजी हमारे हरिजन-निवास में ठहरे हुए थे। एक दिन मैंने उनके सामने अपने सारे विचार रख दिये, और पूछा कि 'कविता लिखना अब मैंने छोड़ने का निश्चय कर लिया है। इस बारे मे अगर अपना वक्तव्य पत्रों में देदूँ तो अनुचित तो न होगा ?"

गाधीजी ने धैर्यपूर्वक सुनकर कहा—"इन विचारों से प्रेरित होकर अगर कविता का छोड देना तुम्हें सहज लगता हो तो वैसा कर सकते हो। पर इसे 'त्याग' न मानना। तुम्हारे वक्तव्य में अहंकार की भावना न हो।"

कविता से यह विच्छेद वास्तव मे कोई 'त्याग' नहीं था। कविता को मैंने छोडा इससे तो यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि कविता ने या कविता की छाया ने मुझे छोड़ दिया। यदि वस्तुत. मै कवि होता तो कविता मुझसे छूट नहीं सकती थी। वक्तव्य, फिर भी, मैंने दो तीन महीने बाद पत्रो में प्रकाशित कराया। पर अपना निश्चय इन्दौर में मध्यभारत-साहित्य-समिति की एक सभा मे व्यक्त कर दिया। यह सन् १९३९ के फरवरी की बात है। इन्दौर के बाद खंडवा मे भी उक्त निश्चय को दोहराया। पडित माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने निवास-स्थान पर मेरे स्वागतार्थ एक साहित्यक गोष्ठी का आयोजन किया था। चतुर्वेदी जी के कई शिष्यों ने बडी सुन्दर कविताएँ सुनाई थीं। उनका आग्रह था कि मै भी उस गोष्ठी में साहित्य पर कुछ कहूँ। मेरे मन में जो मन्थन हुआ था उसीको लेकर मैंने कविता पर अपने कुछ विचार व्यक्त किये। मेरे निश्चय पर चतुर्वेदीजी को दु ख हुआ। मेरे 'छाया-कवि'की अकाल मृत्यु पर उन्होंने शोकोद्गार भी प्रकट किये। इस निरर्थक व्यापार या व्यसन मे फँस जाने की मेरी सारी कहानी इतने में आजाती है—

भावावेश में कल्पनाओं का उफान उठा, उस उफान को मैंने छन्द में ढाल लिया, देखनेवालों ने मेरे इस कौशल को प्रोत्साहन दिया—और मैं कवि बन गया। मेरे भोले प्रशसकों ने उदारतापूर्वक उत्साह न दिया होता तो अधिक से-अधिक यही होता कि उनकी गणना में गुण ग्राहकों में न करता। उनका कुछ बिगडता नहीं, और मेरा बहुत बडा उपकार हो जाता। प्रशसकों से डरना या भडकना सीख लिया होता, तो मैं इस अनावश्यक व्यसन में फँसने से बच जाता।

और आज अपनी इस आप-बीती से दूसरों को कुछ लाभ पहुँचाने की चेष्टा करूँ, तो मेरा यह कोई गुनाह न समझा जाये। हमारे हिन्दी-जगत् में कविता का रोग व्यापक सा बनता जा रहा है। उदार-गुण-ग्राहक बेजा प्रोत्साहन दे-देकर अनजान में हज़ारों का अहित कर रहे हैं। साहित्य के हक़ में इस प्रवृत्ति का बढ़ना शुभ मालूम नहीं देता। उदार प्रशसक ज़रा किफ़ायतसारी से काम लें। साथ ही, उदारतापूर्वक प्रशसा पानेवाले भी प्रोत्साहन मिलने से रबड की गेंद की तरह अपने सहज शील को न भूल जायें। बेचारी गेंद का अतर तो खाली होता है, इसलिए हवा की फूँक ही उसका सारा वैभव है, जबकि मनुष्य के अतर में अनेक गुणों की निधि पहले से ही भरी पड़ी है। फिर कवि तो मनुष्य की पूर्णता का प्रतिरूप है। उस पूर्णता को लोकस्तुति की भूख होनी ही नहीं चाहिए।

मेरे कई मित्रों ने इसे मेरा 'साहित्य-सन्यास' समझा है। मैं नम्रतापूर्वक कहूँगा कि उनका ऐसा समझना सही नहीं है। कृपाकर वे 'साहित्य' का सकुचित अर्थ न करें—और 'सन्यास' शब्द को भी अपने गौरवस्थान पर प्रतिष्ठित रहने दें।

: १४ :

गद्य-काव्य

पद्य-प्रकरण तो समाप्त हुआ। अब गद्य की भी कुछ कहानी सुनलें। कहा है—'गद्य' कवीना निकषं वदन्ति'। यदि गद्य की कसौटी पर खरा उतर जाऊँ, तो फिर मुझे अपने को असफल कवि नहीं कहना चाहिए, इसका यही अर्थ हुआ। बहुत वर्षोंतक मैं इतनी-सी भी सीधी बात न समझ सका कि पद्य में व्यक्त किया जाये या गद्य में, व्यक्त करने के लिए कुछ अनुभूत भाव या विचार भी तो हों। पद्य और गद्य तो यह ऊपर के खोल हैं। पर मैंने तो ऊपर के इन रग-विरंगे आवरणों को ही मुख्य मान लिया था।

इलाहाबाद गया उससे पहले गद्य में एक पंक्ति भी नही लिखी थी। 'संक्षिप्त सूरसागर' के सम्पादन-कार्य से छुट्टी पाई, तब छोटे-छोटे निबन्ध लिखने का आरम्भ किया। उन निबन्धों में भी, कविता की ही तरह, ऊपरी सजावट पर ही मेरा खास ध्यान रहा। मित्रों ने मेरे उस अभिनव प्रयास को गद्य-काव्यों की श्रेणी में स्थान दिया। इससे पहले यह 'गद्य-काव्य' शब्द मैंने सुना भी नहीं था। उस निबन्धावली का नाम "तरंगिणी" रखा गया। साहित्योदय के सचालक श्रीभवानीप्रसाद गुप्त

ने उसे प्रकाशित किया, और इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर पंडित शिवाधार पांडेय ने इसकी प्रस्तावना लिखी। पांडेयजी का सरल स्नेह-भाव मैं आज भी नहीं भूला हूं। उनसे मेरा परिचय स्व० देवेन्द्रकुमारजी ने कराया था। अंग्रेजी साहित्य के बहुत बड़े विद्वान्, फिर भी हिन्दी साहित्य के प्रति उनके हृदय में अगाध भक्ति-भाव। पाँच-सात बार उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। हमेशा हँसमुख, मिलनसार और विनम्र पाया। पांडेयजी ने कुछ कविताएँ भी लिखी थीं। याद पड़ता है कि उन्होंने एक दिन मुझे अपनी 'बेला-चमेली' नाम की यह रचना बड़े प्रेम से सुनाई थी—

बदरी करौंदे, सारे सीधे-औंधे
खड़े हुए बाँधे कतार।
फूले-फूले फालसा, खिन्नियाँ मदालसा
थेई-थेई थिरकें अपार॥
केला नासपाती बनठन बराती
नाचें शराबियों की तौर।
आलू रतालू ले-लेके ब्यालू,
खावें अलग चुप्प चोर॥

काफी लम्बी कविता थी। पर मुझे कुछ जँची नहीं। मेरे मुंह से निकल गया, "पांडेयजी, यह क्या गोरख धंधा रच डाला! मुझे तो आपकी इस अजीब-सी चीज़ में ज़रा भी रस नहीं आया।" स्पष्ट ही मेरी यह टीका अशिष्टतापूर्ण थी। छोटे मुँह बड़ी बात कह गया। विनय का कुछ भी ध्यान न रहा। परन्तु पांडेयजी ने मेरी अविनयपूर्ण आलो-

चना को प्रेम से सुना, और अपनी रचना का भावार्थ खोलकर समझाया। मैं अपनी अशिष्टता पर बड़ा लज्जित हुआ।

"तरंगिणी" जब छपकर मेरे हाथ में आई तो हर्ष और गर्व का पार न रहा। मुझे लगा कि मेरा यह गद्य-काव्य रवि बाबू की 'गीतांजलि' से महत्त्व में शायद ही कुछ कम हो! 'गीतांजलि' का एक साधारण-सा हिन्दी-अनुवाद ही मेरे देखने में आया था। बंगला की तब वर्णमाला भी नहीं जानता था। गीतांजलि के पदों का अलौकिक रसास्वादन तो बहुत पीछे किया। आज मुझे अपनी उस उद्धत मूढ धारणा पर बड़ी हँसी आती है। मनुष्य अपने-आपको कैसा धोखे में डाल देता है!

भाव की दृष्टि से 'तरंगिणी' में दूसरों के भावों का काफ़ी अपहरण था, और भाषा तो उसकी बिल्कुल कृत्रिम थी। पंडित गोविन्दनारायण मिश्र की उस भाषा का भी मैंने दो-तीन निबन्धों में अनुकरण किया था, जिसका एक नमूना उनके द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में मिलता है। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस शब्दों के समासान्त वाक्यों को उन निबन्धों में बाँधने का मैंने कष्ट-साध्य प्रयत्न किया था। यह है उसका एक नमूना—

"तू मुझे बुलाता है, निरन्तर बुलाता है। जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कल-कल-रव-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूं, सुमन्दस्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित कलकण्ठी-कोकिल-कुहूक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरिततृणाच्छादित प्रकृति-परिष्कृत-बहुवनस्पति-सुगन्धित सुखद भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहगपूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्णशृङ्ग-शुभ्र-स्फटि-

कोपम-शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्द्धोन्मीलित साश्रु-नयन द्वारा अस्तप्राय तप्तकाचनवर्ण-रविमंडल-भव कमनीय कान्ति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुन्दर लज्जावनत अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक पवन आकर श्रवणपुट द्वारा तेरा विरहोत्कण्ठित प्रिय सन्देश सुना जाता है।"

मेरे कुछ प्रशंसकों ने कहा और मैंने भी मान लिया कि मेरा यह गद्य तो बाण और दण्डी के पद-लालित्य की याद दिलाता है। मुझे अपनी इस कृत्रिम भाषा-शैली पर भारी गर्व होगया।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ सान्निध्य होजाने से मुझे साहित्य के अनेक ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने का बड़ा अच्छा अवसर मिला। छतरपुर में तो मैं पढ़नेके लिए तरसता था। हमारे राजकीय पुस्तकालयतक सर्व-साधारण की पहुंच नहीं थी। प्रयाग में जाकर मेरी वह पढ़ने की पुरानी साध पूरी हुई। अधिकतर मैंने काव्य की ही पुस्तकें पढ़ीं। कितनी ही सूक्तियों का संग्रह कर डाला। उस सूक्ति-संग्रह का उपयोग मैंने कुछ नई शैली के निबन्धों में किया। उस शैली को मैं पंडित पद्मसिंह शर्मा की शैली कहता हूँ। उन निबन्ध-सूत्रों में सूक्ति-मणियों को गूँथने की चेष्टा की। निबन्ध-संग्रह का नाम "साहित्य-विहार" रखा। "साहित्य-विहार" प्रयाग के साहित्य-भवन से प्रकाशित हुआ। प्रस्तावना उसकी स्व० पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने लिखी। चतुर्वेदीजी मुझपर बहुत स्नेह करते थे। ब्रज-साहित्य के बड़े रसिक थे। जब कभी प्रयाग आते मुझसे अवश्य मिलते थे। साहित्य-विहार की शैली पर कुछ और निबन्ध लिखने के लिए चतुर्वेदीजी ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया था।

गद्य-काव्य की चार पुस्तकें और कोई पन्द्रह साल के अर्से में लिखीं, जिनके नाम 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना' और 'ठंडे छींटे' हैं। भाषा तथा भावों में उत्तरोत्तर परिष्कार और सुधार होता गया। अनेक दोष भी दृष्टिमें आये। कई लेखों में मुझे भाषा और अलकार का आडम्बरमात्र दिखाई दिया। देखा कि अस्पष्ट अभिव्यजना के अतिमोह से यदि मुक्त न हुआ, तो सम्भव है कि, मेरा गद्य-काव्य आगे चलकर उन्मत्त का प्रलाप कहा जाने लगे। मैं सँभल गया। ऐसे तमाम अंशों को निकाल दिया। यह देखते हुए भी कि रहस्यमयी अभिव्यंजना के पीछे कितने ही कवि और लेखक पागल होगये है, मैंने अपने आपको उलझन की उस अटपटी राह पर से हटा लिया। फिर भी कुछ-न-कुछ परछाईं तो मेरे शब्द-चित्रों पर उसकी पड ही चुकी थी। हमारे साहित्य में लाक्षणिक अभिव्यजना की ऐसी बाढ आई कि लेखक और उसके विषय के बीच का तारतम्य ही टूट गया। होश रहते हुए भी लेखक प्राय यह भूल गया कि वह क्या कह गया है या क्या कहना चाहता है। और आलोचकों ने तो और भी गज़ब किया। अस्पष्ट अभिव्यंजना की ऐसी-ऐसी लोकोत्तर व्याख्याएँ उन्होंने खोज निकालीं, जिनका अर्थ लगाना कठिन होगया। उलझन को उन्होंने और भी उलझा दिया। शोधको ने पता लगाया कि ऐसी रहस्यमयी अभिव्यजना की जडें ठेठ उपनिषदों के रूपकोंतक पहुँची हैं। यह भी विश्वास किया जाने लगा कि इस प्रकार के रहस्यपूर्ण गीतों के गायक उसी 'मधुमती भूमिका' के एकान्त साधक हैं, जिसका सरस सकेत अपने आध्यात्मिक उद्‌गारों में पूर्वकाल के ऋषियों ने किया था। इधर रविबाबू की प्रखर प्रतिभा ने इन लेखकों की मौलि-

कता को अभिभूत-सा कर दिया। इस रससिद्ध विश्व-कवि का अंधाधुन्ध अनुकरण हुआ। हिन्दी-जगत् में राय कृष्णदास-जैसे विरले लेखक ही अपनी मौलिकता को न्यूनाधिक अंशों में कायम रख सके। अनेक लेखकों ने तो गद्य-काव्य के नाम से अधिकतर बेसिर-पैर की ही बातें लिखी हैं। इस कोटि के लेखकों का एक अलग सम्प्रदाय ही बन गया। पर मैं इस सम्प्रदाय में शामिल नहीं हुआ, यद्यपि गद्य-काव्य के रचयिताओं में मेरे नाम का भी यदा-कदा उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार की दो रचनाओं पर मुझे ममता अवश्य है। 'भावना' और 'प्रार्थना' मुझे आज भी वैसी ही प्रिय हैं, 'प्रार्थना' तो और भी अधिक। ये दोनों बाद की रचनाएँ हैं, पर वैसी प्रकाश में नहीं आईं जैसा कि 'अन्तर्नाद', किन्तु इन उपेक्षिताओं को मैं भुला नहीं सका। न जाने क्यों?

'ठंडे छींटे' में अधिकतर उन भावोद्गारों का सकलन है, जिनको मैंने राज्य और समाज के असह्य अत्याचारों से प्रेरणा पाकर समय-समय पर व्यक्त किया था। स्वसम्पादित "पतित बन्धु" में इन मुक्तक विचारों का लिखना शुरू किया था। उन दिनों मैं पन्ना राज्य में था। सिवा 'अन्तर्नाद' के ये तीनों ही पुस्तकें मैंने वहीं बैठकर लिखी थीं। 'भावना' और 'प्रार्थना' लिखते समय मेरी जैसी मन स्थिति थी, वह 'ठंडे छींटे' के रचना काल में न रही। मैंने इसी पृथिवी पर, इसी जीवन में नरक के बीभत्स चित्र देखे। मानव द्वारा मानव की अप्रतिष्ठा कहाँतक हो सकती है, स्वार्थ-साधन के लिए देव-दुर्लभ मानव-जीवन किस-किस तरह घोर नरक में परिणत किया जाता है, इसके मुझे प्रत्यक्ष

अनुभव हुए। उन्हीं अनुभवों को 'ठंडे छींटे' में मूर्तरूप देने का मैंने प्रयत्न किया। साथ ही, उसमें कुछ भक्ति-भावना के भी मुक्तक उद्‌गार व्यक्त किये।

लगभग इसी अलंकारी शैली में दो पुस्तकें और उन्हीं दिनों लिखी थीं—'पगली' और 'विश्वधर्म।' यह 'विश्वधर्म' भी प्रकाश में नहीं आया।

कोई दो-ढाई साल की बात है। एक मासिक पत्रिका के सम्पादक महोदय ने बड़ा आग्रह किया कि उनकी पत्रिका के लिए मुझे ज़रूर कुछ-न-कुछ लिखते रहना चाहिए—"आपसे मैं कविता लिखने के लिए नहीं कहूँगा। पर क्या आपने गद्य-गीतों का लिखना भी छोड़ दिया है? एक-दो गद्य-गीत तो आप बड़े मज़े में हर मास हमारी पत्रिका के लिए लिख सकते हैं," उन्होंने बड़े अनुरोध के साथ कहा।

"खेद है कि आपकी इस आज्ञा का भी पालन न कर सकूँगा। फिर आप एक ऐसे आदमी से गीत लिखवाना चाहते हैं, जिसे न स्वर का ज्ञान है, न ताल का।"

"लेकिन गद्य-गीतों में स्वर-ताल की क्या आवश्यकता है? मेरा आशय असल में गद्य-काव्य से है।" सम्पादकजी ने अपना अभिप्राय समझाते हुए कहा।

"नहीं, स्वर-ताल गद्य-गीत में भी आवश्यक है। गीत तो गीत है, फिर वह पद्य में हो या गद्य में।"

"और गद्य-काव्य?"

"गीत और काव्य में कोई विशेष अन्तर नहीं। मुझे तो आप क्षमा

ही करें। मैं अपने को गद्य-गीत या गद्य-काव्य लिखने का अधिकारी नहीं मानता।" मैंने अपना पिंड छुड़ाते हुए कहा।

"पर आपने जो कई गद्य-काव्य लिखे हैं ?"

"मैं उनको काव्य नहीं मानता। जो लिख दिया सो लिख दिया। खेद है कि आज मैं वैसा भी न लिख सकूँगा। दोबारा अब उन स्वप्नों का देखना सम्भव नहीं।" मेरे इस उत्तर से भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

यह सब जो भी लिखा, मेरी भावुकता का ही परिणाम है—और भावुकता भी वह, जिसे अलंकारी भाषा ने, आडम्बरी शैली ने अपने आप में शुद्ध नहीं रहने दिया। मेरी रचनाओं को न ज्ञान का विकास मिला, न श्रद्धा-भक्ति का सहारा मिला। लोगों में एक भ्रम अवश्य प्रचार पा गया कि मैं भी 'गद्य-काव्यों' का एक रचयिता हूँ। मेरी इस असफलता की स्वीकारोक्ति से यदि यह भ्रम दूर हो जाये, तो मैं इसे अपनी एक सफलता ही समझूँगा।

: १५ :

लेखन-व्यवसाय

यद्यपि मैं न तो सफल कवि बन सका, न-सिद्धहस्त लेखक, तो भी जीविका का मुख्य सहारा मेरा किसी-न-किसी रूप मे लेखन-व्यवसाय ही रहा। मैं आज भी अपने को लगभग 'मसि-जीवी' ही मानता हूँ। छोटी-बड़ी सब मिलाकर चालीस से ऊपर पुस्तकें लिखीं। इनमे स्वरचित, संकलित व सपादित सभी पुस्तकें आजाती हैं। न चाहते हुए भी लेखन धीरे-धीरे मेरा व्यवसाय बन चला, पर उससे मैंने खास कुछ उपार्जन नहीं किया, वैसा तब ज्ञान भी नहीं था। कुछ पुस्तकें तो बिना कुछ पारिश्रमिक लिये ही प्रकाशकों को देदीं। सम्मेलन के लिए भी जो लिखा उसमें कभी आर्थिक हेतु नहीं जोड़ा।

परन्तु प्रकाशन में मुझे कोई खास कठिनाई नहीं आई। केवल 'प्रेमयोग' के प्रकाशन के सम्बन्ध में पाँच सात प्रकाशकों के साथ कुछ पत्र व्यवहार करना पडा था। उन दिनों मुझे काफ़ी आर्थिक कष्ट था। कॉपीराइट उसका कम-से कम ५००) में देना चाहता था। अपने आदरणीय मित्र पडित पद्मसिह शर्मा को भी मैने इस विषय में लिखकर कष्ट दिया था। शर्माजी ने बडी सहानुभूति के साथ मेरे पत्र का उत्तर

लिया, उसे मैं नीचे उद्धृत करता हूं —

"प्रिय वियोगी हरिजी, प्रणाम ।

कृपा-पत्र मिला । आपकी चिन्ता का कारण जानकर चिन्ता हुई । हिन्दी ससार मे ऐसा प्रकाशक मिलना दुर्लभ है, जो अच्छी चीज़ की क़द्र करे और पेशगी पुरस्कार भी देदे । प्रकाशक प्राय. अर्थपिशाच हैं, उनके यहाँ सब धानों का भाव २२ पसेरी है !

लोकरुचि को भ्रष्ट करनेवाले खरीदार है । हिन्दी में आज अश्लील किस्से-कहानियों की भरमार है, अच्छे साहित्य को कोई पूछता ही नहीं । एक सस्कृत कवि की सूक्ति याद आरही है—

जातेति कन्या महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्क ।
दत्ता सुख प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्व खलु नाम कष्टम् ॥

यही बात आजकल अच्छी रचना के विषय मे भी लागू हो रही है । एक प्रकाशक महाशय मेरे लेख सग्रह के लिए बहुत लालायित थे । जब पुरस्कार की बात चली, तो पहले ॥) पेज कहा, फिर १) पेज पर आकर ठहर गये, और वह भी बाद को पुस्तक बिकने पर !

मुजफ्फरपुर मे जो प्रकाशन का आयोजन होरहा था, वह लोग भी ढीले पड गये । मेरा लेख-सग्रह लिया था वह भी अभी खटाई में ही पड़ा है । न जाने कब प्रकाशित हो और क्या मिले । 'प्रेमयोग' के बारे में भी उनसे आपकी शर्त लिखकर पूछूँगा । इण्डियन प्रेस को भी लिखूँगा । और तो कोई नजर आता नही, जिससे बात की जाये ।

गुरुकुल कागडी, भवदीय
चैत्र व. १२।८९ पद्मसिंह शर्मा

'प्रेमयोग' को बडी खुशी से गोरखपुर के गीताप्रेस ने प्रकाशनार्थ ले लिया। पेशगी ४००) भी भेज दिये। पुस्तक को शुद्ध और सुन्दर छापा, और प्रचार भी उसका अच्छा किया। पर यह तो एक अपवाद था। ऐसे व्यवहार-शुद्ध प्रकाशकों को हम उँगलियों पर गिन सकते है। पडित पद्मसिहजी ने जो अन्तर्व्यथा अपने उक्त पत्र मे व्यक्त की है वह आज भी सर्वथा सत्य है। हिदी का यह घोर दुर्भाग्य है, जो शर्माजी-जैसे अमरकीर्ति लेखको की कृतियो का मूल्य ॥) या १) पेज लगाया जाये और उन्हें बडी वेदना और क्षोभ के साथ यह लिखने को बाध्य होना पडे कि 'प्रकाशक प्राय अर्थपिशाच हैं।'

हिदी के लेखकों की कहानी बडी करुणाजनक है। कई ऊँचे लेखको के दिन सचमुच बडे कसाले मे कटे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, रामदास गौड, चन्द्रशेखर शास्त्री प्रभृति साहित्य-कार अपने रक्त की अंतिम बूँद देकर भी हिन्दी की आराधना करते रहे, जीवनभर ऋण के भार से बुरी तरह दबे रहे, भूखों मरने की भी नौबत कई बार आई, पर किसीने कभी उन्हे पूछा? हाँ, यह बेशक सुना गया कि हिन्दी में अच्छी चीज़ें नहीं निकल रहीं—हिदी में पढ़ने-लायक़ कुछ है नहीं। मगर इन शिकायत करनेवालो से कोई पूछे कि तुमने हिन्दी को ऊँचा उठाने के लिए कुछ किया भी है? बात-बात में अँग्रेजी साहित्य की महिमा गानेवाले इन असन्तुष्ट आलोचको ने हिन्दी लेखकों को क्या प्रोत्साहन दिया? अग्रेजी के मामूली लेखकों को भी हिन्दी के अच्छे लेखकों के मुकाबिले कितना अधिक पुरस्कार दिया जाता है। हिंदी मे जो भी साहित्य-सम्पदा आज दिखाई देती है, उसका

अर्जन और उसका रक्षण अकिंचिनों ने ही अपने पुण्य साधनो से किया है। समाज उनसे कभी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।

साधनहीन लेखकों की सहायता करने के लिए अखबारों मे कई बार हृदयस्पर्शी अपीलें निकाली गई। उन्हें वृत्तियाँ देने-दिलाने की भी तजवीज़ें सोची गईं और कुछ लेखको को उनकी दुरवस्था पर रहम खाकर कभी-कभी कुछ आर्थिक सहायता पहुँचाई भी गई, पर मुझे हमेशा ऐसी तमाम तजवीज़ें अपमानजनक और हीन मालूम हुई। लेखक अपने को असहाय, अपग और अनाथ क्यो माने? कर्त्तव्य-भ्रष्ट समाज उसकी क़द्र नहीं करता, तो अपने दुर्दिनों में उसके सामने, मोहताज की तरह, उसे हाथ नहीं फैलाना चाहिए। मिट्टी खोद-खोदकर और घास छील-छीलकर अपना और अपने कुटुंब का पेट भरे, और अपने जीवन-घट से साहित्य-रस का पान निष्काम भाव से समाज को जितना बन पडे कराता रहे। जो कष्ट उसे सहन करना पडता है, उसे वह स्वेच्छा से सहन क्यों न करे? प्रकाशक की फरमाइश पर लिखना छोडदे। प्रकाशक को शोषण करने का मौका वह दे ही क्यों? समाज सम्मानपूर्वक अपने लेखकों के चरणों पर यदि भेट चढ़ाता है, तो वह उनका कोई उपकार नहीं करता, बल्कि ऐसा करके स्वय उपकृत होता है। स्वाभिमानी लेखकों को भिक्षुक बनकर अर्थलोलुप प्रकाशकों और उपेक्षक समाज के आगे हाथ नीचा नहीं करना चाहिए।

ऐसे विचार अक्सर मेरे मन में आते थे, और आज भी आते हैं। लेकिन परिस्थितियो ने मुझे भी दो या तीन बार बुरी तरह झकझोर डाला, और प्रकाशकों के आगे हाथ फैलाने के लिए मजबूर कर दिया।

तीन संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशकों की फरमाइश पर तैयार करने पड़े और मेरी गरज़ का पूरा फायदा उठाकर सस्ते दामों में उन्होंने मेरा परिश्रम खरीद लिया। सन्तोष यही रहा कि प्रकाशकों की बेजा फरमाइश की चीज़ मैंने कभी नहीं लिखी—लिखाने की उनकी हिम्मत भी नहीं पड़ी। कई प्रकाशक तो लेखकों की वेश्या से अधिक कद्र नहीं करते। गरज़मन्द लेखक भी लोभ में आकर उनकी बेजा फरमाइश पर गलीज़-से-गलीज़ चीज़ लिखने को तैयार हो जाते हैं।

लेखन आज प्रतिष्ठित व्यवसाय के रूप में नहीं चल रहा है, किसी तरह वह पेट भरने का एकमात्र जरिया है। कभी वैसा बन भी सकेगा इसमें भी सन्देह है। लेखन व्यवसाय के रूप में कदाचित् यहाँ हमारे देश में था भी नहीं। विचारों और भावों को, या मस्तिष्क और हृदय को बेचनेवाले प्रतिष्ठा के पात्र कभी नहीं समझे गए। लेखन को व्यवसाय के रूप में चलाना अनुपयुक्त भूमि में विदेशी पौदे का रोपना है। अपने यहाँ तो गोरस भी बेचना अनुचित समझते थे। फिर 'हृदय-रस' बेचने की तो बात ही क्या। किन्तु पहले की वे परिस्थितियां आज नहीं रहीं। जो कभी नहीं किया था वैसा भी करने को आज बाध्य होना पड़ रहा है। दिनों के फेर से साहित्यकारों को अपना अनमोल शील भी आज बाजार में रखना पड़ रहा है। और उनकी दीन-हीन परिस्थितियों से बड़ा अनुचित लाभ उठाया जा रहा है।

सद्भाव या शुद्ध व्यवहार बहुत कम प्रकाशकों का लेखकों के साथ रहा है। पहले संस्करण में उनकी पुस्तकों का जो आदर होता है, वह बाद के संस्करणों में नहीं रहता। रद्दी कागज़ पर बड़ी दरिद्र छपाई करते हैं।

लेखक को कभी-कभी पता भी नहीं चलता कि उसकी पुस्तक के कितने संस्करण हो गये। शायद रायल्टी की पद्धति में ऐसा न होता होगा। मुझे उसका अनुभव नहीं। मेरी कई पुस्तकों की यही दुर्गति हुई। अपने एक मित्र को मैंने प्रकाशनार्थ दो या तीन पुस्तकें दी थीं, और व्यक्तिगत रूप से दी थीं। साझेदारों में कुछ आपसी झगड़े चले और दुर्भाग्य से मेरी वे पुस्तकें मेरे मित्र के पास से निकलकर एक दूसरे सज्जन के हिस्से में चली गई। मुझे इसकी सूचना भी नहीं दी गई। उन महाशय ने बिना मुझसे कुछ पूछे-ताछे पुस्तकों का छापना शुरू कर दिया। उस प्रकाशन में मेरी विनय-पत्रिका की टीका भी थी। प्रूफ-संशोधन के लिए मेरे पास पुस्तकें वे निस्संकोच भेज सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। पुस्तकों के, खास कर, 'विनय पत्रिका' के नये संस्करण देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। अशुद्धियों की भरमार थी। पर प्रकाशक महाशय को इससे क्या। उन्हे तो पुस्तक बेचने से मतलब था। बेचने में कोई कठिनाई भी नहीं आती थी, क्योंकि पुस्तक बाजार में अपना स्थान बना चुकी थी।। मैंने अपने मित्र से शिकायत की। पर उनके सामने शायद कोई चारा नहीं था। पछताने लगे। मैं भी आगे और क्या कह सकता था। मन मारकर रह गया। 'वीर-सतसई' और 'पगली' की भी लगभग ऐसी ही दुर्गति हुई। मैने तो अच्छे घर देखकर ही अपनी पुस्तक रूपी कन्याओं को दिया था, मुझे सन्देह नहीं था कि 'दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति'—पर उनके भाग्य फूट गये। इसे विधाता का दुर्विधान ही कहना चाहिए।

इस सब से तंग आकर कुछ कवि और लेखक खुद प्रकाशक बन गये,

लेकिन प्रकाशन की कीमत में उन्हें अपनी प्रतिभा का बहुत-सा अंश देना पड़ा। व्यवहार-कुशल बहुत कम लेखक देखे गये। यदि व्यवहार-कुशलता की ओर बहुत ज्यादा झुके तो लेखन-प्रतिभा में व्याघात हुआ। फिर भी शायद कुछ लेखक दोनों चीजों को एकसाथ निभा ले जाते हैं। बिना मोल-तोल किये वे एक पंक्ति भी लिखने को तैयार नहीं होते। मेरे मित्र स्व.श्रीरामदास गौड़ अपने बचपन का एक किस्सा सुनाया करते थे। एक दिन एक बढ़ई उनके घर पर अपना खत पढ़वाने के लिए पहुँचा। गौड़जी ने खत पढ़कर सुना दिया। उसके चले जाने के बाद गौड़जी के चाचा उनपर बहुत बिगड़े—"नासमझ लड़के, तूने बगैर कुछ उजरत लिये उसका खत यूँही पढ़ दिया। तेरी खड़ाऊँ की खूँटी अगर टूट जाये, तो क्या वह बढ़ई बिना पैसे लिये मुफ्त में नई खूँटी लगा देगा? तू एक मुंशी का लड़का होकर ऐसी बेवकूफी कर बैठा!"

लेखन कला को व्यवसाय बनाने के लिए अभागे लेखकों को अभी न जाने क्या-क्या सीखना पड़ेगा।

: १६ :

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

(१)

जान्स्टनगंज, प्रयाग के जिस किराये के मकान में श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन पहले रहते थे, शुरू-शुरू में उसी मकान के एक कमरे में, मुझे बतलाया गया, सम्मेलन का प्रारंभिक कार्यालय था। उसी कमरे में बैठकर मैंने 'संक्षिप्त सूरसागर' का संपादन-कार्य किया था। उस कमरे को हम लोग 'सम्मेलनवाला' कमरा कहते थे। पंडित बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र श्रीमहादेव भट्ट उसी कमरे में, एक छोटी-सी चौकी पर बैठकर, पत्र-व्यवहार का काम किया करते थे। मैं जब इलाहाबाद गया, तब उन दिनों अहियापुर में भारती-भवन पुस्तकालय के सामने एक छोटे-से मामूली मकान में सम्मेलन का दफ्तर था। मकान बिल्कुल जर्जरित अवस्था में था। न उसमें प्रकाश आता था, न स्वच्छ हवा। पाखाना तो उसका बड़ा ही गंदा रहता था। मेरे मित्र पं० रामनरेश त्रिपाठी ने उसपर बीभत्स रस के कुछ कवित्त भी लिखे थे। उनमें से एक कवित्त नीचे उद्धृत कर रहा हूं —

"कुंभीपाक की जो कथा गाई है पुरानन में,
ताही कौ नमूनो यह बिरंचि बनायो है।

सूरज की गमि नाहिं, पौन को पहुँच नाहिं,
रात-दिन एक-सो अँधेरो जहाँ छायो है।
प्रानायाम जान सो तो बैठि कछु काल सकैं,
नाकवारे प्रानिन कौं साँसति सहायो है।
घोर दुरगंध को खजानो यहि घर मे
न जानौ कौन दानौ पायखानौ बनवायो है॥

इसी अँधेरे सीलदार मकान में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अखिल भारतीय कार्यालय था। चारो विभागों के पाँच या छह कर्मचारी यहीं फर्श पर बैठकर काम किया करते थे। हिसाब-किताब लेखक पडित महावीर-प्रसाद त्रिपाठी से मेरी खूब बनती थी। वह हस्तलिखित कविता-पुस्तक मेरे इन्हीं मित्र की थी, जिसे मेरे सामान के साथ सहारनपुर में, प्रांतीय सम्मेलन के अवसर पर,चोर चुरा ले गये थे। किन्तु त्रिपाठीजी ने मुझसे उसके सम्बन्ध में कभी एक शब्द भी नहीं कहा।

वहाँ से उठकर सम्मेलन का दफ्तर विद्यापीठ के साथ कुछ दिनों के लिए फिर जान्स्टनगज मे आया,और उसके बाद क्रास्थवेट रोड पर। सम्मेलन ने यहाँ जमीन खरीदकर अब उसपर अपना एक कच्चा मकान खड़ा कर लिया था। जिस जगह आज विशाल सम्मेलन-भवन खडा है, वह बगलवाली जमीन तो शायद बाद को खरीदी गई थी। टण्डनजी के साथ-साथ अपने उस नये कच्चे भवन में रोज सवेरे मैं अमरूद और केले के दरख्तों को पानी दिया करता था। एक डेढ वर्ष यहाँ एक कोठरी में मैं रहा भी था। विनय-पत्रिका पर यहीं बैठकर मैंने 'हरितोषिणी' टीका लिखी थी। सम्मेलन-पत्रिका का सपादन भी यहीं पर किया था।

कुछ विद्यार्थियों को मध्यमा का साहित्य भी पढ़ाया करता था। प्रबन्ध-मन्त्री पंडित द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी दारागंज से रोज़ शाम को इक्के पर दफ्तर में काम करने आया करते थे। चतुर्वेदीजी ने अपने कार्य-काल में सम्मेलन का काम बड़े नियमित रूप से चलाया था।

मेरे ये संस्मरण तेईस-चौबीस वर्ष पहले के हैं। तब के अनेक कार्य-कर्त्ता आज नहीं रहे। उनमें से कई तो स्वर्ग सिधार गये, कइयों ने अवकाश ग्रहण कर लिया। सम्मेलन कुल मिलाकर तब से काफी प्रगति कर चुका है। उसका आज वह पहले का रूप नहीं रहा, जो स्वाभाविक भी है। उसकी बढ़ती पर हम सबको सन्तोष होता है, पर उसके पुराने रूप के संस्मरण फिर भी मुझे अधिक सुन्दर और अधिक सुखद लगते हैं। ऐसा लगता है कि तब जैसे सम्मेलन में साधना की ओर झुकाव अधिक था। तब, जैसे उसके आराधक अधिक थे, आलोचक बहुत कम। विस्तार के साथ-साथ सम्मेलन ने अपने आलोचकों को भी बढ़ाया। हरिद्वार से काशीतक तो गंगा का शुद्ध आराधन किया गया—आगे उसका मूल्य व्यापारिक यातायात की सुविधाओं से आंका जाने लगा। अब देखता हूं कि सम्मेलन साधना का वैसा तीर्थस्थल नहीं रहा। अब तो वह जैसे अधिकार और विवाद का विषय बनता जा रहा है। लेकिन लोक-तन्त्र में शायद ऐसी घटनाओं से बचा नहीं जा सकता। राजनीति-प्रधान युग में किसी संस्था को लोकव्यापी और दीर्घजीवी होना है, तो जन-विवाद का विषय, सद्भाग्य या दुर्भाग्य से, उसे बनना ही पड़ेगा। हममें से कुछ लोगों का ख़याल है कि कम-से-कम साहित्य-देवता के आराधना-मन्दिर को तो राजनीति की छाया से अलिप्त रखना ही चाहिए। मैं भी

लगभग ऐसा ही मानता हूँ। हमारा हरिजन-सेवक-सघ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किन्तु सघ और सम्मेलन के विधानों में तत्त्वतः अन्तर है। सम्मेलन वेचारा इस दलदल से अब निकल भी नहीं सकता।

मेरे जैसे भक्तों की दृष्टि में तो सम्मेलन का वर्त्तमान रूप भी ममता और श्रद्धा का पात्र है। सम्मेलन ने इस अल्पकाल में राष्ट्रभाषा हिन्दी की कम सेवा नहीं की। दोष-दर्शन बडा आसान है। पर सम्मेलन ने अबतक जो काम किया है उसका मूल्य न्यायत कम नहीं आँका जा सकता। प्रचार की दिशा में उसने बहुत बडा काम किया है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रीतियों से। उसने सस्थाओ को जन्म दिया है और समर्थ बनाया है। कुछ संस्थाएँ उससे सम्बद्ध रहीं, कुछ स्वतन्त्र होगईं। सम्मेलन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गई तो कृतघ्नता भी प्रकट की गई। उसके 'स्वरूप' को नष्ट कर देने के भी कुप्रयत्न किये गये। मैं इस चीज़ मे उतरना नहीं चाहता। मेरा तो इतना ही कहना है कि सम्मेलन की टीका-टिप्पणी करते समय 'अति राष्ट्रीयता' या 'अति साहित्यिकता' के आवेश मे आकर हमें अपनी विवेक बुद्धि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ऐसी एकपक्षीय आलोचनाओं द्वारा कई बार सम्मेलन के साथ अन्याय हुआ है।

अबोहर के १९४१ के अधिवेशन से कुछ मित्र लौटे थे, और हमारे हरिजन-निवास में कृपाकर मुझसे मिलने आये थे। कुछ तो उनमें खालिस राष्ट्रीयता के हिमायती थे और कुछ शुद्ध साहित्यिकता के पक्ष के थे। बातचीत के सिलसिले में एक पक्ष सम्मेलन को 'अराष्ट्रीय' सिद्ध कर रहा था, और दूसरा पक्ष उसे 'असाहित्यिक' बतला रहा था। मेरे

लिए दोनों ही पक्षों के मित्र समान आदरणीय थे। मैं कुछ भी बोलना नहीं चाहता था। मैंने तो तटस्थ-वृत्ति ले रखी थी। ऐसी चर्चाओं में उतरना नहीं चाहता था। पर उनकी वह चर्चा मुझे अच्छी नहीं लगी। मैंने देखा कि सम्मेलन के साथ दोनों ही पक्ष स्पष्ट ही अन्याय कर रहे थे। मैंने विषय बदल दिया और प्रयाग के कुछ पुराने प्रसंगों पर चर्चा छेड़दी।

उन मित्रों के चले जाने के बाद मैं कुछ गहराई में उतरकर विचार करने लगा कि इस प्रकार का अप्रिय वाद-विवाद पहले कहां होता था। हम लोग लड़-झगड़ लेते थे, पर सम्मेलन के प्रति हमारी निष्ठा में कोई कमी नहीं आती थी। अब तो यह जैसे उसके मूल पर ही आघात किया जारहा है। सचमुच आजतक सम्मेलन न तो अराष्ट्रीय या साम्प्रदायिक रहा है और न असाहित्यिक ही। मैं मानता हूं कि दोनों ही दिशाओं में आगे बढ़ने की काफ़ी गुंजाइश है। उसके मित्रों को शिकायत करने का हक़ है, मगर सचाई और सहानुभूति के साथ। मुझे लगा कि सच ही ऐसे-ऐसे आरोप करनेवाले दोनों ही पक्ष सचाई और न्याय से काम नहीं ले रहे। सही है कि सम्मेलन ने स्वयं साहित्य-निर्माण की दिशा में जैसा चाहिए वैसा सतोषकारक पग नहीं बढ़ाया, किन्तु परीक्षाओं और भाषा-प्रचार द्वारा साहित्य के पढ़नेवाले क्या उसने काफी बड़ी संख्या में पैदा नहीं किये? इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य-निर्माण की प्रेरणा हिन्दी संसार को उससे खासी मिली है। सम्मेलन से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रेरणा पाकर विश्व-विद्यालयोंने भी राष्ट्रभाषा के प्रति अपना कर्त्तव्य समझा और उसे वे उचित स्थान दिलाने में प्रयत्नशील भी हुए।

उसने साहित्य-निर्माण स्वय अधिक नहीं किया, पर दूसरों से बहुत अधिक परिमाण मे कराया है। यह भी बात नहीं कि सम्मेलनने साहित्यकारों को भी कभी उपेक्षा की दृष्टि से देखा हो। प्रत्यक्ष रीति से भी, अपने सीमित साधनों से उसने साहित्य-सृजन और साहित्य-रक्षण का कुछ-न-कुछ काम किया ही है। फिर सम्मेलन असाहित्यिक कैसे होगया? उसकी कौन-सी साहित्य विरोधिनी प्रवृत्ति रही है? और, आश्चर्य होता है कि दूसरा पक्ष अराष्ट्रीयता का आरोप करता है! दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा के मन्त्री श्री मो० सत्यनारायणजी ने अपनी वर्धा की एक तकरीर मे कहा था, कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १९३५के इन्दौरवाले ठहराव मे जब से तब्दीली की, और उसके मुताबिक अमल करना छोड़ दिया तब से 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नजर सही और फैली हुई कौमियत की नहीं रही।' जवाब देने की ज़रूरत नहीं। समय आयेगा, जब मेरे मित्र श्री सत्यनारायणजी पछताव के साथ स्वय इस आरोप या निर्णय को वापस लेलेंगे। सम्मेलन पर अराष्ट्रीयता का आरोप करना आसान नहीं। जिस सस्था के प्रधान कर्णधार श्री टण्डनजी उसके आरम्भ काल से अबतक रहे हो, उसे अराष्ट्रीय कहने का दु साहस करना सरल नहीं। यों कहनेवालो की जबान को कौन पकड़ता है? पिछले-दिनों पडित जवाहरलालजीतक को मुस्लिमी लीगी अखबारो ने 'महा-सभाई' लिख मारा था! राष्ट्रीयता की व्याख्या स्थिर है और रहेगी। वह पग-पग पर पलटनेवाली चीज़ नहीं है। उसके मूलतत्वों पर, जो स्थिर हैं, राजनीतिक दाव पेचो के बल पर होनेवाले सौदे का असर नहीं पड़ना चाहिए। टण्डनजी ने और उन्हींकी तरह सोचनेवालो ने हिन्दी के

प्रश्न को हाथ में लिया वह इसीलिए कि राष्ट्रीय भावों और विचारों का हिन्दी के द्वारा अधिक से अधिक विकास हुआ है और हो सकता है। शुद्ध साहित्यिक पक्षवालों ने इस दृष्टि के कारण हमारे ऊपर आक्षेप भी किये, लेकिन हमने उनके आक्षेपों के डर से पीछे क़दम नहीं हटाया। फिर सम्मेलन पर यह आरोप कैसे किया जा सकता है कि उसकी नज़र फैली हुई कौमियत की नहीं रही ? इसे दृष्टि-दोष ही कहना चाहिए।

फिर सम्मेलन ने जिन परिस्थितियों में काम किया उनको बहुत अनुकूल नहीं कहा जा सकता। न उसे राजसत्ता से प्रोत्साहन मिला, न जैसा चाहिए वैसा श्रीमन्तों से और न देश के दिग्गज विद्वानों से ही। राजसत्ता से उसे प्रोत्साहन मिल भी नहीं सकता था। उसने तो सम्मेलन को सदा सन्देह की ही दृष्टि से देखा। श्रीमन्तों ने भी प्रायः उपेक्षा की—इस काम को उन्होंने शीघ्र फलदायक नहीं समझा। हमारे विद्वानों ने राजभाषा अंग्रेज़ी में लिखना अधिक गौरवास्पद माना। सम्मेलन को सचमुच बड़ी विषम परिस्थितियों में से गुज़रना पड़ा। सदा वह क़दम फूँक फूँककर चला। सीमित साधनों को लेकर वह अपनी जीवन-यात्रा के विषम पथ पर चला है। विरोध और अप्रिय असहकार का सामना उसने विनम्रता के साथ किया है। उसने अपने अस्तित्व को विनाश के पथ से बचाया है। मैं मानता हूँ कि कई बार मार्ग में वह थोड़ा भटक भी गया—भूलें उससे खासकर कुछ सभापतियों के चुनाव में हुई। परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकें चुनने में भी कभी-कभी यथेष्ट सतर्कता से काम नहीं लिया गया। दलबन्दियों को इससे जान या अनजान में बल भी मिला है। इतना सब होते हुए भी उसपर यह आरोप नहीं किया जा सकता कि

उसने कभी हिन्दी का—उसकी साहित्यिकता का तथा उसकी राष्ट्रीयता का—स्वार्थवश अहित किया। निश्चय ही, सम्मेलन ने अपनी प्रतिष्ठा को कभी बेचा नहीं।

सम्मेलन के अनेक निष्ठावान सेवको के मधुर सस्मरण सदा मेरे हृदय में पवित्रता का सचार करते हैं। उनमें से कुछेक का उल्लेख अगले प्रकरणो में करूँगा। सम्मेलन के प्रयाग-निवासी पुराने शुभ-चिन्तको मे से सर्वश्री रामजीलाल शर्मा, गोपालस्वरूप भार्गव, व्रजराज, लक्ष्मीनारायण नागर, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, सालगराम भार्गव, इन्द्रनारायण द्विवेदी, चन्द्रशेखर शास्त्री, द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति उल्लेखनीय हैं। सम्मेलन के साथ इन साहित्य-सेवियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सम्मेलन के एक और नैष्ठिक सेवक थे, जिन्हें मैं कभी नहीं भूल सकता। वह थे, व्रजलालजी। चपरासी का काम करते थे। रहनेवाले जिला प्रतापगढ़ के थे। अत्यन्त सीधे-सादे देहाती ब्राह्मण, पर अपने काम में चुस्त, होशयार और ईमानदार। इलाहाबाद के कोने-कोने से परिचित, मगर शहरी रग उनके ऊपर जरा भी नहीं चढ़ा था। वही अपनी प्रतापगढी बोली और वही देहाती रहन सहन। कितने मन्त्री और कितने ही कर्मचारी आये और कितने ही चले गये। पर हमारे व्रजलाल, जबतक कि उन्हे पेंशन नहीं बाँधी गई, उसी अनन्य निष्ठा और लगन के साथ सम्मेलन की सेवा करते रहे। व्रजलाल के साथ हमारा खूब विनोद हुआ करता था। थोड़ी-सी टूटी-फूटी अवधी मैने उन्हींसे सीखी थी। व्रजलालजी का एक बड़ा मनोरंजक प्रसग याद आ गया। प्रयाग में वह आये ही थे।

एक दिन टण्डनजी ने सम्मेलन-सबधी बहुत सारी चिट्ठियाँ डाकखाने में छोड देने के लिए एक सज्जन को कहा। उन्होंने घटाघर के पास के लाल बम्बे (लेटरबक्स) में छोडने के लिए चिट्ठियाँ ब्रजलालजी को दे दीं, और ब्रजलालजी उन्हें छोड आये। दो हफ्ते राह देखने के बाद भी जब किसी भी पत्र का जवाब या पहुच नहीं आई, तब टण्डनजी को कुछ आश्चर्य और सन्देह हुआ। पूछताछ की गई। ब्रजलाल से पूछा गया कि चिट्ठियाँ उस दिन कहाँ छोड आये थे? उन्होंने बिना किसी हिचक के हाथ से दिखाते हुए कहा—'ओही सामने क बंबवा मा!' नीचे उतरकर उन्होंने बम्बा दिखा भी दिया, और जिस तरह चिट्ठियाँ उसमें डाली थीं वह सारी क्रिया भी बतलादी। सडक के किनारे पानी का जो आम बम्बा (नल) था, उसकी टोपी खोलकर, जो किसी तरह खुल जाती थी, उसके अन्दर वे सारी चिट्ठियाँ छोड आये थे! बम्बा खोलकर उन्होंने दिखाया तो सारे पत्र गल चुके थे। टण्डनजी को ब्रजलालकी यह'निपट सिधाई'देखकर गुस्सा भी आया और हँसी भी।

: १७ :

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

(२)

पिछले प्रकरण में मैंने श्रीगोपालस्वरूप भार्गव तथा श्रीसालगराम भार्गव और प्रो ब्रजराजजी का उल्लेख किया है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन अनन्य सेवकों के नामोल्लेख के साथ सुप्रसिद्ध विज्ञान-परिषद् की चर्चा न करूँ यह कैसे हो सकता है ? हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण का उक्त परिषद् ने अपनी अल्प पूँजी और सीमित साधनों से खासा ठोस काम किया है। भारत की प्रान्तीय भाषाओं में विज्ञानविषयक जो कार्य हुआ है उसमें विज्ञान परिषद् का एक विशेष स्थान है। इस पौधे को सन् १९१३ मे श्रीरामदास गौड तथा प्रो० सालगराम भार्गव ने रोपा था। विज्ञान-परिषद् के इन कर्मठ सदस्यों ने बड़ी निष्ठा और परिश्रम के साथ, बिना किसी खास सहारे के, काम किया। विज्ञान के अगों पर हिन्दी मे विज्ञान-परिषद् ने अपने-अपने विषय के विद्वान् लेखकों से लगभग ५० पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित की हैं। विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण परिषद् ने खासा किया है। परिषद् के मुखपत्र "विज्ञान" का तो हिन्दी-ससार में अपना खास स्थान है।

मगर हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझिए कि इतने अच्छे ज्ञानवर्द्धक पत्र को यथेष्ट आदर न मिला। फिर भी कई दूसरे उपयोगी पत्रों की तरह 'विज्ञान' को अकालमृत्यु का सामना नहीं करना पड़ा। यह सही है कि वर्तमान वैज्ञानिक साहित्य को देखते हुए हिन्दी को आज सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। वह अभी बहुत रंक है। किन्तु अननुकूल परिस्थितियों में भी जिन साहित्यकारों ने अपनी परिमित शक्ति और साधारण साधनों से विज्ञान के शून्य कोष को थोड़ा-बहुत भरने का प्रयत्न किया है, उनकी सेवाओं की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। एक तो पराधीनता के प्रतिकूल वातावरण में मौलिक आविष्कारों के करने-कराने का हमें अनुकूल अवसर और प्रोत्साहन नहीं मिला, दूसरे, हमारे देश के इने-गिने विद्वान शोध करते और उसपर कुछ लिखते भी हैं तो अंग्रेजी में। हिन्दी में या अन्य प्रान्तीय भाषा में किसीने कुछ लिखा भी तो उसकी वैसी क़द्र नहीं होती, वह चीज प्रमाण कोटि में नहीं आती। अंग्रेजी ने हमारे मानस को बुरी तरह मोह लिया है।

सचमुच हमारी कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि ज्ञान का उपार्जन बस एक अंग्रेजी भाषा द्वारा ही हो सकता है। श्रीसम्पूर्णानन्दजी के 'आर्यों का आदि देश' नामक ग्रन्थ के एक दो पन्ने भी नहीं उलटे थे कि मेरे एक विद्वान् मित्र ने उसपर अपनी यह राय बना डाली कि, "इस पुस्तक में ऐसी कोई खास शोध क्या हो सकती है, जिसमें वेद-मंत्रों को ही आधार माना गया है? यूरोप के दिग्गज इतिहास-लेखकों के आगे तुम्हारी इस हिन्दी पुस्तक की दलीलें ठहर नहीं सकतीं।" ऐसे ही लोगों ने यह हीन भावना अपने मन में बना रखी है कि हिन्दी में दूसरी भाषाओं के

मुकाबिले कुछ भी नही है । इसी हीन-भावना के कारण विज्ञान-परिषद्
जैसी अत्युपयोगी सस्था को भी हमने सदा उपेक्षा की ही दृष्टि से देखा।
हिन्दी मे कुछ भी नहीं है, तो इसमे दोष किसका है ? शिकायत क्यों,
और किसकी ? इसका आखिर क्या अर्थ है ? क्या सचमुच ईमानदारी
के साथ हम अपने साहित्य की श्रीवृद्धि देखना चाहते है ? तो क्या इसका
यही तरीका है ? इस मिथ्या दृष्टि पर, इस दूषित मनोवृत्ति पर हमें
लज्जा आनी चाहिए । यह सच है कि अपनी यत्किंचित् साहित्य-सम्पदा
पर हमे झूठे गर्व से फूल नहीं जाना चाहिए, पर हमारा यह कहना भी
उचित नहीं कि हिन्दी के दरिद्र कोष मे मूल्यवान वस्तुएँ बहुत कम हैं।
असन्तुष्ट उपेक्षकों को शायद उन वस्तुओं का भी ज्ञान नहीं है, फिर भी
शिकायत किये ही जाते हैं।

सम्मेलन को अद्यतक अपने उद्देश्यों मे जो कुछ भी सफलता मिली
है, उसका सारा श्रेय उसके तपस्वी साधकों को ही है। प्रचार के क्षेत्र
में उसे सद्भाग्य से महात्मा गांधी का सबसे अधिक बल मिला है।
उनके अनमोल उपकारों से वह कभी उऋण नहीं हो सकता । किन्तु
कुल मिलाकर देश के धनिकों और साधन-समर्थों का सहारा या सहयोग
सम्मेलन को बहुत कम, बल्कि नहीं के बराबर, मिला। कहना पड़ता है
कि हमारे देश के श्रीमन्तों ने इतने बड़े प्रश्न का महत्त्व अभीतक समझा
ही नहीं । कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर ऐसी लोकोपयोगी सस्थाओं को
उदारतापूर्वक सहायता देना हमारे देश के सम्पन्न लोगो ने अभी सीखा
ही नहीं।

बहुत वर्षों की बात है, धन संग्रह करने के लिए हम लोगों की

भिक्षु-मडली आगरा गई थी। मडली में सर्व-श्री टण्डनजी, पद्मसिंह शर्मा, रामजीलाल शर्मा, भाई कोतवाल, लक्ष्मीधर वाजपेयी और मैं कुल इतने भिक्षु थे। कार्यक्रम कई स्थानों का बनाया था, पर वह पूरा न हो सका। मेरा तो यह पहला ही अनुभव था। देखा कि धन-सग्रह का काम सब के बस का नहीं है। काम यह सरल भी है और कठिन भी। इसे हम उत्तम भी कह सकते हैं, और निकृष्ट भी। सुना था—

बिन माँगे देइ सो दूध बराबर,
मॉगे देइ सो पानी,
कह कबीर, वह रक्त बराबर
जिसमें खैंचातानी।

इस कलियुग में दान तो प्राय खैंचातानी से ही मिलता है। लेकिन रक्त-तुल्य दान लेने के लिए बहुत बडी सामर्थ्य चाहिए। हमारी मडली के नेता में वह सामर्थ्य नहीं थी। टण्डनजी तो श्रद्धा और विवेक से दिया हुआ दान लेना चाहते थे। दूध न मिले तो पानी से भी सन्तोष कर लेते थे। 'खैंचातानी' का सफल प्रयोग करनेवालों की उनके सामने चलती नहीं थी। प० रामजीलाल शर्मा को टण्डनजी का यह ढग बहुत पसन्द नहीं आया। दिनभर में हम लोग ढाई-ढाई सौ रुपये के शायद तीन या चार स्थायी सदस्य ही बना सके थे। शर्माजी खूब खैंचातानी के साथ अर्थ-दोहन के पक्षपाती थे। दूसरे दिन खीझकर कहने लगे—"भला, यह भी कोई चन्दा मांगने का तरीका है! टण्डनजी हरेक को सम्मेलन के उद्देश्य क्या समझाने लगते हैं, एक छोटी सी वक्तृता दे डालते हैं! और उनकी बात अगर कोई ध्यान से नहीं सुनता, या सुन-

कर हमारे उद्देश्यों को महत्त्व नहीं देता, तो उस बेचारे को बुरी तरह झाड़ देते हैं। ऐसे कहीं चन्दा मिलता है? चन्दा लेने की कला तो भाई, कुछ और ही होती है।" पं० पद्मसिंहजी का भी लगभग ऐसा ही मत था। मगर भाई कोतवाल ने उनके मत का समर्थन नहीं किया। मुझे तो टण्डनजी का तरीका पसन्द ही था। वह अपनी बात को बडे अच्छे ढग से रखते हैं। जोर भी डालते है, मगर एक हदतक—उससे आगे नहीं जाते। अपने आपको धनाभिमानियो के आगे गिराना नहीं चाहते। चाहे जिस तरह और चाहे जिसके आगे हाथ फैलाना उन्हें पसन्द नहीं। धन-सग्रह करने का उनका अपना जो ढंग हैं, उससे उन्हों-ने काफी शुद्धता से सार्वजनिक कार्यों के लिए रुपया इकट्ठा किया है, बल्कि रुपया उनके पास अपने-आप आया है।

हमारा धन-सग्रह का मुख्य उद्देश्य तब एक 'सग्रहालय' बनाने का था। हम सम्मेलन का एक सर्वांगपूर्ण संग्रहालय बनाना चाहते थे। सग्रहालय-भवन हमारा खडा तो होगया है, पर मुद्रित और हस्त-लिखित पुस्तको तथा ऐतिहासिक व सास्कृतिक वस्तुओ का जैसा आदर्श सग्रह हम वहाँ करना चाहते थे, वैसा अभीतक हो नही सका।

हमारी मडली में साहित्य-चर्चा तो होती ही थी, विनोद भी आपस में खूब होता था। लेकिन बडा सुन्दर, शिष्ट और गहरा विनोद तो पं० पद्मसिंह शर्मा का होता था। उनके पास से उठने को जी नहीं करता था। कहने का ढग उनका बडा आकर्षक होता था। सस्कृत कवियों की कितनी ही अनूठी सूक्तियाँ उन्हे कण्ठ थीं। इसी तरह उर्दू-फारसी के मौक़े के फबते शेर भी हमेशा उनकी ज़बान पर रहते थे।

अकबर की कोई चीज़ सुनाते तो झूमने लगते थे। उनके अपूर्व सत्सग के, आगरे के, वे चन्द दिन जीवन में कभी भूलने के नहीं। प० पद्मसिंहजी प्रकाण्ड विद्वान् और सिद्धहस्त लेखक तो थे ही, वक्ता भी उच्च कोटि के थे। उनकी समालोचना की शैली से भले ही कुछ अशों में हम सहमत न हों, पर उनके गहरे पाण्डित्य और प्रखर प्रतिभा से कौन इन्कार कर सकता है ? स्वभाव की सरलता और विनयशीलता भी उनमें उनकी विद्वत्ता के ही अनुरूप थी। फिर भी अफ़सोस है कि उनकी जैसी चाहिए वैसी कद्र नहीं हुई।

हम हिन्दीवाले अपने साहित्यकारों की कद्र करने में सचमुच बहुत पीछे रहे। प्रेमचन्द और प्रसाद को भी हमने कहाँ पहचाना। इस कोटि के साहित्यकार आज किसी दूसरे देश में या भारत के ही किसी अन्य प्रान्त मे पैदा हुए होते, तो वहाँ के लोग दिग्दिगन्त मे उनका यश सौरभ फैलाने मे कुछ उठा न रखते। 'कामायनी' का भाषान्तर यदि अंग्रेजी में होगया होता, तो यूरोप के गुण-ग्राहक साहित्यकार प्रसादजी का यथोचित आदर करने में पीछे न रहते। रवि बाबू को विश्व-साहित्य में ऊँचा स्थान मिला, इसमें बगदेश की स्वाभाविक गुण-ग्राहकता का भी ज़बर्दस्त हाथ था। प्रसादजी के यश सौरभ को दिगन्तव्यापी बनाने के लिए न कोई 'प्रवासी' था, न कोई 'मॉडर्न रिव्यू'। आचार्य द्विवेदीजी का भी गुण-गान, शिष्टाचार के नाते, उनकी मृत्यु के बाद ही किया गया। उनके जीवन-काल में किसी विश्व-विद्यालय ने, हमारे अपने हिन्दू-विश्वविद्यालय ने भी, उन्हे डॉक्टर की उपाधि प्रदान न की! आचार्य के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करके तो स्वय विश्व-विद्यालयों का ही गौरव बढ़ता। यह सब हमारी मानसिक

दासता का ही कुफल है,जो हम अपने साहित्य-स्रष्टाओं की इस बुरी तरह उपेक्षा कर रहे हैं।

हमारे अन्दर जो यह हीन भावना घर कर बैठी है, और जिसके कारण हम कृतघ्नता के भागी बन रहे हैं, उसका उन्मूलन करना आवश्यक है। सम्मेलन क्यों न अपना सारा बल इसी ओर लगाये? उसे विविध कार्य-क्षेत्रों का मोह कुछ समय के लिए छोड देना चाहिए। उसकी शक्तियों का अधिकतर दुर्व्यय सभापतियो के निर्वाचनों और वैधानिक बारीकियो के वाद-विवाद में हुआ है। यह लोक-तन्त्रवाद सचमुच कहीं-कहीं अभिशाप-सा सिद्ध हुआ है। किंतु ऐसी परिस्थितियों में सम्मेलन से अलग होकर भी तो सम्मेलन की ठोस सेवा की जा सकती है।

पर मुझे सुझाव पेश करने का भी क्या अधिकार, जबकि हिंदी की श्रीवृद्धि के लिए मैं स्वय कुछ नहीं कर रहा हूँ? केवल कभी-कभी हलकी-सी पीडा का अनुभव होता है। पर ऐसा निर्जीव पीडानुभव किस काम का?

लेकिन इतना कहूंगा कि यद्यपि आज मेरा कार्य-क्षेत्र बदल गया है, तथापि सम्मेलन से हिन्दी के प्रति श्रद्धा-भक्ति की जो प्रसादी मुझे मिली थी, वह आज भी मेरे हृदय में पवित्रता का सचार कर रही है, और करती रहेगी। सम्मेलन से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।

: १८ :

विद्यापीठ

पिछले एक प्रकरण में मैंने प्रयाग के विद्यापीठ का उल्लेख-मात्र किया है। इस प्रकरण में उसपर कुछ विस्तार से लिखूँगा।

प्रयत्न करने पर जमना-पार, महेवा गाँव के समीप, हमें गिर्दौरी राज्य के स्व० राजा चन्द्रशेखरप्रसाद के बने-बनाये कई पक्के मकान, मय भूमि के, मिल गये। साहित्य के साथ-साथ स्वावलम्बन की दृष्टि से औद्योगिक शिक्षण देने का मूल में हमारा जो विचार था, उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए विद्यापीठ को शहर से बाहर ले जाना आवश्यक था। टण्डनजी और मैं उपयुक्त स्थान मिलते ही घर के दो-तीन लड़कों को लेकर वहाँ बैठ गये। दो लड़के टण्डनजी के थे, और एक मेरा ममेरा भाई। तीनों छोटे छोटे बच्चे थे। दो दिन तो इनका वहाँ खूब मन लगा, पर तीसरे दिन जब उनसे मिट्टी ढुलवाई गई, तब मौक़ा पाकर वहाँ से दो लड़के खिसक भागे। पुल के उस पार भागते हुए वे पकड़े गये। बेचारे इस लालच से हमारे साथ गाँव में रहने गये थे कि वहाँ पीने को खूब दूध और खाने को हरे-हरे मटर और खटमिट्ठे अमरूद मिलेंगे—उन्हें क्या पता था कि उनसे मिट्टी की टोकरियाँ ढुलवाई जायगी !

टण्डनजी चाहते तो बहुत थे, पर जमकर वहाँ कभी दस दिन भी नहीं बैठ सके। पर मैंने तो अपना डेरा जमा लिया। शहर काम से ही कभी-कभी जाता था। सामने जमना, इर्द-गिर्द हरे-हरे खेत, पडोस में छोटा-सा गाँव—बडा सुहावना सब वातावरण था। हमारी अपनी दो गायें थीं और राजा साहब के समय के एक मिसरजी महाराज। यह हमारे चपरासी थे रसोइया थे, और खेती-बाडी के सलाहकर भी थे। राजा साहब की यह बडी मनोरंजक कहानियाँ सुनाया करते थे। राजा चन्द्रशेखरप्रसाद सनकी स्वभाव के होने के कारण 'पागल राजा' के नाम से वहाँ प्रख्यात थे। सुप्रसिद्ध स्वामी भास्करानन्द के वह पट्टशिष्य थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। राज-पाट छोडकर विरक्त का जीवन बिताते थे। उनकी जीवन-कथा मैंने लोगों से ऐसी सुनी थी।

काशी में स्वामीजी के आश्रम में जब यह पढते थे, तब उनकी सेवा में इतने अधिक दत्तचित्त रहते कि प्राय शरीर का भी भान नहीं रहता था। साधारण घर के थे,पर सयोग से सिसेंडी राज्य के उत्तराधिकारी बन गये। विवाह तो करा लिया, पर अपनी स्त्री को पत्नी नहीं माना। शुरू से ही उसे 'माता' कहकर पुकारा। फिर 'स्त्रीमात्र'का मुँह देखना त्याग दिया। राज्य को भी लात मारदी। कुछ दिन कानपुर में, और फिर इलाहाबाद में जाकर रहे। जबतक मकान तैयार नहीं हुआ, तबतक नाव पर ही रहे। पीछे हस्त-सन्यास ले लिया। हाथों से बिलकुल काम नहीं लेते थे। मिसरजी ने उन सब दर्शनीय स्थानों को दिखाया, जहाँ 'पागल राजा'का विचित्र बनावट का शौचालय था, बगल में स्नान-गृह था और वहीं इनका भोजनालय भी था। बाहर कुछ घाँस और टीन की

चद्दरें पड़ी रहती थीं। इसलिए कि यदि उनके कमरे की छत पर कोई कौआ बैठ गया तो जबतक वह कमरा भीतर-बाहर धुल नहीं जाता, तब-तक उसमें रहना उनके अपने शास्त्रानुसार निषिद्ध था। तुरन्त बाँस गाड़कर उनपर टीन की चद्दरें छा दी जातीं और राजा साहब जबतक कि उनके 'काक-भ्रष्ट' कमरे की शुद्धि न हो जाती उसी टीन मड़ैया में पड़े रहते थे। और उसे भी यदि किसी दुष्ट कौवे ने भ्रष्ट कर दिया तो तत्काल दूसरी मड़या तैयार कर दी जाती—और इसी क्रम से तीसरी, चौथी, पाँचवीं।

मिसरजी ने सुनाया कि एक आदमी की तो सिर्फ यही नौकरी थी कि राजा साहब कुल्ले करते और वह खड़ा-खड़ा एक लम्बी रस्सी में गाँठें लगाता जाता—जब ऊँचे स्वर से वह पुकारता, 'एक सौ आठ!' तब कहीं कुल्लों की प्रक्रिया का लम्बा क्रम बन्द होता।

सरकार से उन्हें शायद दो हज़ार रुपये की मासिक पेंशन मिलती थी, उसीसे उनका सारा खर्च चलता था। इससे यह अर्थ न लगाया जाये कि राजा चन्द्रशेखरप्रसाद निरे सनकी ही थे, वे ऊंचे योगी भी थे। संस्कृत के अच्छे कवि भी थे। अपने गुरुदेव का जीवन-चरित संस्कृत में उन्होंने बड़ा सुन्दर लिखा था। शायद वह इंडियन प्रेस में छपा था। पुस्तक का मुझे नाम तो याद नहीं आ रहा है, किन्तु रचना वह सुन्दर थी।

राजा साहब की मृत्यु के बाद, कोशिश करने पर, वह भूमि और मकान सम्मेलन को मिल गये। धीरे-धीरे बाहर से भी विद्यार्थी आने लगे। कुछ प्रथमा परीक्षा का पाठ्य-क्रम पढ़ते थे, और कुछ मध्यमा का। कोई तीन-साढ़े तीन घंटे शारीरिक श्रम करते थे, बाकी समय पढ़ने में जाता था।

कताई सबके लिए अनिवार्य कर दी थी। अध्यापक अकेला मैं ही था। छात्रावास की भी व्यवस्था करता था। चित्त खूब प्रसन्न रहता था। थोड़े ही दिनों में हमारा यह स्थान एक आश्रम बन गया। अमरूदों का बाग तो पहले से ही था, कुछ और दरख्त लगाये गये। अपनी एक नाव भी हमने बनवाली, जिसे हम लोग खुद ही खेते थे। अपने पड़ोस के गाँववालों के साथ भाईचारा जोड़ने का भी प्रयत्न किया, पर अधिक सफलता नहीं मिली। एक-दो आदमियों के साथ तो झगड़े भी हुए। याद पड़ता है कि अमरूद के बाग के ठेके पर हमारा मनमुटाव हुआ था। आदर्श और व्यवहार के बीच के महान् अन्तर का पता मुझे पहले पहल यहीं चला।

विद्यार्थी शारीरिक श्रम के कामों में उतना मन नहीं लगाते थे, जितना कि साहित्य के अध्ययन में। केवल एक दरभंगा की तरफ का विद्यार्थी मेहनत व लगन के साथ पौधों को सींचता और गायों की टहल करता था। खेती-बाड़ी की मेरे सामने बातें ही चली थीं, काम शुरू नहीं हुआ था। वहाँ से मेरे चले जाने के बाद कृषि-शिक्षण के प्रयोग चलाये गये, पर ठीक-ठीक सफल नहीं हुए। साल-सवा साल ही मैं विद्यापीठ में बैठ सका। टण्डनजी भी सन् १६२५ में लाहौर चले गये।

बाद को मैंने सुना, विद्यार्थियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। स्वामी सत्यानन्दजी (पूर्वनाम प० बलदेव चौबे) ने शरीर-श्रम को वहाँ खासा प्रतिष्ठित किया। उनके साधु-जीवन के प्रभाव से विद्यापीठ का वातावरण भी अधिक पवित्र बन गया था। गाँव के लोगों के साथ भी स्वामीजी ने सम्पर्क बढ़ाया था। गाँव में हरि-कीर्तन करने भी जाया

करते थे। फिर भी विद्यापीठ का सिलसिला जैसा हम लोग चाहते थे वैसा जम नहीं पाया। विद्यापीठ को हम लोग अपने सुनहले स्वप्नों की संस्था न बना सके। न चाहते हुए भी टण्डनजी को राजनीतिक झंझटों में हमेशा व्यस्त रहना पड़ा। शान्तिपूर्वक वहाँ बैठ नहीं सके। पन्ना छोड़ने के बाद मैं सन् १९३२में दोबारा विद्यापीठ में बैठ जाने के उद्देश्य से प्रयाग गया, पर वहाँ एक डेढ़ महीने से अधिक नहीं रह सका। दिल्ली ने खींच लिया। इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली में मुझे अपने स्वप्नों को सफल बनाने के साधन प्रचुरता से मिले, और वह भी अनायास, पर विद्यापीठ के उस शान्त मधुर वातावरण को मैं आज भी भुला नहीं सका—"मन चलि जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।"

स्व० रामदासजी गौड़ हमारे विद्यापीठ में एक बार पाँच सात दिन ठहरे थे। उनके साथ खूब सत्संग होता था। रामचरित-मानस और विनय-पत्रिका के कितने ही गूढ़ स्थलों का अर्थ गौडजी ने मुझे बतलाया था। आहार-विज्ञान पर भी रोचक चर्चाएँ हुआ करती थीं। गौड़जी के साथ घनिष्ठ मैत्री मेरी विद्यापीठ में हुई थी। फिर वह बढ़ती ही गई। मेरे पन्ना चले जाने के बाद मिलना तो एक-दो बार ही होसका, पर पत्र-व्यवहार का सम्बन्ध उनके साथ मेरा अन्ततक रहा। सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन के अवसर पर जब मैं कई साल बाद गौड़जी से मिला, तो बड़े प्रेम से गले लगा लिया, और आँखों में स्नेहाश्रु भरकर कहा—"हरिजन देखि प्रीति अति बाढ़ी।" शरीर काफी दुर्बल हो गया था। आर्थिक अवस्था भी उन दिनों उनकी अच्छी नहीं थी। किन्तु अपने इष्टदेव श्रीराम के प्रति उनकी जो अटूट श्रद्धाभक्ति थी, उसमें

उन्हें बड़ा सहारा था। भक्ति गद्‌गद होकर अपना रचा यह पुराना पद सुनाया, और मुझे काशी आने का साग्रह निमन्त्रण दिया —

"मोसम को त्रिकाल बडभागी ?
तजि साकेत सकेत हिये के
भये राम-अनुरागी ॥
कहाँ धवल पावन पयोधि, जेहि
सीकर-सृष्टि समाई।
कहाँ मोहतममय हिय मेरो,
भरी महा मलिनाई ॥
ना स्वागत-हित पुण्य पाँवडे,
रघुपति, सकेउ बिछाई।
श्रद्धा-भक्ति हृदय की साँची,
पूजहु नहिं बनि आई।"

इत्यादि—

ऐसा स्मरण आता है कि विद्यापीठ में दो-तीन दिन हमारे विद्यार्थियों को गौड़जी ने पढ़ाया भी था। कथा तो रामायण की प्राय नित्य कहते थे।

मेरे स्नेही मित्र पं बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी एक दिन वहाँ हमारा आतिथ्य स्वीकार किया था। यह १९२४ की बात है। साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का कार्यक्रम उन्होंने वहीं पर बैठकर बनाया था। चतुर्वेदीजी ने मुझे उस संस्मरण की एक पत्र द्वारा याद भी दिलाई थी। लिखा था—"हिन्दी-विद्यापीठ (महेवा) में जो चार घंटे साथ

बिताये थे, और साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का जो प्रोग्राम बनाया था, उसके बाद कभी भी तो दिल खोलकर बातचीत करने का अवसर नहीं मिला। आपके हरिजन-निवास में रहने की उत्कट अभिलाषा बहुत दिनों से है। मुझे वहाँ का सात्विक भोजन बहुत प्रिय है। यद्यपि मैं यह हर्गिज़ नहीं चाहता कि एक दिन के आतिथ्य के बाद अपना कोई भी भार आपकी संस्था पर डालूँ। चौबों को खिलाना सफ़ेद हाथी पालना है—और वह भी आजकल के 'रेशनिंग' के दिनों में!

आपने कभी लिखा था कि आप मुझे 'दरिद्र तपस्वी' ब्राह्मण के रूप में ही देखना चाहते हैं। तपस्या तो किसी चौबे के लिए उतनी ही आसान है, जितना 'पंगु-गिरि-लंघन', पर दरिद्रता कोई मुश्किल चीज़ नहीं।

चतुर्वेदीजी को इस बात का अफ़सोस ही रहा कि विद्यापीठ में बैठकर उन्होंने जो प्रोग्राम बनाया था उसे वह अबतक पूरा नहीं कर सके। स्व० द्विवेदीजी, पद्मसिंहजी तथा गणेशजी के जीवन चरित लिखकर वह अपना कर्ज़ अदा करना चाहते थे, मगर कर नहीं सके। सिर पर 'चक्रवृद्धि ब्याज' चढ़ते रहने का चतुर्वेदीजी को अगर कुछ भी डर होता, तो इस तरह मकरूज़ रहना उन्हें खुद भी अच्छा न लगता। मगर—विनोद में ही सही—मेरा यह उलाहना या उपदेश देना सोहता नहीं है। मैं स्वयं भारी ऋण भार से लदा हुआ हूँ। कितने ही लेनदारों का देना है।

: १६ :

श्रद्धांजलियाँ

इस प्रकरण में हिन्दी-साहित्य के उन अनन्य सेवकों के कतिपय पुण्य सस्मरणों को देना चाहता हूँ, जिनके सत्संग से मैंने काफी लाभ उठाया और जिनके स्मरण-मात्र से आज भी आनन्दानुभव करता हू।

श्रीराधाचरण गोस्वामी

यह मैं पिछले एक प्रकरण में लिख चुका हूं कि 'सक्षिप्त सूरसागर' और 'व्रज-माधुरी-सार' के सम्पादन-कार्य के सिलसिले में तीन या चार बार मुझे वृन्दावन जाना पड़ा था। व्रज साहित्य के सबसे बड़े आचार्य उन दिनों श्रीराधाचरण गोस्वामी थे। भारतेन्दुजी के यह अन्यतम मित्रों में से थे। गोस्वामीजी महाराज से मुझे अपने कार्य में बड़ी सहायता मिली थी।

मकान की वह ऊँची बैठक, दरवाजे के पास अक्सर किवाड के और कभी-कभी तकिये के सहारे उनका मौज से बैठना, सुपारी के बड़े-बड़े टुकड़े हमेशा मुँह मे डाले बडे मनोरजक ढग से साहित्य के किसी न-किसी विषय पर चर्चा करते रहना—वह सब आज भी मेरी आँखों के आगे वैसा ही घूम रहा है।

एक दिन मैंने बीसियों प्रश्न पूछ-पूछकर गोस्वामीजी को काफी

तंग कर डाला था। एक-दो बार खीझ भी गये, पर बिना सन्तुष्ट किये मुझे उठने नहीं दिया। गदाधर भट्ट, श्रीभट्ट, हरिराम व्यास, सूरदास मदनमोहन, घनानन्द, नारायण स्वामी आदि अनेक भक्त कवियों के विषय में मुझे कई नई बातें बताईं। 'ब्रज-माधुरी-सार' यह नाम भी मेरे ग्रन्थ का सुझाया और अन्त में हमारे कार्य को उत्साहित करते हुए कहा—

"सम्मेलन के सूत्रधारों से मेरी ओर से कहना कि ब्रज-साहित्य की शोध व सम्पादन के लिए एक अलग विभाग खोलें। लेनेयोग्य जितना समझें उतना इस अतुल राशि में से लेलें। बड़े महत्त्व का कार्य है। समुद्र भरा पड़ा है, इसमें से अनमोल रत्न निकाल लें। नागरी-प्रचारिणी-सभा से मुझे बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। सुनता हूं कि सभा 'सूरसागर' का शोधन-कार्य करायेगी। पर मेरे मित्र श्रीकिशोरी-लाल गोस्वामी तो निराश-से हैं। मैं भी अब उदासीन-सा हो गया हूँ। तुम्हारा सम्मेलन भी स्यात् ही इस कार्य को आगे कुछ बढ़ा सके, उसे तो आज भाषा प्रचार से ही फुर्सत नहीं। खैर, यह काम भी अच्छा ही है। सम्मेलन से जितना बन पड़े करे। पर सुझाव सम्मेलन के संचालकों के आगे रख अवश्य देना।"

"पर आपको महाराज, हम लोग बार-बार कष्ट देते रहेंगे।"

"इसमें कष्ट की क्या बात है, मुझे तो ऐसे कामों में बड़ा आनन्द आता है। मेरे पास जो कुछ भी साहित्य-सम्पत्ति संचित है, श्रद्धापूर्वक उठा ले जाओ। मैं तो अश्रद्धालुओं से भयभीत रहता हूँ। वैष्णव सम्प्र-दायों का तत्त्व-दर्शन किये बिना इस सुधा-सागर के बहुमूल्य रत्न हाथ

नहीं लगेंगे। तुम्हारे मिश्रबन्धुओं के शोध का ढंग मुझे पसन्द नहीं। वे लोग अवगाहन नहीं करते। श्रद्धा का सहारा लेकर खूब गहरे उतरो, तब कहीं ब्रज-साहित्य का अपूर्व रसास्वादन कर सकोगे। मंथन करके इस समुद्र में से हमे साररूप अमृत निकालना है, इसके लिए श्रद्धा और श्रम दोनो की ही आवश्यकता है।"

श्रीमद्‌भागवत का एक बडा सुन्दर संस्करण अपने विशाल पुस्तकालय मे निकालकर मुझे दिखलाया, और कहा—"इसे कहते हैं सच्ची शोध और परिश्रम। यह ग्रन्थ अनेक संस्कृत भाष्यो और बँगला टीका से अलकृत किया गया है। पाद-टिप्पणियाँ और पाठ भेद इसमें बड़ी विद्वत्ता के साथ दिया गया है। बंगीय पडितों की यह बडी सुन्दर कृति है। हिन्दी के विद्वानो से भी हमें ऐसी ही आशा करनी चाहिए।"

'अंग्रेज़ी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में शोध तथा सम्पादन का कार्य वहाँ के विद्वानों ने बड़े परिश्रम से किया है। मैंने पढ़ा है कि ऐसे कामो पर वहाँ लाखों रुपया खर्च किया जाता है।" मैंने कहा।

मुझे वहाँ का अधिक ज्ञान नहीं है। मेरे अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान को तो 'चचु प्रवेश' ही कहना चाहिए। किन्तु तुम्हारा कहना सच है, यह मैं मानता हूँ। मैंने भी सुना है कि पश्चिम के विद्वान बडे परिश्रमी और अध्ययनशील होते हैं।

मैंने पूछा—"गोस्वामीजी महाराज, मेरा तो यह खयाल था कि आप अंग्रेजी बिलकुल नहीं जानते होंगे। मैंने सुना था कि आपके पूज्य पिताजी अंग्रेज़ी और फ़ारसी से बहुत चिढ़ते थे। फिर इतनी भी

अंग्रेज़ी आपने कैसे सीखी ?"

"तुम जो कहते हो वह ठीक है। मैंने पिताजी की चोरी से अंग्रेज़ी की दो किताबें पढ़ी थीं। पिताजी उन दिनों काशी में रहते थे। मैंने चोरी से एक प्रायमर खरीदी और एक मित्र की सहायता से उसे पढ़ने लगा। जब उन्हें इसका पता चला तब मुझपर बहुत बिगड़े, किताब हाथ से छीनकर फाड़दी। म्लेच्छ-भाषा पढ़ने से उन्हें मेरे धर्म भ्रष्ट हो जाने का भय था।"

"और फारसी से भी चिढ़ते थे ?"

"हाँ हाँ, शुद्ध ब्रजभाषा को छोड़कर वे दूसरी कोई भाषा भूल-कर भी नहीं बोलते थे। उनका यह बड़ा कड़ा नियम था। एक दिन साहजी साहब, याने ललितकिशोरीजी के आगे पिताजी ने बन्दूक चलने का वर्णन इस प्रकार किया था—"लौह-नलिका में श्याम चूर्ण प्रवेश करिके अग्नि जो दीनीं तो भड़ाम शब्द भयो !" ब्रजभाषा के ऐसे अनन्य भक्त थे मेरे पिता श्रीगल्लूजी महाराज ! मेरा भारतेन्दुजी से मिलना-जुलना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनकी दृष्टि में हरिश्चन्द्र एक बिगड़ा हुआ लड़का था। पर मेरे लिए तो श्रीहरिश्चन्द्र मेरे 'सर्वस्व' थे। साथ ही, मैं पिताजी की भी अवज्ञा नहीं कर सकता था। इसलिए उनकी चोरी से, बड़ी चतुराई से, मिलता था।" भारतेन्दुजी का स्मरण करते ही गोस्वामीजी का गला भर आया। गद्गद कण्ठ से बोले—

"सचमुच भारतेन्दु मेरे सर्वस्व थे—मेरे स्वजन थे, मेरे गुरु थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मैं भला कभी ऋणमुक्त हो सकता हूँ ? लेकिन

और कह तो हरिश्चन्द्र गये, अब कोई क्या कहेगा ?"

स्वसम्पादित 'भारतेन्दु' पत्र के कुछ पुराने अंक गोस्वामीजी ने निकालकर मुझे दिये और कहा—"इन अंकों में भारतेन्दुजी के विषय में मैंने जो सस्मरण लिखे हैं, उन्हे तुम अवश्य पढ़ना।"

दुःख है कि गोस्वामीजी की उस प्रसादी को मैं अपनी लापर्वाही से सुरक्षित न रख सका।

गोस्वामीजी ने रूढ़िग्रस्त आचार्य-कुल मे जन्म लिया, उसी वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ, तथापि अपने समय के हिसाब से वह उदार और सुधारवादी थे। उनके अन्दर राष्ट्रीय भावना भी थी। किन्तु सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी होने के कारण अपने उदार विचारों को कार्यरूप में परिणत न कर सके। गोस्वामीजी एक अच्छे कवि, लेखक, समालोचक और निर्भय वक्ता थे। उनकी मिलनसारी और ज़िन्दादिली तो उनकी अपनी खास चीज़ थी। गोस्वामीजी के ये मधुर सस्मरण-मेरे स्मृति-कोष के सचमुच अनमोल रत्न हैं। उनकी गोलोक-यात्रा पर मैंने 'हा राधाचरण !' शीर्षक एक कविता भी लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे देकर अपनी तुच्छ श्रद्धांजलि अर्पण करता हूँ—

> ब्रज-बानी तें एक ललितपद टूटि पर्‌यौ कै,
> ब्रज-वल्लरि तें कलित कुसुम कुम्हलाय गिर्‌यौ कै,
> ब्रज-नागरि-सिंगार-हार-मनि खोय गयौ कै,
> भारतेन्दु-प्रतिबिम्ब बिम्ब मे लीन भयौ कै।

श्री श्रीधर पाठक

ब्रज-बानी के रसिक और खड़ी बोली के आद्याचार्य प० श्रीधर

पाठक का मैं उस दिन से परमभक्त बना, जिस दिन साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में, मेरी प्रार्थना पर, उनकी अध्यक्षता में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रथम जयन्ती मनाई गई थी। यह शायद १९२२ की बात है। स्व० अवधवासी लाला सीतारामजी ने भी उस सभा में भाषण किया था। अपने भाषण में उन्होंने कुछ ऐसा कह दिया, जो उस अवसर के उपयुक्त नहीं था। हम सबको लालाजी के उन शब्दों से चोट-सी पहुँची। पर उनकी असामयिक और असंगत बातों का कुछ जवाब देना गुस्ताखी करना था। सम्मान्य लालाजी अपने उत्सव के मेहमान थे, वयोवृद्ध थे और भारतेन्दुजी के मित्रों में से थे।

श्रद्धेय पाठकजी का भाषण बड़ा सुन्दर हुआ। दमे की शिकायत से पीड़ित थे, साँस फूल रही थी, पर अविरत गति से बोले चले जाते थे। उनका भक्ति-भावपूर्ण भाषण सुनकर मैं तो गद्‌गद हो गया। भारतेन्दुजी के प्रति आकर्षण मेरा और भी बढ़ गया।

जबतक प्रयाग में रहा, मास में एक दो बार पाठकजी के निवास-स्थान 'पद्मकोट' पर उनका सत्संग-लाभ लेने मैं अवश्य जाया करता था। पद्मकोट की साधारण सजावट में भी उनकी साहित्य-रसिकता और कला की अभिव्यक्ति झलकती थी। बड़े प्रेम से मिलते थे। हृदय पाठकजी ने बड़ा सरस पाया था। कहा करते—"वियोगीजी, तुम चाहो तो दिन में दो बार पद्मकोट का चक्कर लगा सकते हो। मेरी कुटिया तुम्हारे स्थान से है ही कितनी दूर? दो ही डग तो है।" फिर अपनी कोई-न-कोई रचना ज़रूर सुनाते। शब्द छान-छानकर और तोल-तोल-कर रखते थे। शब्द-शोधन में अद्वितीय थे। कौन शब्द कहाँ किस

दृष्टि से रखा गया है, उसका अपना एक इतिहास होता था। वास्तव में, पाठकजी पद-रत्नों के एक ऊँचे जोहरी थे। समझाने का भी उनका अपना अनूठा ढंग था।

पाठकजी सच्चे अर्थ में प्रगतिशील कवि तथा प्रतिभाशाली लेखक थे। परम्परागत तत्त्वों का समूल उच्छेदन न कर उन्हे अधिक-से-अधिक विकसित करने का उनका प्रयास रहता था। प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि वह नया-से-नया मार्ग निकाल लेती थी।

कभी-कभी पाठकजी सम्मेलन-कार्यालय मे, जब वह जान्स्टनगज मे था, शाम को आजाते थे। साहित्य-भवन मे भी कभी-कभी बैठ जाते थे। एक दिन मेरे तथा प०रामनारायण चतुर्वेदी के विशेष अनुरोध पर 'काश्मीर-सुषमा'का कुछ अश पाठकजी ने बडे भाव से सुनाया था। स्वर और लय का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था। भाष्यरूप में काश्मीर के अनेक मनोरम दृश्यों का जो विशद वर्णन किया वह और भी अधिक हृदयरजक था। उठने को जो नहीं करता था। उस दिन पाठकजी कोई डेढ़-दो-घटे डटे और सुधा-वर्षण करते रहे। शायद वह क्वार का महीना था। फिर पाठकजी का वह मधुर कविता-पाठ, प्रकृति-सुषमा का वह अद्भुत चित्रण! छोटे-छोटे बालकों को भी मन्त्र-मुग्ध-सा कर दिया। जब जाने लगे तब मुझे हुक्म हुआ कि 'कल पद्मकोट तुम्हे ज़रूर आना होगा। मुझे तुमने दो घटे बिठाया इसकी सज़ा यही है कि तुम्हें चार घटे से पहले छुट्टी नहीं मिल सकेगी। साथ में चतुर्वेदीजी को भी लाना होगा।"

"ज़रूर कल पद्मकोट की हाज़िरी बजाऊँगा। आप इसी तरह रस बरसाते रहे तो कौन उठना चाहेगा? चार घटे क्या मैं तो आठ घटे

भी डटा रहूँगा। चौबेजी से भी प्रार्थना करूँगा। लाना मेरे वस का नहीं—ज़रा स्थूलकाय हैं। तो भी प्रयत्न तो करूँगा ही।" मैंने प्रणाम करते हुए कहा।

सन् १६२३ की बात है। प्रथम 'मगलाप्रसाद-पारितोषिक' की निर्णायक-समिति के सदस्य जब सर्वसम्मति से या बहुमति से किसी भी पुस्तक पर अपना निर्णय देने में असमर्थ हुए, तब नियमानुसार तुरन्त दूसरी निर्णायक-समिति सम्मेलन को नियुक्त करनी पड़ी। उसके ये तीन निर्णायक थे—प० श्रीधर पाठक, श्रीरामदास गौड़ और मैं। हम लोगों ने सर्वसम्मति से प० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भाष्य-भूमिका" के पक्ष में अपना निर्णय दिया। निर्णय उक्त पुस्तक पर बड़े विचारपूर्वक पाठकजी ने लिखा था। बड़ी गवेषणा पूर्ण समीक्षा थी वह। गौड़जी का और मेरा तो उस निर्णय पत्रमें बहुत कम अंश था। पाठकजी का साहित्य के अन्दर कितना सूक्ष्म प्रवेश था, इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उसी दिन हुआ। लगातार दो दिन हम लोग छह-छह घंटे बैठे, तब कहीं निर्णय तैयार हो पाया। एक एक वाक्य को, एक-एक शब्द को खूब जाँचकर, तौलकर रखने की उनकी आदत थी।

उसके बाद, बस, एक बार और दर्शन हुए। उस दिन श्रद्धेय पाठकजी ने अपने रचे कुछ भारत-गीत सुनाये थे। उनका मंजुल मधुर स्वर में वह झूम-झूमकर सुनाना आज भी मानो कानों में गूँज रहा है। राष्ट्रीय गीत बाद को सैकड़ों बने, पर पाठकजी के भारत-गीतों की बराबरी, मेरे खयाल में, कुछ ही गीत कर सकेंगे।

कई वर्ष पूर्व अपने मित्र श्रीरामनाथ 'सुमन'से मिलने मैं लूकरगंज गया था। दूर से तीर्थोपम 'पद्मकोट' देखा तो हृदय भर आया। सामने दो मिनट ठहरा, प्रणाम किया और चल दिया। क्या मेरी भक्ति-श्रद्धांजलि वहाँतक पहुँची होगी?

श्रीचन्द्रशेखर शास्त्री

ब्राह्मणों की आज बहुत आलोचना होती है, वे बहुत धिक्कारे जाते हैं—मैं स्वय भी कभी-कभी आवेश में आकर ब्राह्मणवर्ग की कड़ी-से-कड़ी निन्दा कर बैठता हूँ, पर उस बिहारी ब्राह्मण को कैसे भुला दूँ, जिसके स्मरणमात्र से मेरा मस्तक अपने आप झुक जाता है? मेरा आशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनन्य भक्त स्व० पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री से है। मेरे श्रद्धेय मित्र शास्त्रीजी सच्चे अर्थों में शत-प्रतिशत ब्राह्मण थे। प्रकाण्ड विद्वान्, साथ ही बडे विनयशील, स्पष्टवक्ता किन्तु प्रियभाषी, विचारों में अद्यतन उदार,मगर अपनी संस्कृति और नीति पर हमेशा दृढ। लिखने की शास्त्रीजी की अपनी विशिष्ट शैली थी, जिसपर उनकी मौलिकता की छाप रहती थी। सस्कृत के पारगत विद्वान् होते हुए भी हिन्दी के प्रति उनके सरस हृदय में ऊँची निष्ठा थी।

शास्त्रीजी बडे आनन्दी जीव थे। जब भी मिलते 'आनन्दम्' कहकर नमस्कार करते। हम लोग भी ऊँचे स्वर से 'आनन्दम्' शब्द से उन्हें अभिवन्दन करते थे। सम्मेलन के सम्बन्ध में चर्चा चलती तो टण्डनजी की निन्दास्तुति सुनाये बिना न रहते। टण्डनजी के मुँह पर भी उनकी अति उदारता या अति साधुता की कड़ी आलोचना किया करते थे, मगर प्रेम और श्रद्धा के साथ—'हृदय प्रीति मुख वचन

कठोर।'

रहन-सहन उनका बहुत सादा था। खद्दर खूब मोटा पहनते थे। चटाई पर बैठकर लिखने-पढ़ने का सारा काम करते थे। सोते भी अक्सर चटाई पर ही थे। आय बहुत थोड़ी थी। प्रकाशक पृष्ठ संख्या देखकर पारिश्रमिक देते थे। लेखक के व्यक्तित्व से उन्हें कोई मतलब नहीं था। कुछ प्रकाशकों ने शास्त्रीजी के साथ असत्य का भी व्यवहार किया था। आपस में भले ही शिकायत की हो, पर अखबारों में उन्होंने ऐसी बातों की कभी चर्चा नहीं की। सत्य और श्रम को उन्होंने अपने जीवन में सर्वोपरि माना। अशिष्टतापूर्ण आलोचना को उन्होंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।

'सम्मेलन-पत्रिका' में, अपने सम्पादन-काल में, मैंने 'मिश्रबन्धु-विनोद' पर तीन या चार आलोचनात्मक लेख प्रकाशित किये थे। बाद को वे लेख मुझे बड़े हलके और अविनयपूर्ण मालूम दिये। प्रकाशित कर बहुत पछताया। तुरन्त 'नम्र निवेदन' शीर्षक मैंने एक छोटा सा 'क्षमा-याचना पत्र' लिखा और उसमें अपने अविनयपूर्ण लेखों पर खेद प्रकट किया। सम्मेलन-पत्रिका में उसे पढ़कर रात को ही शास्त्रीजी मेरे निवासस्थान पर पहुँचे और मेरी पीठ ठोंकते हुए गद्‌गद् कण्ठ से बोले—"तुम्हें इस सत्साहस पर साधुवाद देने आया हूँ। तुमने यह 'नम्र निवेदन' लिखकर जो आत्मशुद्धि की है उससे, भाई, मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुमने यह ब्राह्मणोचित ही कार्य किया है। विनय ब्राह्मण का मुख्य लक्षण है। बस, इतना ही कहने आया था। अच्छा, आनन्दम्।" शास्त्रीजी के आशीर्वाद से मुझे बहुत बल मिला।

मैंने साश्रु नेत्र उन्हें दो बार नमस्कार किया।

अन्तिम दर्शन शास्त्रीजी का १६३३ के साल में यहीं दिल्ली में हुआ था। तब हमारे हरिजन-सेवक-सघ का दफ्तर बिड़ला मिल के दफ्तर के साथ था। शास्त्रीजी की आर्थिक अवस्था उन दिनों बहुत गिरी हुई थी। पर अपनी अन्तर्व्यथा उन्होंने व्यक्त नहीं की। किसी स्थानीय प्रकाशक से शायद सस्कृत-अनुवाद के विषय में कुछ तय करने आये थे। मुझे कुछ ऐसा लगा कि घर की ओर से भी कुछ दुखी से थे। फिर भी चेहरे पर वैसा ही प्रसाद और वैसा ही तेज झलकता था। बड़ा सन्तोष प्रकट किया कि मैं 'हरिजन-सेवक' का सम्पादन-कार्य कर रहा हूँ। शायद आठ वर्ष बाद शास्त्रीजी के दर्शन हुए थे। कौन जानता था कि हमारा यह अन्तिम मिलन था!

: २० :

काशी के संस्मरण

मुक्ति-जन्म-महि जानि,
ज्ञान खानि अघ हानिकर।
जहँ वस संभु-भवानि,
सो कासी सेइय कस न ॥

कितने ही बार इस सोरठे को पढा होगा, यथामति मनन भी किया, पर इस भाग-दौड के जीवन में मुक्ति-भूमि काशी का कभी जी-भर सेवन न कर सका। बुलाया तो मुझे अपत्य-स्नेह से कई बार, पर काशीमाता ने अपने अंक में रखा कभी पन्द्रह दिन भी नहीं। किन्तु आकर्षण मेरा इस पुण्यनगरी की ओर सदा ही रहा। प्रयाग, पन्ना, दिल्ली जहाँ कहीं भी रहा, मेरा काशी का आना जाना नहीं छूटा।

सबसे पहले १९१६ में जब विश्वनाथ बाबा की महापुरी का दर्शन किया था, तब मेरी शुद्ध तीर्थ-दृष्टि थी। तब इतना भी ध्यान में नहीं था कि भगवान् तथागत ने सर्वप्रथम यहीं अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था, संत-शिरोमणि कबीर ने इसी काशी में अलख तत्त्व का रहस्य-दीपक जलाया था, भक्तराज तुलसी ने यहीं बैठकर 'विनय' के सार्व-भौम अद्वितीय पद रचे थे, कवि-शृंगार भारतेन्दु ने यहीं उदित होकर

हिन्दी-साहित्य का नया प्रकाश-युग उतारा था। नागरी-प्रचारिणी-सभा का तब कदाचित् मैंने नाम भी नहीं सुना था। साहित्य-सम्मेलन की जन्मदात्री सभा का पुण्य परिचय तो मुझे बहुत पीछे हुआ।

काशी के साथ मेरा निकट का सम्बन्ध तो १९१८ से हुआ, जब सम्मेलन की ओर से श्रद्धेय बाबू भगवान्दासजी को हिन्दी-विद्यापीठ का उद्घाटन करने के लिए निमन्त्रण देने गया था। ठहरा स्व० बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के यहाँ था। उन दिनों गुप्तजी अपनी शहर की हवेली में रहते थे। विश्वविद्यालय में श्रीरामदासजी गौड़ से भी मेरा तभी प्रथम परिचय हुआ था।

इसके बाद, असहयोग विषय के दो तीन ट्रेक्ट ज्ञानमण्डल प्रेस में छपाने के सम्बन्ध में जब मैं काशी गया, तब श्री मुकुन्ददास गुप्त तथा पन्नालालजी से नीची बाग में मेरा परिचय हुआ। रेलवे हिन्दी टाइम-टेबल के प्रकाशक के रूप में प्रसिद्ध हमारे मुकुन्ददासजी ने पुस्तक प्रकाशन का काम तब शुरू ही किया था। भाई रामनाथजी 'सुमन' के साथ भी मेरा तभी का परिचय है। मुकुन्ददासजी के प्रति उत्त-रोत्तर मेरा आत्मीय स्नेह बढ़ता ही गया—केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने मेरी 'विनय-पत्रिका', 'तुलसी-सूक्ति-सुधा' तथा अन्य पुस्तकें प्रकाशित कीं, बल्कि उनके सहज सौजन्य और सरल व्यवहार ने मुझे खींच लिया और वह मेरे स्नेह-भाजन बन गये। काशी के जिन कई साहित्य-सेवियों से मेरा पत्र व्यवहार द्वारा परिचय हुआ था, उनसे प्रत्यक्ष मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य-रामचन्द्र शुक्ल, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, पं० अयोध्यासिंह

उपाध्याय, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प० केशवप्रसाद मिश्र और श्री जयशंकर 'प्रसाद' के दर्शन एवं सत्संग का कई बार लाभ उठाया।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी से मिलने उनके घर पर दो बार गया, और दोनों ही बार उन्हें रुग्ण और विपन्न पाया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की नीति पर कुछ रुष्ट-से थे। उनके असन्तोष के कुछ कारणों का मैं निराकरण तो कर सकता था, पर विवाद में उतरना उचित नहीं समझा। मैं तो केवल दर्शन करने और आशीर्वाद लेने गया था। आचार्य के दर्शन एवं सत्संग से दोनों ही बार मैंने अपने आप को कृतार्थ माना। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी ने हिन्दी की जिस अनन्य निष्ठा से जीवनभर सेवा की, उसके स्मरण-मात्र से उनके चरणों पर हठात मस्तक झुक जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहली बार जब मैं उनके घर 'गुरुधाम' पर जाकर मिला, तब उनकी गम्भीर मुख-मुद्रा देखकर अधिक बात करने का साहस नहीं हुआ। किन्तु कुछ ही क्षणों में उनके नवनीत-जैसे हृदय ने मेरा सारा भय व संकोच दूर कर दिया। कोई डेढ़-दो घंटे बिठाया। बड़े सौजन्य और स्नेह से बातें कीं। अपने कितने ही पुराने सुन्दर सुखद संस्मरण सुनाये। नागरी-प्रचारिणी सभा के सनातन सेवक प० केदारनाथ पाठक का जिक्र आया। शुक्लजी ने गद्गद कंठ से कहा—"पाठकजी ने ही तो मुझे हिन्दी में लिखने की ओर प्रेरित किया था। उनका मैं सदैव कृतज्ञ रहूंगा।"

दूसरी बार जब शुक्लजी से मिला तब, उन दिनों वे "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" लिखने में व्यस्त थे। कुछ अंश—शायद

प्रेमगाथा-काल का सुनाया भी था। एक स्थल वह भी दिखाया था, जिसमें उन्होंने मिश्रबन्धुओं की कडी आलोचना की थी। "मिश्रबन्धु-विनोद" का अपने इतिहास में शुक्लजी ने कई जगह खडन किया था। १०, मई, १९२९ के पत्र में मुझे लिखा था.—

"प्रियवर,

नमस्कार! "हिन्दी-साहित्य का इतिहास", जो हाल में मैंने 'शब्दसागर' की भूमिका के रूप में लिखा है, भेजता हूँ। आप इसका अवलोकन कर जाइए। इसमें विभाग आदि मने नये ढग से किया है, और बीच-बीच में मिश्रबन्धुओ के अनर्गल प्रलाप का भी निराकरण किया है। मिश्रबन्धु इसपर बहुत कुढे हैं, और अनेक रूपो में मुझपर आक्रमण का उपक्रम कर रहे हैं। आप इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपना कुछ मत अवश्य प्रकट कीजिएगा।"

इस पत्र का मैंने संक्षेप मे उत्तर दे दिया था। जब काशी में दोबारा मिला, तब इसी विषय पर हमारी फिर चर्चा हुई। मिश्रबन्धुओं की धारणाओं का कठोर भाषा मे उत्तर देने के पक्ष मे मैं नहीं था। यों शुक्लजी के निराकरण से मैं सर्वत्र सहमत था। उनके काल-विभाजन के सम्बन्ध में भी मेरा प्राय मतैक्य था। पर उनका यह "अनर्गल प्रलाप" शब्द मुझे अच्छा नहीं लगा था। वह उनके अनुरूप नहीं था। किन्तु शुक्लजी उसपर दृढ थे। मेरी दलील मे उन्हें दब्बूपन मालूम देता था। पर मै तो उनकी ब्रजभाषा की रुचिर रचनाएँ सुनने गया था। शुक्लजी ने मुझे निराश नहीं किया। एक बड़ी सुन्दर रचना कागज़ो में से निकालकर पढ़ने को दी, और वह प्रसग भी बतलाया,

जब उस कविता को लिखा था।

इसके बाद, बस, एक बार और शुक्लजी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह शायद सन् १६३० की बात है। कविवर रत्नाकरजी ने अपने निवास-स्थान पर स्थानीय कवि-गोष्ठी का आयोजन किया था। काशी का यह मेरा बड़ा मधुर संस्मरण है। सचमुच वह एक पुण्यदिवस था। एक ही साथ उस दिन कई साहित्य-महारथियों का उस गोष्ठी में दर्शन-लाभ हुआ। मुझे उस आयोजन का पता भी नहीं था। मैं तो श्रीरत्नाकरजी का दर्शन करने गया था, पर वहाँ तो एकसाथ हमारे कई गुरुजन विद्यमान थे। रत्नाकरजी और श्रीकिशोरी-लाल गोस्वामी का खूब हास्य-विनोद चल रहा था। गोस्वामीजी की आँखें करीब-करीब जवाब दे चुकी थीं। शरीर अस्वस्थ-सा था। पर जिन्दा-दिली में कुछ भी फर्क नहीं आया था। श्रद्धेय हरिऔधजी भी झूम-झूमकर विनोद-चर्चा में रस ले रहे थे। और शुक्लजी किसी पुस्तक के पन्ने उलट रहे थे। बीच बीच में कुछ खाते भी जाते थे। मैं प्रसादजी से बातें कर रहा था। इतने में श्रद्धेय उपाध्यायजी ने प्रस्ताव रखा कि जलपान के पश्चात हम सबको अपनी एक-एक रचना सुनानी ही होगी। गोस्वामीजी ने ताईद करते हुए कहा—"प्रस्तावक महोदय से ही क्यों न कविता-पाठ का आरम्भ कराया जाये।" हरिऔधजी ने अपने चार-पाँच चौपदे सुनाये। पर रत्नाकरजी चौपदों से खुश होनेवाले जीव नहीं थे। वह तो उनकी ब्रजभाषा की कोई शृंगार रस की कविता सुनना चाहते थे। हरिऔधजी ने भी ना नहीं की। रत्नाकरजी की फ़रमाइश पर शृंगारी कवित्तों का भी उन्होंने हम सबको रसास्वादन

कराया। गोस्वामीजी ने भी वैसी ही अपनी एक रसवन्ती रचना सुनाई। इन निपट बूढ़ों का रस-निर्झर देखकर मेरे मन में न जाने कैसा लग रहा था। लेकिन रत्नाकरजी ने स्वरचित 'गजेन्द्र-मोक्ष' के तीन या चार ओजस्वी कवित्त सुनाकर वह सारा कामुकतापूर्ण दृश्य बदल दिया। कवित्त कहने का रत्नाकरजी का बड़ा सुन्दर ढग था। चित्र-सा सामने खड़ा कर देते थे। हम लोगों के आग्रह पर 'गंगावतरण' के भी पाँच-सात पद्य उन्होंने बड़े प्रेम से सुनाये।

अब शुक्लजी से निवेदन किया गया। बडी मुश्किल से कहीं एक दोहा सुनाया। उनको गम्भीर प्रकृति को देखते हुए अधिक ज़ोर डालना उचित नहीं समझा गया। प्रसादजी भी नहीं सुनाना चाहते थे। बहुत-बहुत आग्रह किया, तब कही कुछ सुनाने को तैयार हुए। फिर भी अपनी रचना नहीं सुनाई। बडे-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करते हुए घनानन्द का यह सुप्रसिद्ध सवैया सुनाया—

"परकाजहिं देह कों धारे फिरौ,
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ,
सबहीं विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन-दायक हौ,
कछु मेरियौ पीर हियै परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवान कों लै बरसौ॥"

प्रसादजी की इस विनयशीलता को देखकर तो मैं स्तब्ध रह गया।

मैंने अनुभव किया कि इस विनयशीलता और सरलता ने ही प्रसादजी को इस युग का इतना महान् कवि बनाया है। मैंने मन-ही-मन इस महाकवि को प्रणाम किया।

अन्त में अब मेरी ही बारी थी। मेरे लिए प्रसादजी ने रास्ता तैयार कर दिया था। सो उन्हींका पदानुसरण किया। रसखान का यह सवैया मुझे याद था—

"मानुष हौं तो वही 'रसखान'
बसौं नित गोकुल गाँव-गुवारिन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारिन।
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो कियो सिर छत्र पुरन्दर-धारिन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि
कालिन्दी-कूल कदंब की डारिन॥"

इस चिरस्मरणीय प्रीति-गोष्ठी के बाद, बस, एक बार और प्रसादजी के दर्शन हुए—मृत्यु से पाँच-छह महीने पूर्व रोग-शैया पर। गोस्वामीजी और शुक्लजी भी फिर नहीं मिले। वही, बस, अंतिम मिलन था।

मैंने ऊपर पं० केदारनाथ पाठक का उल्लेख किया है। पाठकजी को श्रद्धांजलि अर्पण किये बिना मेरे काशी के ये संस्मरण अधूरे ही रहेंगे। पाठकजी न लेखक थे न कवि। किन्तु हिन्दी के एक नैष्ठिक भक्त थे। नागरी-प्रचारिणी सभा के संग्रहालय की एक-एक पुस्तक का, एक-एक मासिक पत्रिका का उन्हें पूरा ज्ञान था। हिन्दी-साहित्य के सचमुच वे

एक 'चलते-फिरते विश्वकोश' थे। भारतेन्दु-काल तथा द्विवेदी-काल के प्राय. सभी लेखकों व कवियों के संस्मरण उनके स्मृति-भण्डार में भरे पडे थे। पाठकजी के साथ बात करने में बडा आनन्द आता था। पर उनकी जीवन का संध्याकाल बडे कष्ट मे बीता। आँखों की ज्योति चली गई थी। जीविका का कोई सहारा नहीं रहा था। बहुत बुरी अवस्था थी। जीवनभर सभा की सेवा की। सभा-सचालकों ने अत में उनकी अवस्था पर शायद कुछ ध्यान दिया भी, पर पाठकजी ने सहायता लेना स्वीकार नहीं किया। मुझपर बहुत स्नेह रखते थे। जब कभी मैं काशी जाता, बडे प्रेम से मिलते थे। अतिम बार जब मै उनसे मिला, तब उनकी दयनीय दशा देखकर बडा दु.ख हुआ। तब मेरा किसी श्रीमंत से इतना अधिक परिचय नहीं था कि पाठकजी को कुछ मासिक सहायता दिला सकता। किसीसे इतना भी तो न हुआ कि उनके स्मृति-कोष में जो अनेक अनमोल संस्मरण भरे पडे थे, उन्हे उनके पास बैठकर लिपिबद्ध कर लेता। उनका अपना एक निजी भी पुस्तकालय था। मालूम नहीं, उनकी मृत्यु के बाद उसका क्या हुआ।

काशी के, बस, एक पुण्यपुरुष का संस्मरण और। मेरा आशय स्व० श्री शिवप्रसादजी गुप्त से है। मृत्यु से नौ मास पूर्व सेवा-उपवन में अन्तिम बार मैं उनसे मिला था। काफ़ी अस्वस्थ थे। शरीर काम नहीं देता था। आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे। तन पर शुभ्र खादी, श्वेत दाढ़ी और मस्तक पर चन्दन बडा भव्य मालूम देता था। ठक्कर बापा का तथा हरिजन-निवास के बालकों का कुशल-समाचार बड़े प्रेम से पूछा। हँसकर कहने लगे--"गत वर्ष मैंने जो लँगडे आम भेजवाये

थे, वह आपके लडकों को पसन्द आये थे न ? इस वर्ष भी भेजवाऊँगा। काम तो सब ठीक चल रहा है न ? आपका स्थान मुझे बडा प्रिय लगा था। और बापाजी तो देवता हैं। ऐसे सत्पुरुषों का सत्सग भाग्य से मिलता है। बापाजी से मेरा प्रणाम कहिएगा। आजकल कहाँ है ?"

"दिल्ली में ही हैं। काशी का जब कभी प्रसंग आता है, बापाजी आपको पूछ लिया करते हैं। आपकी दया से हरिजन-निवास का कार्य ठीक-ठीक चल रहा है। आपने डेढ़-दो साल पहले हमारे विद्यार्थियों को प्रार्थना-स्थान पर बैठकर रात्रि को अपने जो यूरोप-यात्रा के रोचक सस्मरण सुनाये थे, वह उनको बहुत याद आते हैं। और आम तो लडकों ने इतने स्वाद से खाये कि कुछ पूछिए नहीं—एक तो बनारस का लँगडा, दूसरे, आपके प्रेम का प्रसाद !" मैंने हँसते हुए कहा।

गुरुजी के जर्जरित स्वास्थ्य को देखते हुए मैं उनके पास अधिक देर नहीं बैठना चाहता था। उठने लगा तो पाँच मिनट और बिठा लिया। बोले—"मैं तो आपको पत्र लिख ही रहा था, मुझे आपसे एक शिकायत है। आपके द्वारा सपादित 'हरिजन-सेवक' मैं कभी-कभी बाँच लिया करता हूँ। मुझे उसकी भाषा पसद नहीं। आप भाषा को क्यों बिगाड़ रहे हैं ? आप लोगों की इस वर्णसकरी भाषा से मुझे बड़ी चिढ है। आप उर्दू में शौक से लिखें, कौन रोकता है, पर कृपा-निधान ! हिन्दुस्तानी की हडिया में यह विचित्र खिचडी न पकाइए। बेचारी हिन्दी को चत-विचत न कीजिए।" कहते-कहते आवेश में आगये।

"पर गुरुजी, हमारी यह प्रवृत्ति यदि हमें ऐक्य की ओर लेजाने

में सहायक होती हो, तो शब्दों की खिचड़ी पकाने में हमारी क्या हानि है ?" मैंने नम्रतापूर्वक कहा।

"यह आपका निराग्रम है। ऐसी बातों से ऐक्य-स्थापन नहीं हुआ करता। छोड़िए इस विषय को। मैंने भी जमाना देखा है। देखते-देखते मैं आज निराशावादी-सा बन गया हूँ। ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियों से हमारा क्या सधनेवाला है ? पूज्य बापूजी को भी मैं कभी-कभी लिखता रहता हूँ।" दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा।

अधिक बोलना मैंने उचित नहीं समझा। प्रणाम किया और चल दिया। उनकी ज्वलन्त हिन्दीनिष्ठा को देखकर मैं तो गद्गद हो गया। उनके राष्ट्र-प्रेम पर, उनकी कांग्रेस-भक्ति पर कौन उँगली उठा सकता था ? मगर आज यदि श्रद्धास्पद गुप्तजी जीवित होते, तो शायद उन्हें 'हरिजन-सेवक' की नई विचित्र भाषा को देखकर और भी मनोव्यथा होती। और उनकी हिन्दी-निष्ठा के अपराध पर उन्हें शायद साम्प्रदायिकतावादी भी करार कर दिया जाता !

: २१ :

कैसे उऋण हो सकता हूँ ?

पिछले कई प्रकरणों में श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन के नाम का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ऐसा होना अनिवार्य था। टंडनजी के निकट संपर्क में मैं कोई छह साल रहा। काफी नजदीक से उन्हे देखा। मैंने उन्हे अपना प्रथम मार्गदर्शक माना है। कहते हैं कि अति परिचय कभी-कभी अवज्ञा का रूप धारण कर लेता है। कुछ अंशों में यह धारणा सही भी है। टंडनजी की कुछ बातों की आलोचना मैंने भी कई बार की—अक्सर मन में और कभी कभी मित्रों के भी बीच में। मगर मेरी आंतरिक श्रद्धा-भावना, जहाँतक मुझे स्मरण है, कभी कम नहीं हुई।

टंडनजी को पहले-पहल मैंने १९१८ में देखा था। सान्निध्य १९२१ में हुआ। फिर तो मैं उनके घर का ही हो गया। अन्तर मैंने उनका सदा वैसा ही पाया, जैसा कि पचीस साल पहले देखा था। उनकी सहज सरलता में, अमन्द तेजस्विता में, शुद्ध सत्यनिष्ठा में और ऊँची विसर्जन-भावना में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा।

टंडनजी के स्नेहपूर्ण संपर्क या सत्संग के कितने ही दिन आज, जब कि यह प्रकरण लिखने बैठा हूँ, आँखों के सामने आ गये हैं। पर यहाँ तो मैं दो-चार प्रसंगों को ही लूँगा। मैं उनकी जीवन कथा

लिखने नहीं बैठा हूँ। उनके साथ रहकर उनके जीवन में जिन दो व्यापक तत्वों को मैंने समीप से देखा उन्हींके विषय मे यहाँ लिखना चाहता हूँ। वे दो तत्त्व हैं, क्षात्र तेज और निर्मल त्याग। यह प्रसादी उन्हें सत-मार्ग की जीवन दीक्षा से प्राप्त हुई। कबीर व दूसरे सन्तों का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कबीर की कुछ साखियाँ तो टंडनजी को इतनी प्रिय हैं, कि मैने उनको बहुधा बातचीत में और उनके भाषणों में भी दोहराते हुए सुना है, जैसे.—

पतिवरता मैली भली,
　　गले कॉच की पोत।
सब सखियन मे यों दिपै,
　　ज्यों रवि-ससि की जोत॥
सिंहों के लैहडे नहीं,
　　हसों की नहिं पॉत।
लालों की नहिं बोरियॉ,
　　साध न चलै जमात॥
'कबिरा' खडा बजार मे,
　　लिये लुकाठी हाथ।
जो घर जालै अपना,
　　चलै हमारे साथ॥

इस अंतिम साखी को तो उन्होने अपने जीवन में चरितार्थ भी कर दिखाया। देश की खातिर टंडनजी ने कितना त्याग किया इसका शायद बहुत थोडे लोगों को ठीक-ठीक पता होगा। असहयोग-आन्दो-

जन के वे कसाले के दिन मुझे आज भी याद आ रहे हैं। उनकी घर की हालत उन दिनों काफी गिर चुकी थी। वकालत को लात मार दी थी। लडकों ने स्कूल से नाम कटा लिये थे। खुद लखनऊ जेल में बैठे तप कर रहे थे। आमदनी का कुछ भी सिलसिला नहीं था। एक मित्र के पास शायद पहले की कमाई का थोडा-सा रुपया जमा था, उसीमें से ले-लेकर गिरस्ती चलाई जाती थी। मैं उन दिनों प्राय उनके घर मे ही रहता था। उनके सबसे बडे पुत्र श्रीस्वामीप्रसाद ने कपडे की एक छोटी-सी दूकान खोल ली थी। और चि० सतप्रसाद एक मशीन लेकर साडियों पर बेल-बूटे काढा करते थे। घर में सब आठ या नौ प्राणी थे। बडी मुश्किल से गिरस्ती का छकडा चलता था। एक राष्ट्र-सेवी मित्र ने घर के लिए कुछ मासिक सहायता भेजने के लिए लिखा। हम कुछ उत्तर नहीं दे सके। जेल मे जब स्वामीप्रसादजी और मैं टंडनजी से मुलाक़ात करने गये, तब हमने उस पत्र की भी चर्चा की। मित्र के स्नेह का बहुत आभार माना, पर ऐसा लगा जैसे उनके स्वमान को उनके प्रस्ताव से ठेस पहुँची। बोले, "तुम इस पत्र का उत्तर तो उसी दिन लिख सकते थे। मुझसे पूछने की ऐसी क्या आवश्यकता थी। देश-सेवा के व्रत को मैं मलिन नहीं करना चाहता। घर का भले ही सर्वनाश हो जाये, पर लोक सेवा का विक्रय नहीं करूँगा।" सुनकर मै अवाक् रह गया। श्रद्धा से मस्तक झुक गया।

और उनकी प्रखर तेजस्विता को तो मैंने कितनी ही बार देखा। इलाहाबाद का एक बडा सुन्दर प्रसग याद आ रहा है। वह यह है --

, सन् तो याद नहीं, पर दिन वह दसहरे का था। चौक में रात को "भरत-मिलाप" होनेवाला था। पर शाम को कुछ साम्प्रदायिक दगा हो गया। भरत-मिलाप अब करें या न करें इस दुविधा में सब पड़े हुए थे। लोग बुरी तरह भयभीत थे। सड़कों पर हथियारबन्द पुलिस गश्त लगा रही थी। छतों पर से ईंट-पत्थर फेंके जा रहे थे। अपने लड़कों को राम और भरत बनाने के लिए कोई तैयार नहीं हो रहा था। टंडनजी को लोगो की यह कायरता बड़ी लज्जाजनक प्रतीत हुई। तुरन्त वहाँ पहुंचे और रामलीला-प्रबन्ध-समिति के सदस्यों को फटकारते हुए बोले—"आप लोगों के लिए यह बड़ी शरम की बात है कि आप भरत-मिलाप बन्द कराने की सोच रहे हैं। चन्द गुण्डो की शरारत से डरकर आप इलाहाबाद की शान को बट्टा लगाने जा रहे हैं। यों रामलीला के इस स्वांग के लिए मेरे दिल मे कोई इज्जत नहीं। पर आज तो यह इलाहाबाद की शान का सवाल है। इस तरह अगर हम गुण्डों से डरने लगेंगे, तो इस शहर में रहना भी हमारा दुश्वार हो जायेगा। हम गुण्डई के आगे कभी सर झुकानेवाले नहीं। आप लोगों की यह कायरता है, जो दंगाइयों के डर से भरत-मिलाप बन्द कराने की सोच रहे हैं।"

डरते-डरते धीरे से किसीने कहा—"पर कोई अपने लड़कों को राम और भरत बनाने के लिए भी तैयार हो—"

"आप यह क्या लचर दलील दे रहे हैं! ज्यादा-से-ज्यादा यही होगा न कि वे लड़के गुण्डों के हाथ से मारे जायेंगे? अगर ऐसा हो, तब भी अंत में उसका अच्छा ही असर पड़ेगा। लोगों के अन्दर

इससे शक्ति पैदा होगी। चलिए, इस काम के लिए मैं अपने दो लड़कों को देता हूँ। अगर वे मारे गये, तो उनके बाद दो लड़के और दूँगा। भरत-मिलाप होगा, और फिर होगा।"

टंडनजी के ये ओजस्वी शब्द काम कर गये। एक-दो ज़िम्मेवार मुसलमान नेता भी, मेरा खयाल है, वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भी ज़िम्मा लेते हुए कहा कि भरत-मिलाप ज़रूर होना चाहिए। और भरत-मिलाप हुआ, और बड़ी शान्ति से हुआ। इलाहाबाद को शरमिन्दगी नहीं उठानी पड़ी।

इलाहाबाद के एक दूसरे हिन्दू-मुस्लिम-दंगे के अवसर पर भी टंडनजी की वही तेजस्विता और निर्भयता मेरे देखने में आई थी। नंगे सिर, बिल्कुल निहत्थे घंटाघर के आगे पहुँचे, जहाँ दंगाइयों का खासा जमघट था। उन्हें जाकर डाँटा और डरी हुई औरतों व बच्चों को बग़ल के मुहल्ले में से निकालकर उनके घरों पर पहुँचाया।

उनकी तेजस्विता ने असत्य के साथ कभी समझौता नहीं किया। अनौचित्य के आगे वे कभी दबे या झुके नहीं। राजनीतिक हेतु साधने के लिए दाव पेच का हलका मार्ग ग्रहण करना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। ऐसी चीज़ें देखकर उन्हें हमेशा चोट पहुँची। १९४५ के सिमला-सम्मेलन में जो कुछ होने जा रहा था—ईश्वर को धन्यवाद कि सम्मेलन सफल नहीं हुआ—उसे देखकर वे बहुत व्यथित हो गये थे। उनका सदा से ही शुद्ध राष्ट्रीयता का पक्ष रहा है, हालांकि उनका पक्ष कई बार गलत समझा गया। उन्होंने साम्प्रदायिकता का किसी भी रूप में फूलना-फलना क्या पनपना भी पसन्द नहीं किया।

भारत के अंग-विच्छेद पर उनके रोम-रोम मे जैसे आग लग गई ! इसमे उन्होंने कांग्रेस का दब्बूपन देखा और देश के प्रति द्रोह भी समझा। 'तुष्टीकरण' की इस नपुंसक नीति का उन्होने प्रबल विरोध किया। उन्होंने माना कि साम्प्रदायिकता का 'विषवृक्ष' तुष्टीकरण की इस नीति से ही पनपा और बढ़ा है। पर उनके इस पक्ष का समर्थन राष्ट्र के सिंहासन पर विराजमान देवताओं ने नहीं किया ! दुर्भाग्य से उनका प्रकृति-सिद्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी का पक्ष भी गलत समझा गया। जिस शख्स के मुँह से यह ओजस्वी उद्गार निकले हों कि, "यदि मैं यह समझता कि हिन्दी से साम्प्रदायिकता फैलती है, तो उसी क्षण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्यालय में आग लगा देता," उसके उद्देश को अन्यथा समझना पाप है।

मुझसे कई मित्रों ने पूछा कि, क्या बात है कि "टण्डनजी राजनीतिक क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सके, वर्किङ्ग कमेटी में भी नहीं आ सके ?" इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ ? सिवा इसके कि राजनीतिक क्षेत्र मे आगे बढने या वर्किङ्ग कमेटी मे आने के लिए देशभक्ति के अलावा कुछ और भी साधनों की आवश्यकता हुआ करती है। उन साधनो का, सद्भाग्य से, टंडनजी के अन्दर अभाव है। राजनीति का जो अर्थ आज किया जाता है, उसमें बहुत आगे बढना उनके लिए कठिन था, उनके स्वभाव के बहुत अनुकूल भी नहीं था। उन्होंने कइयों को, बडो-बडों को भी, आगे बढ़ाया, पर खुद पीछे ही रहे। और इसे मैं उनकी महत्ता ही कहूँगा। उन्होंने लोगों को अपना मित्र बनाया, 'अनुयायी' नहीं, उन्होंने 'कुटुम्ब' का निर्माण किया.

किसी 'दल विशेष' का नहीं। सत्य को उन्होंने सदा निरपवाद रूप में माना। राजनीतिक क्षेत्र में प्रयुक्त अहिंसा का उन्होंने प्रायः विरोध किया, पर 'जीव-दया' का उन हज़ारों की अपेक्षा उन्होंने अधिक आदर किया, जो प्रकट रूप से अहिंसा में विश्वास व्यक्त करते रहते हैं। अहिंसा के विषय में उनके कुछ अपने ही विचार हैं। उनके विचारों को मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका, यद्यपि उनके साथ इस विषय पर कई बार चर्चा हुई। पर उनके हृदय के निर्मल करुणा-स्रोत को मैंने प्रत्यक्ष देखा।

असत्य के साथ उन्होंने कभी किसी भी रूप में समझौता नहीं किया। उन्होंने वकालत की, और खासी की, किन्तु असत्य को उसमें तनिक भी प्रवेश नहीं करने दिया। मुझे याद पड़ता है कि एक ऐसा मुकदमा उनके पास आ गया था, कि उसकी अगर पैरवी करते तो मेहनताने का उससे उन्हें हज़ारों रुपया मिला होता। पर उस मुकदमे को हाथ में लेने से टंडनजी ने साफ़ इन्कार कर दिया। उसमें उन्हें असत्य की दुर्गन्ध आ रही थी। प्रतिष्ठित मुवक्किल को डाँटते हुए कहा—"आप आखिर क्या समझकर इस केस को मेरे पास लाये हैं ? क्या मैं आपकी खातिर अदालत में झूठ बोलने जाऊँगा ? कृपाकर आप अपने इस केस को किसी दूसरे वकील के पास ले जाइए।" मुन्शी छेदीलालजी और भी इसी तरह के कई किस्से हमें अक्सर सुनाया करते थे।

ऐसे कई प्रसंग याद आते हैं, जब अपने उसूलों की खातिर वे बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए तैयार हो गये। उनमें से कई तो घरेलू

प्रसंग हैं। एक बार अपनी पत्नी के साथ किसी छोटी-सी सैद्धान्तिक बात पर मत-भेद हो गया था और उनकी भूल के लिए उन्होंने स्वयं एक सप्ताह का अनशन किया था। गृहस्थी के प्रति उनका कोई खास मोह नहीं रहा। अपने सिद्धान्तों को, हर परिस्थिति में, सदा सामने रखा। कितनी ही बातें घर के लोगो और मित्रों को भी अटपटी-सी मालूम दीं, पर उन्होने परवाह नहीं की। उन्हे कभी-कभी सनकीतक कहा गया, पर उनकी सनक भी मुझे कभी अप्रिय नहीं लगी।

बहुत बरसो से टंडनजी ने चमड़े के जूते या चप्पल पहनना छोड़ रखा था। भावना इस व्रत के मूल में शुद्ध पशु दया की थी। रबर-टायर के, या तो सुतली के तले के, जिनमें खादी की पट्टियाँ लगी रहती थीं, चप्पल पहना करते थे। पर जब मैंने उन्हे बतलाया कि हमारी उद्योगशाला में मुर्दार चमड़े के ही चप्पल व जूते बनते हैं, तो पहनने को तैयार हो गये। मैंने उनके पैर के माप का चप्पल तैयार करा दिया। देखकर प्रसन्न हुए, और कहा—"यह तो खासा मुलायम चमड़ा है। पर पट्टियों के नीचे जो यह सफेद चमड़ा लगा हुआ है यह किस जानवर का ह ?" मैंने बतला दिया कि यह चमड़ा भेड़ का है, और यह मुर्दार नहीं है।" चप्पल उठाकर फेंक दिया। "तब यह मेरे किस काम का ? यह तो तुमने ठीक नहीं किया। मैं तो जिस चीज़ में रत्तीभर भी हलाली चमड़ा लगा हो, उसे बरतना पाप समझता हूँ। यह तो तुम्हें पहले ही साफ़-साफ़ बतला देना चाहिए था।"

मैंने भेड़-बकरी के चमडे के पक्ष में काफी दलीलें दीं। गांधीजी द्वारा दी हुई इस सम्बन्ध की व्यवस्था को भी पेश किया। लेकिन उनके गले एक भी दलील नहीं उतरी। गांधीजी, सयोग से, उन दिनों हमारे हरिजन-निवास मे ही ठहरे हुए थे। उनसे मैंने इस प्रसग की चर्चा की। सुनकर हँसे, और बोले, "पुरुषोत्तमदासजी की प्रकृति को मैं जानता हूँ। तुम क्या ऐसा चप्पल तैयार नहीं करा सकते, जिसमें भेड का चमडा लगाया ही न जाये ?" मैंने कहा, "सो तो बापू, हमने उनके लिए तैयार करा दिया है।"

पर उनकी आग्रह-वृत्ति के मूल मे भी मैंने कोमलता और विनयशीलता को देखा। गाधीजी के साथ कई बातो मे, और आज तो बहुत अधिक, उनका मत-भेद हो गया है। किन्तु गाधीजी पर उनकी जो ज्वलत श्रद्धा-भक्ति है, उनके प्रति जो पूज्य भावना है, उसमें लेशमात्र भी कमी नही आई। और इस बात को गाधीजी भी भली भाँति जानते हैं।

मैंने टडनजी के साधु-जीवन से बहुत पाया, इतना अधिक पाया कि ऋणमुक्त नहीं हो सकता। उनकी विसर्जन-वृत्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। श्रद्धास्पद टंडनजी के जीवन का निर्मल उद्देश मुझे उनकी रची 'पुष्प की अभिलाषा' कविता मे मिला है। उन्होंने इस कविता को हिन्दी-विद्यापीठ मे, शायद १६२४ में, लिखा था--

"भाग्यवान हूँ इस ही मे—
यह विजन कुटीर करूँ सुरभित।

नहीं तनिक इच्छा मुझ को—
मधुकर-मण्डित आरामों की ।
दुर्बल अंग, स्वल्प सौरभ,
मम कामस्थल यह कोना है—
इसे सजाऊँ, इसे रिझाऊँ—
केवल यही कामना है ।
यही लालसा हिय में इसका
इकदिन बिंध गलहार बनूँ :
अपना सब सौरभ समाप्त कर
रजकन में बस बास करूँ ।"

: २२ :

साहित्य का अध्ययन

अबतक के मेरे अधिकांश संस्मरणों का सम्बन्ध साहित्य के क्षेत्र से रहा है। इधर कई वर्षों से यह क्षेत्र लगभग छूट चुका है, फिर भी मैं अधिकतर साहित्य का ही कीड़ा समझा जाता हूँ। शायद यह समझा जाता है कि मैं अब भी साहित्य का अध्ययन करता रहता हूँ। पर यह तो एक भ्रम है। साहित्य का अध्ययन तो मेरा पहले भी बहुत थोड़ा था, इधर आठ-नौ साल से तो उतना भी नहीं रहा। आज तो मुझे यह भी ठीक-ठीक पता नहीं रहता कि इस बीच में हिन्दी-साहित्य की अच्छी-अच्छी पुस्तकें क्या और कहाँ प्रकाशित हुई हैं। मासिक पत्रि-काएँ एक तो देखने को मिलती नहीं, दूसरे, कभी कोई हाथ में आ भी गई तो उसको उलट-पलटकर सरसरी नज़र से देख लेता हूँ। कविता तो कभी शायद ही कोई पढ़ता हूँ। मन नहीं लगता। लेख एकाध ज़रूर पढ़ लेता हूँ। वासुदेवशरण अग्रवाल व हजारीप्रसाद द्विवेदी-जैसे लेखकों की चीज़ बिना पढ़े नहीं छोड़ता। साहित्यकारों से भी अब पहले की तरह मिलना-जुलना नहीं होता। अलबत्ता, जैनेन्द्रकुमारजी से कभी-कभी मुलाकात हो जाती है। पर साहित्यिक चर्चा उनके साथ शायद ही कभी हुई हो। बस, वे मेरे एक मित्र हैं। साहित्यिक मित्र यह मेरी समझ में आजतक नहीं

आया, पर कभी-कभी ऐसे साहित्य-प्रेमी भी भूले-भटके आ जाते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश साहित्यिक चर्चा करना होता है। सोच-विचार में पड जाता हूँ कि उनके साथ आखिर क्या बात करूँ। उस समय का मेरा अप्रत्याशित व्यवहार उन्हें शुष्क और कभी-कभी अहंकारपूर्ण भी प्रतीत होता है। कई सज्जन मुझपर रुष्ट होकर भी गये हैं। पर मैं उन्हे सन्तोष दूँ तो कैसे ? जिन साहित्यिक प्रश्नों की मेरी अद्यतन जानकारी नहीं, यथेष्ट अध्ययन नहीं, वैसी अभिरुचि भी नहीं, उनपर भला मैं क्या चर्चा करूँ ? जो मित्र मेरी इस दयनीय लाचारी को जानते हैं, वे कृपया क्षमा कर देते हैं; दूसरे रुष्ट हो जाते हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि कविता तो शायद ही कभी कोई पढ़ता हूँ। न पढ़ने के दो कारण है। बहुत-सी रचनाएँ तो बिल्कुल साधारण होती हैं, उनको कविता, बल्कि, कहना भी नहीं चाहिए। और ऐसी होती हैं. जो ठीक-ठीक समझ में नहीं आतीं। इतनी गूढ, इतनी रहस्यमयी कि बार-बार सोचने और दिमाग को खरोचने पर भी अर्थ उनका स्पष्ट नहीं होता। बहुत अधिक गहराईतक मै जा नहीं पाता। पढ़ने की चेष्टा करता हूं, पर समझ में न आने से घबराहट-सी लगने लगती है। तब फिर मैं यही मानूँगा कि मेरी बुद्धि सूक्ष्मतम भावों की गहराई-तक पहुँच नही सकती। अपवाद केवल एक है। प्रसादजी की 'कामायनी' को पढते हुए मन वैसी उलझन मे नही पडा, यद्यपि उसके भी कई स्थलों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगा सका। आधुनिक युग की जिन कविताओं को मैं समझ सका और जिन्हे सराहा, उनमें अधिकारी आलोचकों ने कला का रहस्यमय दर्शन नहीं पाया। और जिन

पंक्तियों में उन्हे कला का दर्शन हुआ उनका गूढातिगूढ भाव मेरी समझ में नही आया। और ऐसा ही चित्रकला के विषय में हुआ। लाक्षणिक अभिव्यंजनाओं मे, मुझे लगता है कि, रचनाओं का सारा शरीर ढक दिया जाता है, यद्यपि कहा यह जाता है कि रचनाएँ वे निरलंकृता और निर्वसना होती है। उनकी स्पष्टता के तलतक पहुँचना मेरे लिए तो अशक्य-सा ही रहा।

फिर ऐसे साहित्य पर जो समालोचनात्मक लेख निकलते है, वे तो और भी गूढार्थ-गर्भित होते हैं। किसी प्रकार किसी वाक्य को मैने दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ा, पर आशय उसका अन्ततक अस्पष्ट-सा ही रहा। समझ में स्पष्ट भाव कुछ आया ही नहीं। तब फिर यही मानना पडा कि वैसी चीजे मुझ जैसो के लिए लिखी ही नही गई। एक विद्वान् समालोचक के एक लेख मे पढा था कि अमुक कवियित्री की कुछ रचनाओं में उच्चकोटि का दार्शनिक एव आध्यात्मिक रहस्य भरा पड़ा है। इस लोभ मे मैने उन कविताओ को थोडा समझने का प्रयत्न भी किया। अध्यात्म मैंने उपनिषदो या ब्रह्म-सूत्रो की छाप का देखा हैं और उसे थोडा-थोडा समझ भी लेता हूँ। पर उन कविताओ में मुझे वैसा कोई अध्यात्म दर्शन नही मिला। सम्भव है कि जिस सम्पूर्ण चितनशोलता से उन कविताओ के व्याख्याताओ ने उनमे एक नव उपनिषद का दर्शन किया हो वह मेरे साधारण-से अनुशीलन के मूल में सन्निहित न हो। कबीर और जायसी मुझे अधिक सुगम, अधिक समीप और अधिक आत्मीय मालूम दिये है। मीरां की पदावलो की रस-प्राप्ति अधिक सुलभ रही है। हो सकता है कि जिसे कबीर, जायसी और मीरा को पढने का

आकर्षण और अभ्यास रहा हो, उसे रहस्यमयी आधुनिक कविताएँ दुरूह या अपरिचित-सी लगती हों और इसीलिए उसे उनमें वैसा रस-दर्शन न होता हो। हो सकता है कि कलात्मक दर्शन या दर्शनात्मक कला से मेरा अद्यतन परिचय न होने से भी इस प्रकार की उलझन पैदा हुई हो। हूँ तो मैं इसी युग का, पर मैं अपने को युग के साँचे में ढाल न सका। अस्तु, आयु के इस उत्तरार्द्धकाल में उलझनों के सुलझाने में समय और शक्ति का क्यों व्यर्थ अपव्यय करूँ—यह सोचकर, और जीवन-यात्रा में इधर एक दूसरी ही पगडंडी पकड़ लेने के कारण भी, इस नवागन्तुक साहित्य धारा से मैं विरत-सा ही रहना चाहता हूँ। मुझे तो गोसाईं तुलसीदास की यह कविता-कसौटी ही प्रिय लगती है—

'कीरति, भूति, भनिति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।'

सन्त-साहित्य पर यही मेरे सहज अनुराग का कारण है। अबतक तो यही माना है कि जो साहित्य 'सर्वोदय' का साधक हो, जिसमें लोक-सुलभ प्रसाद की अभिव्यक्ति हो, उसीमें सच्ची सौन्दर्य-कला है और उसीमें जीवन का सपूर्ण रसात्मक दर्शन है। कला की दूसरी विविध व्याख्याएँ गले के नीचे कभी उतरी ही नहीं।

कविता का यह विविध 'वादों' के साँचों में ढाला जाना भी मेरी समझ में नहीं आया। सिद्ध किया तो यही जाता है कि ये विविध 'साँचे' अपने यहाँ के साहित्य में पहले भी विद्यमान थे। इस तथ्य को अशतः स्वीकार करते हुए भी मुझे तो ऐसा लगता है कि इन

साँचों को तैयार करने मे अधिकतर पाश्चात्य मसाले और नमूनो से काम लिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि योरपीय साहित्य का जो लोग उसके मूलरूप मे रसास्वादन कर चुके हैं उनकी दृष्टि मे हमारी चीज भोंडी-सी जचती है, और जो उस साहित्य से अनभिज्ञ हैं उन्हे वह अटपटी-सी लगती है। साँचे मे रचना को पहले के कवि भी ढालते थे, मगर साँचा उनका अपना होता था। ढली हुई चीज़ को रीतिकाल नें अपनाया था सही, पर समाज मे उसको बहुत आदर की दृष्टि मे नहीं देखा गया। यह कह सकते हैं कि उस युग के कवि की जानकारी बहुत लम्बी-चौडी नहीं होती थी, पर यह अभाव भी उनके लिए एक वरदान था। उनका अध्ययन बहुत लम्बा-चौडा न होकर अपने आप मे गहरा होता था। अब, 'अपना' बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। जिनको बाहर का थोडा बहुत परिचय है, उनके लिए इन रचनाओं मे कुछ खास तत नही रहता। दूसरे, जो उन रचनाओ से अपरिचित होते हैं, वे या तो आश्चर्य-चकित हो जाते है, या फिर उनसे अभिभूत। ऐसा लगता है कि पराये भावों को भोंडेपन से रखा जाता है, आत्मसात् करने की शक्ति जैसे जडीभूत होती जा रही है। हम आगे बढे है सही, पर अपनी मूल परम्परा से सम्बन्ध हमारा छूटता जा रहा है। हम आज कहाँ 'सिंहावलोकन' करते है ?

ऊपर मैने लिखा है कि साहित्य का मेरा अध्ययन छूट गया है। पर अध्ययन ही छूटा है, अध्यापन नही। अध्यापन के साथ-साथ अध्ययन भी कुछ-न-कुछ हो ही जाता है। पर तुलसी, कबीर, जायसी आदि सन्तकवियों का ही साहित्य अधिकतर पढ़ाता हूँ। यह मेरे लिए सुगम रहता है। आनन्द-

दायक तो है ही। प्रसाद की 'कामायनी' भी कुछ परीक्षार्थियों को पढ़ाई और उसमें भी खासा आनन्द आया। मैथिलीशरण की भी 'साकेत' और 'यशोधरा' ये दो रचनाएँ पढाते हुए रोचक मालूम हुईं। इन चीज़ों को पढ़ाता हूं, तो मुझे तो आनन्द आता ही है, मेरे विद्यार्थियों का भी मन लगता है। पर कई अर्वाचीन सुकवियों की कविताओं को चूंकि मैं ठीक ठीक समझ नहीं सका, इसलिए उनका अर्थ बतलाना मुझे कठिन या भार-जैसा मालूम दिया। मेरे विद्यार्थियों ने कुछ कहा नहीं, पर स्पष्ट था कि उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। विद्यार्थी, बल्कि, कई ऐसी कविताओं का अर्थ लगा लेते हैं, जिनका अर्थ मैं नहीं कर सका। पर अधिकतर वे अपने मन में ही उनका गूढ़ार्थ समझते हैं, दूसरों को समझा वे भी नहीं सकते। इस अभाव को अनुभव करता हूँ, पर मुझे अपनी इस अयोग्यता पर कभी पछताव नहीं हुआ।

कई बार विचार किया कि कुछ समय निकालकर नियमपूर्वक कुछ अध्ययन करूँ, पर कर नहीं सका। यत्रवत् भी वाचन नहीं हो सकता। पढना दैनिक अखबारोंतक सीमित रह गया है, अथवा, लडकों को पढ़ाते समय जो पढ लेता हूँ। पाठ और पारायण करने को चित्त कभी-कभी दौड़ता है तो, बस, इनकी ओर—कबीर, दादू, रैदास आदि संतों की साखियाँ और शब्द, पद्मावत के कुछ स्थल, रामचरित-मानस, मुख्यकर अयोध्या और उत्तर काण्ड; विनय-पत्रिका, मीरा के कुछ भजन, कामायनी की कई कविताएँ, साकेत और यशोधरा के कुछ प्रसंग।

पर यह सब तो कविता की बात हुई। लेकिन यही बात साहित्य के दूसरे अंगों—नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि पर भी लागू होती है। जिन दस-पन्द्रह नाटकों को पढ़ा, उन्हें नाटककला आज नाटक ही नहीं मानती। प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल के उपन्यासों के अलावा, चार-छह ही मुश्किल से और पढ़े होंगे। कहानियाँ भी पढ़ने का शौक नहीं रहा। समालोचना का साहित्य भी बहुत कम देखा। आशय यह कि साहित्य की दुनिया आज जहाँतक पग बढ़ा चुकी है, उस मंजिल से मैं बहुत, बहुत पीछे रह गया हूँ। मेरे साथी मुझसे बहुत आगे निकल गये। मैं देखता हूँ कि मेरे बाद भी जिन्होंने कदम रखे थे वे भी छलाँगें मारते हुए बहुत ज्यादा आगे बढ़ गये। और मैं वहीं-का वहीं पैर घसीटता रहा। मगर मेरे मित्र मुझे भी साहित्य-पथ का एक यात्री समझते हैं। उनकी इस अनोखी समझ को मैं क्या कहूँ। वे या तो निपट भोले हैं, या फिर मज़ाक करते हैं। मैं सफाई पेश करता हूँ तो उसे भी मज़ाक में उड़ा देते हैं। कहते हैं, तुम्हारी यह सफाई भी साहित्य के रंग से अलग नहीं है। मेरी इतनी ही विनीत प्रार्थना है कि कृपाकर वे ब्रह्मानन्द-सहोदर साहित्य-रस को इस तरह उपहास की वस्तु न बनाएँ।

: २३ :

पन्ना में छह साल

सन् १९२५ मे श्रद्धेय टंडनजी पंजाब नेशनल बैंक के मैनेजर होकर लाहौर चले गये। स्व० लाला लाजपतराय के बहुत ज़ोर देने पर टंडनजी ने बैंक की यह नौकरी स्वीकार की थी। बिना किसी आय के गृहस्थी का छकड़ा आखिर कबतक चल सकता था? देश-सेवा से फ़ुर्सत नहीं थी, और लड़कों में से तबतक कोई कमानेलायक नहीं हुआ था। लड़कों ने स्कूल कालिजों से कई वर्षतक असहयोग किये रहने के बाद फिर से नाम लिखा लिये थे। यह चीज़ भी टंडनजी को जैसे कुछ अखरी-सी थी। मालवीयजी महाराज भी जीविका-निर्वाह के लिए कोई-न-कोई धंधा करने का आग्रह करते रहते थे। सो आपद्-धर्म समझकर टंडनजी ने बैंक की यह नौकरी स्वीकार तो करली, फिर भी मन उनका उचटा-सा रहता था। किन्तु परिस्थितियों ने लाचार सा कर दिया था। मगर लाहौर में भी सार्वजनिक कार्यों से वे अलग नहीं रहे। लालाजी के कुछ विचारों से यद्यपि उनका मत नहीं मिलता था, फिर भी लालाजी को इस बात का विश्वास हो गया था कि उनके लोक सेवक-मंडल (सर्वेंट्स ऑफ पीपल्स सोसाइटी) का काम टंडनजी ही उनके बाद सँभालेंगे, और हुआ,

भी यही। लालाजी की मृत्यु के बाद टंडनजी ही लोक-सेवक-मंडल के आजीवन अध्यक्ष चुने गये।

टंडनजी लाहौर गये, मैं पन्ना चला गया। सम्मेलन के कुछ तत्कालीन अधिकारियों की नीति से मेरा ठीक-ठीक मेल नही बैठ रहा था। उधर पन्ना-नरेश महाराजा यादवेन्द्रसिंहजी से पाँच-सात महीने पहले मेरा परिचय भी हो गया था। उन्होंने पन्ना आने के लिए दो तीन बार आग्रहपूर्वक लिखा भी था। बुन्देलखंड से मेरा पाँच-छह साल से संपर्क छूटा हुआ था। वहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य रह-रहकर आकर्षित भी कर रहे थे। सोचा, विद्यापीठ में जिस विचार से आकर बैठा था वह आज कहाँ पूरा हो रहा है? सम्मेलन के एक अधिकारी को तो लडकों का चरखा कातना भी नापसन्द था। एक दिन आकर हमारे रसोइये से उन्होंने कहा—"बेकार ही ईंधन की शिकायत करते रहते हो। इतने तमाम चरखे ये किसलिए रखे हैं? खासी सूखी लकडी है यह। चूल्हे में फिलहाल इन्हींको जला-जलाकर काम चलाओ। लकड़ी का इन्तज़ाम बाद को कर दिया जायेगा। लडके यहाँ पढने के लिए आये हैं, चरखा कातने के लिए नहीं। यह तो बुढ़ियों और बेवा औरतो का काम है।" उन अधिकारी महोदय के इस प्रवचन के समय मैं वहाँ मौजूद नहीं था। रसोइये ने ईंधन की इस नवीन व्यवस्था का हाल जब मुझे सुनाया तो बडी मनोव्यथा हुई। लडको को भी उनकी यह बात बुरी लगी। मैंने उसी क्षण विद्यापीठ छोड देने का निश्चय कर लिया। चरखे का यह घोर अपमान मेरे लिए असह्य हो गया।

इलाहाबाद से मेरा दाना-पानी उठ गया। मा को छतरपुर भेज

दिया। मैं पन्ना चला गया। वहाँ गया तो मै इस विचार से था कि मनोरम दृश्यों से घिरे हुए उस एकान्त प्रदेश में शान्तिपूर्वक बैठकर अध्ययन करूँगा और कुछ लिखूँगा। पर जो सोचा था वह हो न सका। यद्यपि छह साल के अर्से में पाँच-सात पुस्तकें पन्ना में ही मैंने लिखीं, पर जिस एकान्त-सेवन की मधुर शान्त कल्पना लेकर मैं वहाँ गया था वह नहीं सध सका। 'आये थे हरि-भजन को, ओटन लगे कपास' की मसल हुई। भरसक निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करते हुए भी राज्य के वातावरण से मैं अपने को एकदम अलग न रख सका।

शुरू में मुझे राज्य के अतिथि-निवास में ठहराया गया। इस मेह-मान-घर का नाम बाद को हम लोगों ने 'वीर-भवन' रख लिया था। पुराने राज महल के यह बिलकुल समीप था। हमारे पड़ोस में प्रसिद्ध प्राणनाथजी का विशाल मन्दिर था। 'परणामी' पन्थ का यह सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है। पन्ना को ये लोग 'पद्मावतीपुरी' कहते हैं। हर साल दूर-दूर से हजारों परणामी भाई स्वामी प्राणनाथ के इस विशाल मन्दिर का दर्शन करने आते हैं। यह एक पहुँचे हुए सन्त थे। महाराज छत्रसाल इन्हें गुरुवत् मानते थे।

पन्ना छोटा सा सुन्दर कस्बा है। 'झन्ना-पन्ना' के नाम से यह दूर-दूरतक प्रसिद्ध है। हीरे की खानें भी यहाँ की मशहूर हैं। जन-संख्या इस नगर की लगभग बारह हज़ार के है। पहाड़ी जगह है। पन्ना राज्य में एक-से एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य हैं। पाण्डव, बृहस्पति-कुण्ड, केन का प्रपात आदि यहाँ के बड़े ही रमणीक स्थान हैं। प्राचीन तपोभूमि के कितने ही चिह्न आज भी वहाँ देखने में आते हैं।

पाण्डव का झरना तो मुझे इतना प्रिय था कि उसे देखने मैं अक्सर जाया करता था।

पन्ना का वातावरण इलाहाबाद से कितना भिन्न था इसका अनुभव मुझे दिन-दिन होने लगा, यद्यपि देशी राज्यों का जीवन मेरे लिए नया या निराला नहीं था। इलाहाबाद में पाँच-छह साल ही तो रहा था, फिर भी शुरू-शुरू मे ऐसा लगा जैसे दुनिया के एक ऐसे कोने में मुझे लाकर रख दिया गया हो जहाँ के हर आदमी और हर चीज में मुझे एक अजीब-सी भिन्नता दीख रही थी। बाहर के हालात से लोग अनजान थे और इसका उन्हे कोई खेद भी नहीं था। उनकी बिल्कुल अपनी दुनिया थी---अपने ही विचार, अपनी ही कल्पनाएँ। पूर्ण या अपूर्ण सब अपने आपमें ही थे। मेरे सामने कोई काम भी नहीं रहता था। सुबह और शाम महल में जाकर हाज़िरी बजाना, महाराज के साथ मोटर पर नई-नई जगह घूमना, नई-नई बातें सुनना और कवि-सुलभ भाव-धारा में बहते रहना---प्राय यही वहाँ मेरी दिन-चर्या रहती थी।

बहुत दिनोंतक मैं अजनबी-सा नहीं रहा। धीरे-धीरे वहाँ कई सज्जनों से मेरी मित्रता हो गई। साहित्यिक वातावरण भी बनाना चाहा, पर वह हो नहीं सका। इलाहाबाद की और यहाँ की गोष्ठियो मे अन्तर था। वहाँ साहित्यकारों के बीच में बैठता था, यहाँ सरदारों और अधिकारियो के साथ। चर्चा के विषय यहाँ रहते थे---अपने राज्य और राजा की तारीफ़ व पड़ौस के राज्यों की नुक्ताचीनी, अपने अपने वैभव का बखान; शिकार का रोमांचकारी वर्णन या गपशप और भद्दा

हँसी-मज़ाक। वहाँ इलाहाबाद में आये दिन नेताओं का आगमन होता रहता था, यहाँ राजा-महाराजाओं और सरदारों की अवाई-जवाई में लोग व्यस्त रहते थे। वहाँ मीटिंग होती थीं, यहाँ दरबार। महाराजा की वर्षगाँठ के उपलक्ष में जो शानदार मेला लगता था, वही यहाँ का सब से बड़ा सार्वजनिक समारोह या जलसा कहा जासकता था। अधिक देखने या जानने को लोगों को कुछ इच्छा भी नही होती थी। अलबत्ता, एक-दो सरदार और कोई-कोई अधिकारी मुझे देखकर कांग्रेस या स्वराज्य की चर्चा भी छेड़ दिया करते थे। लेकिन अक्सर ऐसा वे मेरे मन का भाव भाँपने के लिए करते थे। मगर मैं जोश मे आकर काफी कह जाता था। सीधे-सादे बुड्ढे सरदार स्वराज्य की बात को अव्वल तो समझते नहीं थे, दूसरे, वे इसकी कभी कल्पना भी नहीं करते थे कि देशी राज्यों का किसी दिन नाम-निशानतक नहीं रहेगा और अंग्रेज़ी हुकूमत का भी तख्ता उलट जायेगा। वे इसे शेखचिल्ली की बात समझते थे। मगर जो सचमुच समझते थे वे मेरे विद्रोही विचारों को खैरख्वाही के साथ ऊपरतक पहुँचा देते थे। पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब तो खास इसीलिए मुझसे दोस्ती रखते थे। लेकिन मैंने अपने मन के विचारो को कभी दबाया नहीं। देशी राज्यों और अंग्रेजी सत्ता के विषय में मेरे क्या विचार थे पन्ना-नरेश को इस बात का पूरा पता था। उनके हृदय में मेरे स्पष्ट विचारों की याद को चाहे जो प्रतिक्रिया होती हो, पर जहाँतक मुझे याद पड़ता है, उन्होंने प्रकट रूप मे कभी कुछ कहा नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मेरे विचारों को राजमहल के वातावरण में पसन्द किया जाता था। मैं अन्दर अन्दर, धीरे-धीरे

अवाञ्छनीय बनता जा रहा था। पर इस बात का मुझे पता कोई चार साल बाद चला।

धीरे-धीरे अज्ञात रूप से अब मैं वहाँ के वायुमण्डल मे घुलने-मिलने लगा। अधिकतर मैं महाराजा के छोटे भाई श्रीभारतेन्द्रसिंहजी के छोटे से कमरे मे बैठा करता था। उन्हे साहित्य की पुस्तकें पढ़ने का शौक़ था। बातें भी वे मुझसे दिल खोलकर किया करते थे। शिक्षा-विभाग उन्हीके अधीन था, जिसके साथ मेरा भी सीधा सम्बन्ध था। शाम को अक्सर क्लब में भी जा बैठता था। वहाँ रोज क्लब के सदस्य बिलि-यर्ड खेलते थे। मैं देखा करता, पर समझ मे कुछ भी नहीं आता था। वहीं राज-काज की बातें भी चलती थीं। राजनीति के मानी थे एक-दूसरे की शिकायत व बुराई, कानाफूसी और खुशामद। कभी-कभी जागीरी मन्दिरों के महन्त भी आजाते थे, पर ज्ञान और भक्ति की बातों से उनका सरोकार नहीं रहता था। वे भी प्रपच की ही बातें सुनने-सुनाने में रस लिया करते थे। एक बात ज़रूर कहूँगा कि वहाँ कोई शील-मर्यादा के बाहर नहीं जाता था। यह दूसरी बात है कि कोई-कोई सरदार क्लब मे एकाध पेग ब्रांडी या ह्विसकी चढ़ा लेते थे, जिसका वहाँ निषेध सर्वथा नहीं था।

दस ग्यारह महीने मेरे वहाँ ठाली बैठे रहने मे ही बीते। काफ़ी समय बेकार जाता था। महीनों की मेहमानदारी, या मुफ्तखोरी मुझे अब खलने लगी। मै कोई-न-कोई काम चाहता था, पर वैतनिक रूप में नहीं। काम मुझे मिल गया, और मेरे मन का मिला। शिक्षा-विभाग के 'विशेष सहायक' के नये पद पर मै नियुक्त किया गया। हाईस्कू

को छोड़कर, राज्य के बाकी सारे स्कूल मेरे सिपुर्द किये गये। किन्तु राज्य से मैंने भोजन-मात्र का ही सम्बन्ध रखा, उससे कोई वैतनिक या आर्थिक सम्बन्ध नहीं जोड़ा। अपनी समझ से मैंने यह अच्छा ही किया। ऐसा करके अपने व्यक्तित्व का मैं बहुत-कुछ बचाव कर सका।

पन्ना में भी रहा मैं 'मसिजीवी' ही। 'वीर-सतसई', 'भावना', 'प्रेम-योग', 'पगली' और 'अनुराग वाटिका' इन पुस्तकों को मैंने पन्ना में ही लिखा था। शिक्षा-विभाग के काम से और व्यर्थ गपशप से जो समय बचता था उसका उपयोग लेख या कविता लिखने में करता था। कमाई का सिलसिला यहाँ भी वही 'इलाहाबादी' ही था, बल्कि पन्ना में मकरूज़ कुछ अधिक ही रहा। खर्च यहाँ काफ़ी बढ़ गया था। छतरपुर से मां तथा ममेरे भाई को चार-पाँच महीने के बाद बुला लिया था। उनका ख़र्च तो मामूली था, पर मेरा अपना ख़र्च बढ़ गया था। राजघराने के सम्पर्क में रहते हुए मेरे रहन-सहन में स्वभावतः अन्तर आगया था। अकिंचनता के प्रति पहले जो सहज आकर्षण था, उसमें धीरे-धीरे अब कमी आने लगी थी। पहनता तो खादी की धोती और कुरता ही था, पर कई-कई जोड़ रखता था। दो रुपये मासिक धोबी को धुलाई के देता था। धोबी से मैंने पन्ना में ही कपड़े धुलवाये। जूते-चप्पल भी आधे दर्जन तो रखता ही था। बालों में सुगन्धित तेल भी डाला करता था। उसके बाद तेल छूटा सो छूटा। आईने का भी इस्तेमाल करता था। आईना कैसे छूटा इसकी कहानी है। बालों में मेरे अपने-आप छल्ले पड़ जाया करते थे। एक दिन आइना हाथ में लेकर सामने के बालों को मैं प्रयत्न-पूर्वक ज़रा मोड़ने लगा। एक क्षण में ही ऐसा करना वाहियात-सा

मालूम दिया, और इसके लिए मैंने उस ग़रीब आईने को दोषी ठहराया। ज़ोर से उसे ज़मीन पर दे मारा, उसके टुकड़े-टुकड़े होगये। तब मैं फिर, सिवा कभी-कभी दाँत या आँख देखने के, आईने में चेहरा नहीं देखा। बिना आईने के ही दाढी बनाने का अभ्यास डाल लिया। दाढ़ी भी वहाँ हर दूसरे दिन बनवाया करता था।

इस सब परिग्रह का मुझे पता भी नहीं चल रहा था। अज्ञात रूप से फिसलता चला जारहा था। यदि किसी तरह राज्य के कोष से रुपया लेने के लिए मैं तैयार हो गया होता, तो परिग्रह के दलदल में शायद और भी बुरी तरह फँस जाता। ईश्वर ने ही बचाया। अक्सर मेरे ज़िद्दी स्वभाव ने, जिसका बचाव दलीलों से नहीं हो सकता, कितने ही अनिष्टों से मुझे दूर रखा। वह ज़िद ही थी—और घरवालों की दृष्टि में दुराग्रह—कि मैंने वहाँ शिक्षा-विभाग की जो छह साल सेवा की, उसका कोई पारिश्रमिक राज्य से नहीं लिया। मुझे इस बात का संतोष है कि पारिश्रमिक न लेकर मैंने अच्छा ही किया, भले ही मेरे कुछ हितैषियों ने मेरी इस ज़िद को हिमाक़त कहा।

एक दिन वयोवृद्ध दीवान ठाकुर विश्वनाथसिंह महाराजा साहब के आदेश से ७००) लेकर मेरे डेरे पर पहुँचे, और पूरा ज़ोर डालकर मुझसे कहा—"यह रुपये तो तुम्हें लेने ही होंगे। तुम्हारे सिर पर काफ़ी कर्ज़ होगया है, इस बात का हमें पता है, कर्ज़ इस रुपये से उतार दो। ना, मैं तुम्हारी एक नहीं सुनूँगा।" उनके निश्छल स्नेह की मैं अवज्ञा नहीं कर सका। नीचा सिर करके रुपया तकिये के नीचे रख लिया। पर रात को नींद नहीं पड़ी। पड़े-पड़े सोचता रहा—यह तो संकोच में बुरी

तह डाल दिया। पर कुछ भी हो, रुपया तो अपने पास नहीं रखूंगा। इस फंदे से क्यों गला फाँसूँ ? मान लेता हूँ कि मेरे राज्य से कुछ न लेने के निश्चय के मूल में नासमझी ही थी, पर यह निश्चय तो मैंने उस समय धर्म समझकर ही किया था, उसे आज सात सौ रुपये के लोभ में पड़कर क्यों भंग करूँ ?

रास्ता निकाल लिया। दूसरे दिन 'श्रीछत्रसाल-स्मारक-निधि'' में वह रुपया जमा करा दिया। तब कहीं चित्त को शांति मिली। किन्तु एक दो बार रुपया अपने पास रख लेने के विचार ने भी ज़ोर मारा था। मेरी परिस्थिति भी इस प्रकार के विचार के अनुकूल थी और दलीलें तो रुपया रख लेने के पक्ष में थीं ही।

: २४ :

"छत्रसाल-स्मारक"

पन्ना-नरेश बहुत दिनो से अपने महाप्रतापी पूर्वज महाराजा छत्रसाल का स्मारक बनाने की बात सोच रहे थे। पन्ना मे छत्रसाल की एक विशाल मूर्ति खड़ी की जाये, केवल इतना ही तब उनके ध्यान मे था। एक दिन मुझसे भी, शायद पँचमढ़ी में, उन्होने इस सबन्ध मे सलाह ली थी। मूर्ति के अतिरिक्त, मैंने ये चीज़ें और सुझाई -(१) प्रतिवर्ष अच्छे समारोह के साथ 'छत्रसाल-जयन्ती' मनाना, (२) छत्रसाल के ग्रन्थों का सम्पादन व प्रकाशन कराना, और (३) पन्ना तथा बुन्देलखण्ड के दूसरे राज्यो मे 'छत्रसाल-संवत्' चलाना। सवत् तो नहीं चल सका, पर मेरे पहले दो सुझावो को सहर्ष मान लिया गया। पन्ना में यह एक खासा अच्छा काम हुआ। इस नव्य आयोजन को राजा एव प्रजा दोनो का हार्दिक सहयोग मिला। यो तो बुन्देलखण्ड के अधिकाश राज्यो के शासक महाराजा छत्रसाल के ही वंशज हैं, पर उनका स्मारक बनाने की बात किसीको भी न सूझी। और बाद को भी किसी अन्य राज्य से जेसा चाहिए वैसा इस शुभ कार्य में पन्ना राज्य को सहयोग प्राप्त नहीं हुआ।

छत्रसाल-स्मारक बनाने के सम्बन्ध मे पन्ना में जो क़दम उठाया

गया, वह निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। छत्रसाल के एक प्राचीन चित्र पर बम्बई के प्रसिद्ध शिल्पी श्रीम्हात्रे द्वारा एक विशाल मूर्ति तैयार कराई गई। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व का कार्य तो वहाँ छत्रसाल–जयन्ती मनाने का हुआ। सयोग से ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को मेवाड़-केसरी महाराणा प्रताप का भी जन्म हुआ था। अत पन्ना में हमने पहले-पहल १९२९ में एकसाथ दोनों स्वातन्त्र्य-वीरों की जयन्तियाँ बड़े उत्साह और समारोह के साथ मनाई। इस अवसर पर बाहर से भी कुछ अच्छे-अच्छे विद्वानों और कवियों को राज्य की ओर से आमंत्रित किया गया था। पड़ोसी राज्यों तथा मध्यप्रात और सयुक्तप्रान्त के कई नगरों में भी छत्रसाल-जयन्ती उत्साहपूर्वक मनाई गई। किन्तु बाद को पहले के जैसा न तो वह उत्साह रहा, न शायद वैसा सगठन ही।

'छत्रसाल-ग्रन्थावली' के सपादन और प्रकाशन का काम मैंने ले लिया। इस शोध-कार्य में काफ़ी परिश्रम करना पड़ा था। साहित्य-ससार में छत्रसाल के विषय में तब केवल इतना ही प्रसिद्ध था कि उनके दरबार में कवियों का बड़ा आदर होता था, यहातक कि भूषण की पालकी में उन्होंने अपना कन्धा लगा दिया था, और स्वय भी वे एक अच्छे कवि थे।

'मिश्रबन्धु विनोद' में राज विनोद, गीतो का सग्रह, छत्र-विलास, नीति-मजरी और महाराज छत्रसालजू की काव्य इन पाँच पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। छत्र-विलास एक सग्रह ग्रन्थ है, जो चरखारी के राजकीय प्रेस में छपा था। पाठ इसका बड़ा ही भ्रष्ट था। लिन हस्ते-

लिखित पुस्तको के आधार पर मैंने 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' का सपादन किया, वे सभी बड़े महत्त्व की थी। पन्ना राज्य क पुस्तकालय में मुझे तीन हस्तलिखित पुस्तकें मिली थीं—मेहराज चरित्र, महाराज छत्र-सालजू की काव्य और नीति-मजरी। इन तीनों प्रतियो तथा छत्र विलास के पाठ मिलाकर सशोधित रूप में, शोधपूर्ण छोटी-सी भूमिका के साथ, मैंने 'छत्रसाल ग्रन्थावली' तैयार की, और उसे स्मारक-समिति की ओर से प्रकाशित कराया। किन्तु दु ख है कि साहित्य-ससार में 'छत्रसाल-ग्रन्थावली' यथेष्ट आदर और प्रचार न पा सकी। आशा तो मुझे यह थी और आज भी है कि छत्रसाल की रचनाओ पर हमारे विद्वत्समाज मे अच्छी चर्चा होनी चाहिए।

स्वय छत्रसाल पर भी हमारे इतिहास-लेखकों ने नगण्य-सा ही ध्यान दिया है। इसमें बुन्देलखण्ड की प्रजा का भी दोष है। कोई सवा सौ साल पहले एक अग्रेज़ कर्नल ने लालकवि कृत "छत्र-प्रकाश" का अग्रेज़ी अनुवाद, पाद-टिप्पणियों के साथ, फोर्ट विलियम मे छपाया था। बाद को काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने मूल 'छत्रप्रकाश' प्रकाशित किया। छत्रपुर के श्रीकुँवर कन्हैयाजू ने 'बुन्देलखण्ड-केसरी' नाम की एक प्रामाणिक पुस्तक छत्रसाल पर लिखी। मराठी में श्रीबालचन्द लालचन्द शाह वकील ने 'छत्रसाल' नाम का एक उपन्यास लिखा, जिसका श्रीरामचन्द्र वर्मा ने हिन्दी मे अनुवाद किया। इतिहास ग्रन्थो मे छत्रसाल की प्राय उपेक्षा ही की गई। स्व० काशीप्रसाद जायसवाल ने छत्रसाल पर अग्रेज़ी मे एक बड़े महत्त्व का लेख लिखा था, जिसमे उन्होंने सिद्ध किया था कि छत्रसाल का

नाम ससार के बडे-बडे स्वातन्त्र्य वीरो के साथ लिया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि जातीय जागरण का जो काम महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी ने किया था वही काम बुन्देलखड में महाराजा छत्रसाल ने किया। तत्कालीन राष्ट्र-निर्माताओ के साथ छत्रसाल के नाम का उल्लेख न करना एक ऐसा ऐतिहासिक अपराध है, जो किसी तरह क्षमा नहीं किया जा सकता। छत्रसाल धर्म और देश की रक्षा के लिए मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध जीवनभर लडे। राष्ट्र-निर्माण के साथ-साथ उन्होंने साहित्य का भी खासा निर्माण किया। भाव तथा भाषा दोनों ही दृष्टियों से उनकी रचनाएँ टकसाली कही जा सकती है। राजनीति पर उन्होंने जो पद्य लिखे उनसे उनका राज्य-शासन-सम्बन्धी गहरा अनुभव व्यक्त होता है। शासको के लिए उनकी कई सूक्तियाँ तो सदैव पथ-प्रदर्शक का काम देती रहेगी, जैसे—

रैयत सब राजी रहे,
ताजी रहै सिपाहि।
'छत्रसाल' ता राज को,
वार न बाँको जाहि॥

'छत्रसाल' जन पालिबो,
अरिहिं घालिबो होय।
नहिं बिसारियो, धारियो,
धरा-धरन कोउ होय॥

बालक लौं पालहिं प्रजा,
प्रजा-पाल 'छत्रसाल'।

ज्यों सिसु-हित-अनहित सुहित,
करत पिता प्रतिपाल ॥
'छत्रसाल' राजान कौं,
वर्जित सदा अनीति ।
द्विरद-दंत की रीति सो
करति न रैयत प्रीति ॥

दतिया के प्रसिद्ध संत अक्षर अनन्य के कुछ आध्यात्मिक प्रश्नों के महाराज छत्रसाल ने जो उत्तर उन्हें भेजे थे, उनसे ज्ञात होता है कि वे न केवल महान् वीर, योद्धा तथा सफल शासक थे, वरन् ऊँचे भक्त और तत्ववेत्ता भी थे ।

नीचे लिखे पद्य में तो शासन नीति का सारा निचोड़ भर दिया गया है--

चाहौ धन धाम भूमि भूपन भलाई भूरि,
सुजस सहूरजुत रैयत को लालियौ,
तोड़ादार घोडादार वीरन सों प्रीति करि,
साहस सों जीति जग खेत ते न चालियौ ।
सालियौ उदंडनि कौं, दंडनि को दीजौ दंड,
करकै घमंड घाव दीन पै न घालियौ,
विनती छत्रसाल करै, होय जो नरेस देस,
रैहै न कलेस लेस, मेरो कह्यो पालियौ ॥

औरंगजेब की मृत्यु के बाद, बादशाह बहादुरशाह ने छत्रसाल से वैर रखना उचित नहीं समझा । १७०८ में बादशाह ने महाराजा

छत्रसाल को एक बहुत बड़े प्रदेश का अधिपति स्वीकार कर लिया, और उन्हें अपना मनसबदार बनाना चाहा, पर उन्होंने मनसब लेना स्वीकार नहीं किया। बादशाह को लिख भेजा--

जाको मानि हुकम सुभानु तम नाम करै,
चन्द्रमा प्रकास करै नखत दराज को,
कहै छत्रसाल, राज-राज है भँडारी जासु,
जाकी कृपा-कोर राज राजै सुरराज को।
जुग्म कर जोरि-जोरि हाजिर त्रिदेव रहै,
देव परिचार गहै जाके गृह-काज को
नर की उदारता मे कौन है सुधार, मै तौ
मनसबदार सरदार ब्रजराज को॥

ऐसे महान् स्वाभिमानी नर-केसरी के वंशजों को जब समीप से हम ने देखा कि देश का बुरी तरह विनाश करनेवाली विदेशी सत्ता की अधीनता को क़ायम रखने में वे अपना मान और गौरव समझते हैं, तब लज्जा से सिर नीचा हो गया। तोपों की सलामी बढ़वाने और खिताब पाने के लोभ मे ये लोग बुरे-से-बुरा देश द्रोह का काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। छत्रसाल, शिवाजी या प्रताप की स्मृति-रक्षा की ये सारी योजनाएँ तब निरर्थक-सी लगने लगीं। परतन्त्रता की जड़ें सींचनेवालों के लिए कब शोभा देता है कि वे स्वातन्त्र्य वीरों के स्मारक निर्माण करें? पन्ना में पहले जब छत्रसाल-स्मारक बनाने की चर्चा चली, मन में तब काफी उत्साह हुआ था। बाद को वह बात नहीं रही। मुझे ऐसे स्मारकों में कुछ सार्थकता दिखाई नहीं दी।

: २५ :

शिक्षा-विभाग में

शिक्षा-विभाग मे 'विशेष सहायक' के नये पद पर मेरी अवैतनिक नियुक्ति कर दी गई। काम भी यह मुझे मन का मिल गया। मेरे दफ्तर के लिए बाज़ार में श्रीबलदेवजी के विशाल मन्दिर का एक बड़ा कमरा दिया गया। मेरे दफ्तर में दो इन्सपेक्टर थे, दो क्लार्क थे और दो चपरासी। दफ्तर के काम का तब मुझे कुछ भी अनुभव नहीं था। न तो हिसाब किताब समझ में आता था, न छोटी-बड़ी मिसलें। दफ्तरों में जिस भाषा का चलन था उसमे फारसी के मुश्किल लफ्ज़ो की भरमार रहती थी। मगर मैं घबराया नहीं। अपने अनुभवी मुन्शियों से रोज़ कुछ-न-कुछ सीखता था, पर उन्हें अपनी नाजानकारी का पता नहीं चलने देता था। दो-तीन महीने के अर्से में सारा काम मैंने अच्छी तरह समझ लिया। नये अफसरों को रियासती अहलकार लोग किस तरह बनाते और उन्हे अपने हाथों में रखते है, इस बात का पता मुझे दस-बारह दिन में ही चल गया। मेरा पेशकार काफ़ी होशियार व तजर्बेकार था। तनख्वाह तो उसकी शायद १५) से भी कम थी, पर ऊपरी आय अच्छी हो जाती थी। मुदर्रिसों पर उसका काफ़ी रौब-दाब था। दफ्तर आने-जाने के लिए मुझे एक पुरानी

टमटम दी गई थी। राज्य की टमटम ने लोगो की नज़रो में मेरी खासी इज्ज़त बढ़ादी। और सालाना दौरे मैं मोटर पर किया करता था।

मेरे चार-पाँच साल के कार्य-काल में ग्राम-पाठशालाओं की संख्या खासी अच्छी बढ़ गई। चार नये मिडिल स्कूल कायम हो गये और दो या तीन छोटी-छोटी कन्या-पाठशालाएँ। संस्कृत-विद्यालय खास पन्ना नगर में पहले से ही था। मै यह कहूँगा कि ग्राम-शिक्षासम्बन्धी मेरी कई योजनाओं में राज्य ने प्रायः कोई बाधा उपस्थित नहीं की। मगर कुछ तहसीलदारों और पुलिस के छोटे-मोटे अधिकारियों को ग्रामों की जागृति का मेरा यह मामूली-सा प्रयत्न भी अच्छा नहीं लगता था। उन्हे भय था कि कहीं साक्षरता का प्रकाश पाकर प्रजा अपनेको उन्हींकी तरह 'मनुष्य' न समझने लग जाये। मैं यह जानता था कि राज्यो मे, खासकर छोटे-छोटे राज्यो में, किसी भी प्रकार की जन-जागृति को अक्सर शंका की नज़र से देखा जाता है। हाईस्कूल की अंग्रेज़ी शिक्षा में वे कोई ऐसा तात्कालिक खतरा नहीं देखते। खतरा तो ग्राम-शिक्षा-योजनाओं से उन्हें रहता है। एक खासे समझदार सुसभ्य नरेश ने मुझसे, बातचीत के सिलसिले में, एक बार कहा था कि, "मैं अपने राज्य में हाईस्कूल तो एक के बजाय दो या तीन भी खोल देने को तैयार हूँ, पर ग्राम-शिक्षा-प्रसार को मैं अधिक उत्तेजन देने के पक्ष में नहीं हूँ। ग्रामीण प्रजाजनों में जो सहज राज-भक्ति आज मैं देखता हूँ, वह उनके साक्षर हो जाने के बाद भी वैसी ही क़ायम रहेगी, इसमें मुझे पूरा सन्देह है, क्योंकि पड़ोसी ब्रिटिश भारत के ज़हरीले साहित्य का हमारे ग्रामों में पहुँचना राज्य के हित में कदापि

अच्छा नहीं।" मैं तो दंग रह गया उनकी यह विचित्र-सी दलील सुनकर। मगर 'राज्य के हित में' इन शब्दों के बजाय अगर उन्होंने 'राजा के हित में' यह कहा होता, तो शायद उनका कथन कुछ सही भी होता। लेकिन असल में शिक्षा-प्रसार का काम जैसा ख्याल मैंने समझ रखा था वैसा था नहीं। उन ग़रीब इलाकों की नग्न वास्तविकता को देखा तो मेरी आँखें खुल गईं। दौरों में मुझे कितने ही नये-नये अनुभव हुए। गाँवों को खूब नज़दीक से देखने का अवसर मिला। जनता में शिक्षा के प्रति सर्वत्र प्राय उदासीनता ही पाई। मैंने देखा कि ग़रीबी व बेकारी ने लोगों को एकदम जड़ बना दिया है। अपने नन्हे-नन्हे बच्चों को मदरसे में भेजने के बदले गरीब आदमी उनसे दो-तीन घंटे रोज़ खेत खलिहान में मज़दूरी कराना कहीं अधिक लाभदायक समझते हैं। मदरसों से बच्चों के नाम कटवाने की कोशिश की जाती है। एक स्कूल में मुझे अपने चपरासी से मालूम हुआ कि मेरे मुन्शी को एक वृद्धा काछिन एक रुपया, अपना लोटा बेचकर, नज़र करने आई थी कि वह मास्टर से सिफ़ारिश करके उसके पोते का नाम मदरसे से कटादे। लड़का कोई नौ साल का था। बुढ़िया का वही एकमात्र सहारा था, जो घर पर रहकर चार-पाँच पैसे रोज़ की मज़दूरी कर सकता था। चार अक्षर उसे पढ़ा-लिखाकर वह हमारी अनिवार्य शिक्षा योजना को सफल बनाने के पक्ष में नहीं थी। और इसी तहसील के एक भाग में 'अनिवार्य शिक्षा' का प्रयोग चलाने की बात मैं सोच रहा था! मेरा जोश वहीं ठंडा पड़ गया।

उस दरिद्र इलाके के एक गाँव का भयंकर और करुणोत्पादक

चित्र मैं आपके सामने रखता हूँ।

सन् १६२६ के माघ का महीना था। मोटर मेरी खराब हो गई थी, इसलिए रात को हमें एक छोटे-से पुरवा में रुक जाना पड़ा। मैं उन दिनों एक पहाड़ी परगने का दौरा कर रहा था। शाम से ही कड़ाके की सरदी पड़ने लगी थी। दाँत से दाँत बजते थे। चारों ओर घना जंगल, और दूरतक निर्जन पहाड़ी सूनसान। साँझ पड़ चुकी थी, पर सारी बस्ती में कहीं एक दिया भी नहीं टिमटिमाता था। तीस-चालीस झोंपड़ियों का पुरवा था वह। बीच गाँव में एक बड़ा-सा कौंडा (अलाव) धधक रहा था, जिसमें बड़े-बड़े लक्कड़ जला रखे थे। वहाँ पन्द्रह-बीस आदमी कुछ तो बैठे ताप रहे थे और कुछ वहीं खड़े बातें कर रहे थे। हम पहुँचे तो देखकर वे कुछ डर-से गये, यद्यपि मोटर को हम डेढ़-दो मील के फासले पर छोड़ आये थे। सभी बिना वस्त्र के थे। कमर पर केवल एक-एक चीथड़ा था। उनमें कुछ तो क्वाँदर (एक जंगली जाति) थे, और कुछ चमार और लोधी। सौ थीगरों का लत्ता लपेटे वहीं एक अधी बुढ़िया लाठी के सहारे खड़ी थी—जैसे हाड़ों की माला। उसके पींजर की एक-एक हड्डी दीखती थी। आग के मुँह पर खड़ी भी वह थर-थर काँप रही थी। पाँच-सात नंग-धड़ंग बच्चे भी वहीं अलाव के इर्द-गिर्द खेल रहे थे। एक हाथ में बसारा (एक मोटा धान्य) की काली-काली बड़ा-रोटी का टुकड़ा था, तो एक नन्हीं लड़की कुदई और भाजी कठौती में गींज-गाँजकर (सानकर) खा रही थी। फोड़ों से सिर उसका जैसे सड़ गया था, और नाक से रेंट बह रही थी। बीच-बीच में खाज भी खुजलाती जाती थी। एक लड़का अपनी बहिन को गोदी

में लिए महुवा और चरवा (चिरौंजी के फल) बड़े स्वाद से चबा रहा था। वहीं एक लँगड़ा बुड्ढा अपने लड़कों को गन्दी-गन्दी गालियाँ दे रहा था। बात यह थी कि उन मौंड़ो (लड़कों) को लापरवाही से झुसौल में रखा हुआ कुछ पाला पटौली की एक बकरी चर गई थी। बूढ़ा बेचारा चिचियाता ही रहा, पर उन मुरहों (शैतानों) ने कुछ भी ध्यान न दिया।

हम लोगो को देखकर उनमें से कुछ तो मारे डर के खड़े हो गये, और कुछ सरककर परे जा बैठे। हमें सब अविश्वास की दृष्टि से देख रहे थे। हमारी भी समझ में नहीं आ रहा था कि उन लोगों से आखिर हम क्या बात करें। देहातो के मैंने इससे पहले कई हृदय-विदारक दृश्य देखे थे, पर इस पुरवा का यह दृश्य देखकर तो रुलाई आ गई। दरिद्रता और विपदा का कुछ पार! अन्न का कहीं दाना नहीं, तन पर धागा नहीं। जंगली फलों, फूलों और कुधान्य से सब पेट भर रहे थे। जानवरों से भी बदतर हालत थी उनकी।

मैं उस इलाके में नये-नये मदरसे खुलवाने का इरादा और उत्साह लेकर गया था। दिल वहीं-का-वहीं बैठ गया। सोचने लगा, इन कंकालों के साथ मैं कैसा निर्दय मखौल करने आया हूं! तड़प तो रहे हैं ये अस्थि-पंजर बच्चे रोटी के लिए, और मैं इनके हाथ में देने आया हूँ स्लेट का पत्थर और पोथी का कागज! मैं अपनी सालाना रिपोर्ट में बड़े अभिमान से लिखूँगा कि राज्य के इतने बच्चों को साक्षर बना दिया गया है! उस अलाव पर बैठे-बैठे मैंने अपने आपको मन-ही-मन बहुत धिक्कारा।

मेरे मुन्शी ने, बगैर मुझसे पूछे, उन क्वाँदरों में से दो को तो चपरासी के साथ बिस्तरे और सामान लाने के लिए बेगार में पकड़-कर भेज दिया था, और एक झोंपड़ी में से मेरे लिए एक खाट भी निकलवा ली थी। मुन्शीजी की व्यवस्था में मैं कभी हस्तक्षेप नहीं करता था। एक दूसरे गाँव से मेरे लिए उन्होंने दूध भी दो ढाई सेर मँगवा लिया था। उन दिनों दूध और साग व फलों पर मैं तपश्चर्या का व्यय-साध्य जीवन व्यतीत कर रहा था। शीतल वायु का झोंका जैसे पसीने को सुखा देता है, उसी तरह मुन्शीजी की इस सुन्दर व्यवस्था ने मेरी करुणा के स्रोत को जहाँ-का वहीं सुखा दिया। मेरा वह करुणोद्रेक सचमुच क्षणिक था एक भावुक कवि का उफान था। वह चीज गहरी नहीं चुभी थी। संवेदन का चमड़ा मेरा मोटा पड़ गया था। अब वैसी चुभन नहीं होती थी। मुन्शी, अर्दली और मोटरगाड़ी ने अन्तर में बहनेवाली मेरी करुणा-धारा को जैसे सोख लिया था।

जहाँ कहीं शिक्षा-प्रसार के लिए थोड़ा बहुत क्षेत्र भी था, वहाँ उपयुक्त साधनों का अभाव था। सुशिक्षित अध्यापक शायद ही कोई था। योग्य अध्यापक मिलते भी नहीं थे। देहात के मास्टर का वेतन पाँच रुपये से लेकर बारह-तेरह रुपयेतक होता था। बहुत-से स्कूलों में पढ़ाई नाममात्र को ही होती थी। हाजिरी लड़कों की बहुत कम रहती थी। जब कभी महाराजा साहब या उनके भाई अथवा कोई उच्च अधिकारी स्कूल के सामने से गुजरते, तो गाँव के सारे लड़कों को मिठाई का लालच देकर कतारबन्द खड़ा कर दिया जाता था। लड़के

एकाध स्वागत-गीत भी गा देते, और मास्टर अतिथि देवता के गले में फूलों की माला डाल देता। इसी तरह इन्सपेक्टर साहब का भी वह यथाशक्ति स्वागत-सत्कार कर देता था। टीका के साथ कुछ रुपये का नज़राना मुआइने के बाद शिकायत का मौक़ा नहीं आने देता।

मैंने शुरू में कुछ सख्ती से काम लिया। बहुत-से अयोग्य अध्यापकों को नौकरी से अलहदा कर दिया, और उनके स्थान पर कुछ अधिक वेतन देकर अच्छे शिक्षित अध्यापकों को रखा। ब्राह्मण अध्यापकों में इससे बड़ा असंतोष फैला। उनमें से कुछ तो बिल्कुल निरक्षर भट्टाचार्य थे। एकाध गलत-सलत आशीर्वादी श्लोक या दोहा उन्हें कण्ठाग्र था, उसीके नाम पर उन्हें 'शिक्षण-वृत्ति' मिलती थी। उन्होंने मुझे बहुत कोसा। एक ने तो रोष में आकर मेरे सामने अपना जनेऊ तोड़कर फेंक दिया। पर उस अक्षर शत्रु दुर्वासा के ब्रह्मशाप का मुझ विप्र-द्रोही पर कुछ भी असर नहीं हुआ!

मकानों का भी काफी कष्ट था। जीर्ण-शीर्ण छोटी-छोटी झोपड़ियों में अधिकांश पाठशालाएँ लगती थीं। मैंने एक योजना बनाई, जिसके अनुसार अच्छे नये मकान खड़े किये जा सकते थे। जितना रुपया एक पाठशाला पर खर्च होता उसका आधा जनता से चन्दे के रूप में लेने का विचार था और आधा राज्य से। ऐसे पचास 'सरस्वती-मन्दिर' आसानी से बन सकते थे। मगर अभिमानी राज-परिवार ने इसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझी। प्रजा को शुभ कार्य में भी बराबरी का दर्जा देना उसे अपने हक़ में अपमान-जनक-सा मालूम दिया। यहीं से राज्य के साथ मेरा सम्बन्ध

चलना शुरू हुआ। मैं हैरान था कि मेरी ऐसी निर्दोष योजना से राज्य को क्यों खटका हुआ। इस सम्बन्ध का अपना मन्तव्य समझाने के लिए मैंने जहाँ-तहाँ सभाओं में जो व्याख्यान दिये, वह भी राज्य को पसन्द नहीं आये। एक दिन पुलिस-सुपरिंटेंडेंट ठा० निर्भलसिंह ने, जो मुझसे मित्रता मानते थे, मुझे इस बात का संकेत कर दिया कि मैं राज्य की दृष्टि में अपनी नियत मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हूँ। 'सरस्वती-मन्दिर' वाली योजना तो मैंने त्याग दी, पर शिक्षा-प्रसार की दृष्टि से जन-सम्पर्क का कार्य-क्रम जारी रखा। अन्दर-अन्दर मेरे विरुद्ध क्या क्या कहा-सुना जा रहा था, इसका मुझे पता नहीं चलता था। यह सब होते हुए भी महाराजा साहब तथा राज्य के उच्च पदाधिकारी बिना किसी हिचकिचाहट के यह मानते थे कि शिक्षा के प्रचार से जो जाग्रति हुई है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

सन १६२६ में राजधानी में हमने एक वार्षिक उत्सव मनाया, जिसमें मिडिल स्कूलों के विद्यार्थियों व अध्यापकों को राज्य की ओर से आमन्त्रित किया गया। हमने एक ग्राम-प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया। इस प्रदर्शिनी में लड़कों के हाथ की तैयार की हुई तथा संग्रहीत वस्तुएँ रखी गई। लोक-प्रचलित कहानियाँ व गीत भी बहुत-से विद्यार्थी लिखकर लाये थे। कई लड़कों ने अनेक जड़ी-बूटियों और रंग-बिरंगे पत्थरों का भी संग्रह किया था। द्वितीय वार्षिक उत्सव की नुमाइश और भी अच्छी हुई। लड़कों ने व्यायाम के भी कई सुन्दर प्रदर्शन किये। कुश्तियाँ भी हुईं, और अनेक देशी खेल भी। उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषिक इत्यादि भी दिये गये। यह

मेला एक सप्ताहतक रहा। पन्ना-नरेश ने ऐसे दो या तीन उत्सवों में बड़े उत्साह से भाग लिया। उन्होंने प्रेरणात्मक भाषण भी दिये। किन्तु बाद को उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। शिक्षा विभाग के इस वार्षिक उत्सव में भी राज्य के अधिकारियों को कुछ राजनीतिक गन्ध आने लगी। उनके व्यवहार में मुझे फ़र्क़ दिखाई देने लगा। अछूत बालकों को सरकारी स्कूलों में दाख़िल करने के बारे में मैंने अपनी सालाना रिपोर्ट में जो ज़ोरदार तजवीज रखी थी, उसने साफ़ ज़ाहिर कर दिया, बल्कि आसार दिखने लगे कि मेरे विरुद्ध जल्द ही एक तूफ़ान उठनेवाला है।

: २६ :

तूफान के सामने

अब मुझे रह-रहकर बेबसी महसूस होने लगी थी। मन में कितने ही ऊँचे-नीचे विचार उठते थे। मैं आखिर यहाँ बेकार पड़ा-पड़ा क्या कर रहा हूँ? यहाँ तो मामूली-से समाज-सुधारों की भी आशा नहीं। मेरे विचारों को केवल यहाँ सुनभर लेते हैं, उनपर अमल कब होने दिया जाता है? ये लोग सब कितनी छूत-छात मानते हैं! अगर मैं मेहतर से बिस्तर बिछवा लेता हूँ, तो इसपर भी उँगली उठाई जाती है। उस दिन अपने मेहतर के हाथ से अगर मैंने एक गिलास पानी मँगाकर पीलिया, तो क्या बुरा किया?

महाराजा साहब के छोटे भाई नन्हे राजा के साथ मैं उन दिनों सोहन-निवास में रहता था। केवल वही एक मेरे विचारों से सहमत थे। पर 'लोक-मर्यादा' के भंग होने का उन्हें भी भय था। राज-कुटुंब का खयाल तो था ही। मैं उनकी स्थिति को संकट में नहीं डालना चाहता था। साथ ही, अपने सही विचारों को अधिक दबाना भी नहीं चाहता था। मेहतर के हाथ से पानी मैंने एक या दो-बार मोहन-निवास में ही पिया था। चार-पाँच बसोरों को कभी-कभी भजन गाने के लिए भी बुला

लिया करता था। उनके राज़ी न होने पर भी एक दिन मैंने उन लोगों को अपने कमरे में दरी पर हाथ पकड़कर बिठा लिया कि गज़ब होगया ! नौकरों व सरदारों में आपस में कानाफूसी होने लगी। तिल का ताड़ बन गया। अफवाह यहाँतक फैल गई कि बलोरो की उस मण्डली को मैंने अपने साथ खाना भी खिलाया है, हालाकि मेरे मन में ऐसा विचार कभी नहीं आया था। मगर अफवाह दब गई। मुझे आगाह भी कर दिया गया कि ऐसा कोई कदम नही उठाना चाहिए, जिससे कि आपस में मनमुटाव और शाति-भग होने का अदेशा हो। उन गरीब बलोरों पर ऊपर से डाँट भी पडी। मैंने उन्हें बाद को कई बार बुलाया, पर आने की उनकी हिम्मत न पडी। मैं समझ गया। हवा का रुख बदला हुआ था।

अपने विचारों को अन्दर-अन्दर बहुत दबाने से ऐसा लगता था जैसे किसी बद कोठरी मे मेरा दम घुटा जारहा हो। राज्य के स्कूलों मे अछूत बालकों का दाखिल न किया जाना एक ऐसा सवाल था जो मुझे सबसे ज्यादा परेशान कर रहा था। मैं हैरान था कि मनुष्य-समाज का एक भाग, जिसका कोई भी अग प्रकृत्या अपूर्ण नहीं है, शिक्षा के लाभ से क्यों वचित रखा जाता है ? मेरे दौरे की पवई तहसील के मिडिल स्कूल की बात है। एक बनिये का लडका शाम को बडे मधुर सुर मे मुझे रामायण सुना रहा था। वहीं एक अधेड चमार बैठा हुआ था। भगत था। रामायण खूब प्रेम से सुन रहा था। मैंने उससे पूछा—'तुम भी अपने बच्चों को पढाओ न ? बातचीत करने में लडके तो तुम्हारे होशि-यार मालूम देते हैं। मज़े मे एक साल मे रामायण पढ़ने लग जायँगे।

खोलो उन्हें पढ़ाओगे ?' 'मालिक, हमारे बच्चन के भाग में पढ़बो-लिखबो कहाँ बदो ? हमें ढिगालुक (पास-तक) तो कोउ बैठन नईं देत'—कहते-कहते उसका गला भर आया।

पढ़ाने को मास्टर हिचकिचाता था। उसे तहसीलदार का डर था, और तहसीलदार को अपने सबसे ऊँचे अधिकारी का भय था। बहाना था कि प्रजा में इससे हलचल मच जायेगी। जोखिम लेने को कोई तैयार नहीं होरहा था। मैंने उसी चमार के हाथ से दोपहर को अपना पानी का घड़ा रखवाया था। मेरा मुंशी मेरे इस दुःसाहस को देखकर काँप गया। चपरासी और ड्राइवर ने भी नाक-भौं सिकोड़ी। मेरे पन्ना पहुँचने से पहले ही मेरी इस 'धर्मभ्रष्टता' की खबर महाराजा साहब के कानों तक पहुँच चुकी थी।

मुझे भारी मानसिक पीड़ा होरही थी। कैसा अंधेर है, इस ग़रीब चमार के होनहार बच्चे हमारे मदरसे में चार अक्षर भी नहीं पढ़ सकते ! इन बेचारों के लिए साधारण शिक्षा का भी द्वार बन्द है। यदि इन बच्चों के लिए मैं शिक्षा की सुविधा राज्य से न करा सका, तो फिर इस विभाग में मेरा रहना बेकार है, बल्कि पाप है। एकबार प्रयत्न करके देखता हूँ। सामान्य स्कूलों में फिलहाल इनके लिए प्रवेश की बात को छोड़ देता हूँ, पन्ना चलकर इनके लिए अलग स्कूल खुलवाने की चेष्टा करूँगा। इसमें भी विफल रहा, तो शिक्षा विभाग को लात मार दूँगा।

यह सन् १९२१ का प्रसंग है। मैंने निश्चय कर लिया कि खास पन्ना में हमें एक अछूत पाठशाला जल्द-से-जल्द स्थापित कर ही देनी

है। सद्भाग्य से तीन-चार मित्र मेरे इस विचार के समर्थक मिल गये। महाराजा साहब ने भी कुछ पशोपेश के साथ पाठशाला खोलने की स्वीकृति देदी। अब प्रश्न अध्यापक का था। प्रभुदयाल नाम का एक कायस्थ नवयुवक हिम्मत करके पढ़ाने के लिए भी तयार होगया। एक राज-पंडित ने दबी जबान से हमें शास्त्रीय व्यवस्था भी देदी। और खुशनसीबी से स्कूल के लिए हमें एक छोटा-सा मकान भी मिल गया।

एक दिन श्रीबलदेवजी के मन्दिर के सामने सार्वजनिक सभा का आयोजन करके राज्य की ओर से अछूत-पाठशाला खोलने का निश्चय मैंने घोषित कर दिया। सभा में बड़े प्रयास से कुछ मेहतरों को भी बुलाया गया था। बहुत ज़ोर डालने पर दो-तीन मेहतर भाई सबके साथ दरी पर डरते-डरते बैठे। पाँच-सात बच्चों को भी सभा-स्थल पर ही, गणेश-वन्दना के साथ, वर्णमाला का पहला पाठ पढ़ाया गया। तत्पश्चात् सभा की समाप्ति पर सब उपस्थित जनों को मिठाई बाँटी गई। रूढ़िवादी जन-समुदाय इससे विचलित हो उठा। धर्म मानो रसातल को चला गया। जहाँ तहाँ यही चर्चा सुनाई देती थी कि भाई, हमारे छत्रसाली राज्य में इतना बड़ा अन्धेर आजतक कभी नहीं हुआ। बेचारे प्रभुदयाल को तो तत्काल जाति बहिष्कार का दण्ड मिला। दलित वर्ग भी मारे डर के काँपने लगा। अपने बच्चों को हमारी पाठशाला में भेजने के लिए भी तैयार नहीं होता था। दूसरे दिन बड़ी मुश्किल से तीन बालकों को उनके घरों से लाकर प्रभुदयालजी ने पढ़ाया। उन्हें धमकियाँ भी खूब दी गईं।

उधर मन्दिरों के महन्त व पुजारी धर्म की 'रक्षा' के लिए अपनी

सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार होगये । इन सारे अनर्थों का मूल मैं ही समझा गया। अफवाह तो यहाँतक उडी कि अछूतों का दल जबर्दस्ती मन्दिरों में घुसने का प्रयत्न करनेवाला है, और उनका नेतृत्व वियोगी हरि करेगा। रूढ़िवादी समाज मरने मारने के लिए आमादा होगया। इस तूफान की खबर रात के एक बजे पुलिस के एक बडे अधिकारी ने हमारे मोहन निवास मे आकर दी और मुझे सतर्क कर दिया। मजा यह था कि सामने कोई विरोध नही करता था, पीठ-पीछे ही यह आन्दोलन खडा होरहा था। लेकिन राजकुटुम्ब और रूढिप्रिय प्रजा के विरोध के बावजूद भी पन्ना-नरेश ने दृढता से काम लिया। मन्दिर-प्रवेश का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। विरोधी दल के पाँच-सात प्रतिनिधियो का एक दिन महल में बुलाकर श्रीमन्तने समझाया, डाँटा भी, और कहा कि अछूत पाठशाला मेरे हुक्म से खोली गई है, वह अब बन्द नहीं हो सकती। इस काम में अगर कोई अनुचित दखल देगा तो उसके खिलाफ सख्त काररवाई की जायेगी।' विरोधियों का जोश ठंडा पड गया। मगर मेरे प्रति विरोध की भावना ने जड पकडी सो पकडी। किन्तु मुझे सन्तोष है कि उस विषवृक्ष में भी अन्ततोगत्वा अमृत-फल ही लगा, इस प्रकरण का पीछे अच्छा ही परिणाम निकला। इससे मुझे बहुत प्रेरणा मिली।

इस घटना के फलस्वरूप पन्ना से एक पाक्षिक पत्र निकालने का मैंने निश्चय किया। नाम उसका 'पतित-बन्धु' सोचा। पन्ना का राजकीय प्रेस मेरी ही देख-रेख में चलता था, और पत्र उसमें आसानी से छप सकता था। पर मुझे इजाजत नहीं मिली। फलत: जबलपुर से

मुझे उसके प्रकाशन का प्रबन्ध करना पड़ा। पूँजी मेरे पास केवल छह सौ रुपये की थी। डेढ़ सौ रुपये मेरे अपने थे, और साढ़े चार सौ तीन-चार मित्रों से माँग लिये थे। मास में दो बार मुझे जबलपुर की दौड़ लगानी पड़ती थी। मेरे विद्याव्यसनी मित्र व्योहार राजेन्द्रसिंहजी मेरी बहुत सहायता किया करते थे। ठहरता मैं हमेशा उन्हीं के घर पर था। साहित्य-सेवी युवक पं० नाथूराम शुक्ल का भी सहयोग मुझे संपादन-कार्य में अच्छा मिला था।

'पतित-बन्धु' के मैंने, अपनी दृष्टि के सामने, दो उद्देश मुख्य रखे थे—एक उद्देश तो सर्वधर्म समन्वय, और दूसरा दलितजनों की सेवा। दिव्यवाणी, सन्त-सुधा और दलित-संसार ये हमारे मुख्य स्तम्भ थे। सहयोग कई लेखकों का, सद्भाग्य से, मिल गया था। मगर पत्र मेरे चलाये चल नहीं सका। न तो उपयुक्त क्षेत्र था, और न साधन, न अनुभव। जैसे-तैसे ११ अंक निकालने के बाद मेरे सामने आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। मेरे कुछ मित्रों ने इस 'अव्यापारेषु व्यापार' में पड़ने से मुझे रोका भी था। फिर भी मैंने हाथ आग में डाल दिया। अपनी भावना या सनक को पवित्र बनाये रखने के लिए विज्ञापन भी नहीं लिये। हर मास केवल कागज़, छपाई और डाक इत्यादि का खर्च सौ रुपये से ऊपर आता था। ग्राहक सिर्फ १६० बन सके थे। पास में अब एक भी पैसा नहीं था। अपनी फूस की झोपड़ी को भी फूँककर दो दिन तमाशा देख लिया। मैंने हृदयस्पर्शी अपील भी निकाली, पर सब अरण्य-रोदन था। जैसे-तैसे एक दो जगह से कर्ज़ लेकर चार अंक और निकाले। कर्ज़ को बाद में व्योहारजी ने पटाया। अपनी प्यारी

हस्रग्त को अपनी आँखों के आगे, अपने ही हाथों, मैंने बुरी तरह मसल दिया। मेरे प्यारे 'पतित बन्धु' की एक वर्ष के भीतर ही अकाल-मृत्यु होगई।

उधर शिक्षा-विभाग का कार्य भी अब निर्बाध रूप से चलाना मेरे लिए कठिन होगया। राज को मेरा वहाँ रहना भी वाञ्छनीय नहीं लगा। फलतः १९३७ के अगस्त से फिर इलाहाबाद आगया। किन्तु पन्ना के निवास-काल के जो एक दो संस्मरण रह गये हैं, उन्हें अगले प्रकरण में देकर आगे बढ़ूँगा।

: २७ :

एक-दो प्रसंग और

पन्ना के एक-दो प्रसंग और देना चाहता हूँ। न दूँ तो पन्ना राज्य के मेरे निवास की कहानी शायद अधूरी ही रह जायेगी।

सन् १९३० की बात है। ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह जोर वेग से चल रहा था। बुन्देलखण्ड की रियासतों में भी इस आग की लपटें पहुँचीं। रेल और अखबारों से दूर इन अँधेरे कुओं की प्रजा के बीच तरह-तरह की अफवाहें फैलीं---जैसे, अंग्रेज अपने बँधने बोरिये ले-लेकर भाग रहे हैं, कलकत्ते पर महात्मा गांधी का कब्जा हो गया है, जगह-जगह लूट-मार मच रही है, वगैरह, वगैरह। परिस्थिति से अनुचित लाभ उठानेवाले अप्रमाणित नेता जहाँ-तहाँ उठ खड़े हुए। उनमें बहुत-से पेशेवर डाकू भी जा मिले। तीन-चार रियासतों में 'स्वराज' के नाम पर कई वारदातें हुईं। एक गिरोह ने तो यह भी सोचा कि काश्तकारों को डरा-धमकाकर लगान भी वसूल किया जाये। रियासतों की पुलिस व फौज के साथ मुठभेड़ होने और गोली चल जाने का भी अन्देशा था, जिसमें सैकड़ों निरपराध आदमी मारे जाते। पन्ना राज्य की एक तहसील में एक बहुत बड़ी सभा करने का उन लोगों ने आयोजन किया था। वहाँ भारी उपद्रव हो जाने की आशंका थी। ईश्वर

निश्चित्त करें, और मैं उन्हें विश्वास दिला दूँ कि उनकी आवाज़ सुनी जायेगी, तो बाद को राज्य की ओर से उनके साथ विश्वासघात तो नहीं किया जायेगा ? अगर ऐसा हुआ तो मेरे लिए तो मरण ही हो जायेगा।"

"नहीं, ऐसा नहीं होगा। दूसरे राज्यों की तो मैं नहीं कह सकता, पर अपने पन्ना की तरफ़ से ऐसी कोई बात नहीं होगी। आप ज़रूर जाइए।"

मैं रात को ही वहाँ पहुँच गया। पुलिस सुपरिटेंडेंट भी अपने दल-बल के साथ पहुँच गये थे, पर वे सभा-स्थल पर नहीं गये। सभा में आठ हजार से कम आदमी नहीं थे। ठाकुरों की भी काफी बड़ी संख्या थी, और लगभग सभी हथियारबन्द थे। प्रधान नेता उनका एक ब्राह्मण था। किन्तु दृश्य वह सभा के जैसा नहीं था। मगर लोगों में उत्साह खूब था। मेला-सा मालूम देता था। कोई डफली बजा रहा था, कोई ढोलक। कोई भजन गा रहे थे, तो कोई किस्से-कहानियाँ सुना रहे थे। नारे भी नये नये लगा रहे थे। खूब शोरगुल हो रहा था। लोगों को शायद यह भी पता नहीं था कि वे वहाँ किसलिए इकट्ठे हुए हैं। पर सबके दिलों में एक कुतूहल था। मैं अचानक ही उनके बीच में पहुँचा। मुझे पहले से उनके तीन-चार मुखिये पहचानते थे। उन लोगों ने मेरा स्वागत किया, और सबको परिचय दिया। लोगों के चेहरों पर मुझे कुछ ऐसा नहीं दिखाई दिया कि वे कोई विद्रोह करने के लिए आये थे। लेकिन, अगर पुलिस वहाँ हस्तक्षेप कर बैठती तो ज़रूर उपद्रव हो जाता, दोनों तरफ़ से गोली भी चल

जाती। मैंने मुखियों से काफी देरतक बातें कीं। पड़ोस के एक राज्य के ख़िलाफ उनकी कई शिकायतें थीं। पर इस बात को वे भी अनुभव कर रहे थे कि उनका सगठन बिल्कुल कमज़ोर है, और उनके साथ कुछ डाकू भी शामिल होगये है। अपने आन्दोलन की सफलता पर उन्हें खुद भी पूरा सन्देह था। कोई किसीकी नहीं सुन रहा था। मैंने सलाह दी कि उन्हें सबसे पहले अपना सगठन करना चाहिए। मैंने सुझाया कि आप लोग अपने कुछ अच्छे प्रतिनिधि चुनले, और प्रजा की जो शिकायतें और उचित माँगे हो उन्हे जल्द-से-जल्द भेजवादें। इस बात का ध्यान रखा जाये कि कही भी किसी प्रकार का उपद्रव न होने दे। मैंने एक घटा भाषण भी दिया। लोगों ने मेरी बाते शान्ति-पूर्वक सुनीं भी। मेरे भाषण के बाद वहीं पर प्रतिनिधियो का चुनाव हुआ और यह निश्चय हुआ कि प्रतिनिधि-मण्डल की ओर से प्रजा की माँगो के निवेदन-पत्र जल्द-से जल्द पन्ना तथा अजयगढ-दरबार को भेजे जायें। सभा बडी शान्ति से समाप्त हुई। मुझे इस बात का तो सन्तोष रहा कि उपद्रव होने की नौबत नहीं आई, पर ऐसा लगा कि मेरे सिर पर जैसे बहुत बडी जिम्मेदारी आपडी हो। उनकी एक-दो माँगें पूरी हो सकती थी, मगर अफसोस, उनकी तरफ से कोई माँग आई ही नहीं। सब अपने अपने घर बैठ गये। यह सुनकर कि अंग्रेज़ों के भाग जाने की कोई आशा नहीं और अंग्रेज़ी फौजों ने एक-दो जगह गोली भी चलाई है, हथियारबन्द नेताओ या डाकुओ के भी हौसले पस्त होगये। दूसरे नेता भी, जो वहाँ चुने गये थे, बुज़दिल ही निकले। मुझे उनकी ढिलाई पर बडा दुःख हुआ। एक का तो यहाँतक पतन

हुआ कि उलटे प्रजा के विरुद्ध झूठी शिकायतें अधिकारियों के पास पहुँचाने लगा। अधिकारियों ने ऊपर से तो मुझे शाबाशी दी, पर अन्दर-अन्दर जलने लगे—इस बात पर कि सभा में मेरी सलाह को लोगों ने माना है, तब यह भी सम्भव है कि मेरे कहने से किसी दिन वे शान्तिभग भी कर बैठें! यह विचित्र अर्थ लगाया जायेगा, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। देशी राज्यों की राजनीति कहाँ-से कहाँ जाती है!

अब थोडा शिकार के सम्बन्ध में। पाठक इससे चौंक न जायें। मेरा आशय शिकार खेलने से नहीं, बल्कि शिकार देखने से है। पन्ना-महाराज के साथ मैं अक्सर शिकार में जाया करता था। खाकी कपड़े पहनकर मचान पर बैठता, शेर के हाँकों में जाता, और शिकार की मनोरजक कहानियाँ सुनने में खूब रस लिया करता था। बन्दूक भी चलाता था, पर किसी पशु-पक्षी पर नहीं। केवल निशाना लगाने का शौक था। आहत पशुओं का तडपना देख-देखकर हिंसा के प्रति यद्यपि मन में काफी घृणा पैदा होती थी, फिर भी सबके साथ शिकार में जाना प्रिय लगता था। ससर्ग-दोष पूरा असर कर गया था।

बारहसिंगा, रोज, सुअर, चीता, तेंदुआ, लकड़बग्घा आदि जानवरों के विषय की धीरे-धीरे मुझे काफ़ी जानकारी होगई थी। शिकारी व बनरखे एक-एक जानवर के बारे में बडी मनोरजक बातें सुनाया करते थे। पर सबसे अधिक आनन्द तो शेर की शिकार में आया करता था। जेठ की आग उगलनेवाली दोपहरी भी शीतल प्रतीत होती थी, जब हम लोग शेर का पता पाकर विकट जगलों को चीरते हुए कोसों पैदल

भागते थे, झाड़ियाँ पकड़-पकड़कर पहाड़ियों पर चढ़ते और उतरते थे। एक-साथ छह-छह, सात-सात शेरों का झुण्ड जब मचान के पास से गुज़रता हुआ देखते तो हमारी खुशी का पार न रहता।

मचान पर बैठनेवाले हथियारबन्द शिकारी हमेशा सुरक्षित रहते थे, जान की जोखिम में गरीब हाँकेवालों की रहती थी। घायल जानवर अक्सर उन बेचारों पर हमला भी बुरी तरह कर बैठता था। मचान पर बैठकर शिकार खेलना कोई ऐसी वीरता का द्योतक नहीं, जिसपर गर्व किया जा सके, मगर चाटुकार सरदार और दरबारी कवि ऐसे लुका-छिपी के शिकारों का भी बड़ा अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे। कुछ दिनों बाद मेरा मन अन्दर-अन्दर ऐसे शिकारों के खिलाफ विद्रोह करने लगा। 'वीर सतसई' में के नीचे लिखे दोहे लिखने की प्रेरणा ऐसे ही क्षोभोत्पादक दृश्यों ने मुझे दी थी —

लुकि-छिपि छरछन्दनि अरे,
    खेलत कहा शिकार!
जियत बाघ की पीठ पै,
    क्यों न होत असवार?
लुकि-छिपि बैठि मचान पै,
    करत मृगन पै वार,
जियत सिंह की मूँछ कौ,
    क्यों न उखारत बार?

कभी-कभी तो गरीब रिआया का ही शिकार होता था। बेचारों पर आफ़त आ जाती थी। घर का सारा काम-काज छोड़-छोड़कर हाँकों में

जाना पड़ता था। मजदूरी नाम-मात्र की मिलती थी। पूस माघ की लम्बी हड़कम्प रातें उन्हें मैदान में बैठे-बैठे काटनी पड़ती थीं और जेठ-बैशाख की तेज लूएँ उनके सिर पर जाती थीं हाँके में कोई-कोई जान से भी हाथ धो बैठते थे।

हिंसा-अहिंसा की बात को थोड़ी देर के लिए मैं छोड़ देता हूँ। पर मुझे तो यों भी शिकार एक दुर्व्यसन के रूप में ही दिखाई दिया। मैं जानता हूँ कि शिकार के पक्ष में काफी कहा जा सकता है, किन्तु देशी राज्यों में तो यह व्यसन हर तरह से अभिशापरूप ही सिद्ध हुआ है। पन्ना में तो फिर भी गनीमत थी, दूसरे कई देशी राज्यों की प्रजा तो राजाओं के इस दुर्व्यसन के कारण काफी तबाह हुई है। पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि शिकार के दृश्यों व अनुभवों ने अप्रत्यक्ष रूप में मुझे करुणा या अहिंसा का भक्त बनने में मदद दी। साथ ही, कुछ प्रत्यक्ष रूप में भी लाभ हुआ। बिना डरे हिम्मत के साथ कठिन रास्ता पकड़ना शिकार की उन विकट किन्तु रोचक यात्राओं ने ही शायद मुझे सिखाया। अपने दोरों में जान-बूझकर बीहड़ रास्तों से जाना मुझे प्रिय लगता था। पर एक बार ऐसे दुस्साहस की सजा भी मिली थी।

जहाँतक मुझे स्मरण है, सन् १९२१ के माघ का महीना था। स्थान का नाम याद नहीं आरहा है। महाराजा तथा नन्हे राजा पड़ाव पर चार-पाँच घण्टे पहले पहुँच चुके थे। मुझे बीच में एक जगह कुछ काम था, इसलिए रात के दस वहाँ बज गये। रात को मुझे वहीं ठहर जाने की सलाह दी गई। ड्राइवर भी हिचकिचा रहा था। साथ में जो सिपाही था वह भी भकसा रहा था। मगर मैं तो रात को ही पड़ाव

पर पहुँच जाना चाहता था। रात अँधेरी थी। सडक भी पक्की नहीं थी। कच्चा रास्ता जंगल में होकर जाता था। लोगो की सलाह पर ध्यान न देकर मैं साढे दस बजे वहाँ से चल दिया। पडाव वहाँ से लगभग बीस मील था। कोई १८ मील तो हम लोग मज़े में निकल गये, आगे गडबडी में पड गये। भ्रम हुआ कि वहाँ से रास्ता फट गया है। पठार का उतार था वह। वहाँ से पडाव की रोशनी साफ़ नजर आरही थी। हमने गलत रास्ते को पकड लिया था। मुश्किल से पचास क़दम चले कि हमारी मोटर बहककर बगल के एक गढे में जा गिरी। ड्राइवर को ईश्वर ने बचाया, छाती मे धक्के से मामूली-सी चोट आई। मैं ड्राइवर के बराबर बैठा था। शीशे के फ्रेम से बुरी तरह टकराया। नाक पर चोट आई, आँख बाल-बाल बचा, जो मर्म-स्थान था। नाक से खून की धार लग गई। पर मैं बेहोश नहीं हुआ। मोटर को वहीं छोडकर हम तीनो आदमी जैसे-तैसे रात को कोई एक बजे पडाव पर पहुँचे। खून मेरा बन्द नहीं होरहा था। प्यास से गला बिल्कुल सूख गया था। मुँह से बोला भी नहीं जाता था। रात बडे कष्ट मे कटी। अच्छा होने मे एक हफ्ते से ऊपर ही लगा। फिर भी ऐसी दुस्साहसपूर्ण यात्राओ से मैं भयभीत नहीं हुआ।

: २८ :

तीसरा पड़ाव

१६३२ के सितम्बर मास मे मैंने पन्ना छोड देने का अंतिम निश्चय कर लिया। मन को शान्ति नहीं मिल रही थी। अशान्त चित्त का भार लेकर मैं वहाँ के अननुकूल वातावरण मे आखिर कबतक बैठा रहता? तैयारी तो मुझे कुछ करनी नहीं थी। सामान के नाते मेरे पास केवल पुस्तके थीं। उनमे से बहुत सारी स्थानीय पुस्तकालय को दे दी थीं। मेरे पास थोडी ही गिनी-चुनी बची थीं। सो उनका मुझे कोई ऐसा खास मोह नहीं था।

माँ तथा ममेरे भाई को छतरपुर भेज दिया। चिन्ता अब केवल तीन-चार साथियों की थी। स्थानीय अनाथालय के व्यवस्थापक प० रामाधार तथा अछूत-पाठशाला के अध्यापक श्रीप्रभुदयाल के बारे मे मुझे सोचना था। दो छोटे-छोटे अनाश्रय बच्चे भी थे—मगलसिंह और उसकी बहिन सुकीर्ति, जिन्हे मेरी सलाह से रामाधारजी ने स्नेहपूर्वक रखा था। रामाधारजी को तो मैने अपने साथ रखने का तय किया, और सुकीर्ति को प्रयाग के महिला-विद्यापीठ मे दाखिल करा दिया। चार महीने के बाद मगलसिंह को भी दिल्ली बुला लिया। और कोई

और उनमें बहिन का पूरा स्नेह पाया। बहिन के स्वाभाविक प्रेम की तुलना किससे की जाये? आश्चर्य होता है कि कवियों और कलाकारों ने इस पवित्रतम प्रेम की क्यों इतनी उपेक्षा की! मैं स्पष्टतः अनुभव करता हूँ कि यह सुरसरि-धारा 'करुणा' का ही दूसरा रूप है। अद्भुत और दुःखद है कि हमारा कवि-कुल प्रेम की उष्ण धारा में ही अपनी मधुमयी कल्पना को डुबाये रहा, उसकी शीतल धारा का उसने हमें स्पर्श भी न कराया! भीगी आँखों और भरे हुए गले से मैंने उस दिन मोहन-निवास से अन्तिम विदा ली। उस दिन के उस करुण-दृश्य को मैं आज भी नहीं भूल पाया हूँ।

इलाहाबाद न जाकर मैं पहले जबलपुर गया। वहाँ "पतित-बन्धु" की छपाई व कागज के बिल चुकता करने थे, और ग्राहकों को पत्र बन्द करने की दुःखसूचक सूचना भी देनी थी। इसमें मेरे दस-बारह दिन लग गये। वहाँ से सुहृद्वर प० माखनलालजी के प्रेम-पूर्ण आग्रह से तीन चार दिन के लिए मुझे बेतूल जाना पड़ा। बेतूल मैं २६ सितम्बर को पहुँचा, जिस दिन गांधीजी ने अपना इतिहास प्रसिद्ध—१९३२ का आमरण अनशन तोड़ा था। मेरे सहृदय मित्र प० माखनलालजी तथा श्रीदीपचन्द गोठी चाहते थे कि मैं वहीं बैठ जाऊँ, और साहित्यिक कार्य के साथ-साथ कुछ रचनात्मक कार्य भी करूँ। बेतूल के पास एक सुन्दर स्थान भी उनकी दृष्टि में था। पाँच-सात महीने पूर्व जब मैं पहले-पहल बेतूल गया था, तब यह विचार मेरे सामने आया था। मेरा मन उस सुरम्य स्थान को देखकर पहले तो कुछ ललचाया, पर हिन्दी-विद्यापीठ के पूर्व सम्बन्ध ने, पवित्र आकर्षण ने बेतूल में बैठने

भाषा-सेवा तुम्हारा कार्यक्षेत्र रहा है, और वह करते हुए हरिजन-सेवा भी होसके तो उसमे सब कुछ आ जाता है। 'पतित-बन्धु' के पुनरुद्धार करने की कोई आवश्यकता मैं नहीं देखता। अपने बर्ताव से तुम ज्यादा प्रचार कर सकते हो। मिलना चाहो तो अवश्य आसकते हो।"

यरवडा-जेल मे गाधीजी से जाकर मिला। अपनी सारी विचार धारा, मैंने देखा, अस्पृश्यता-निवारण के प्रश्न पर ही गाधीजी ने केन्द्रित कर रखी थी। दूसरे किसी भी विषय पर चर्चा नहीं करते थे। जेल के अदर पूरा दफ्तर चल रहा था। मुझे अब कुछ पूछना नहीं था। मैं तो केवल दर्शन करने की इच्छा से गया था। सो वह पूरी होगई। पत्र में जो लिखा था उसीपर चलने की मुझे सलाह दी। कहा—"साहित्य-सेवा के द्वारा भी दलित सेवा हो सकती है। फिर तुम्हे तो विद्यापीठ-जैसी सस्था भी मिल गई है। वहाँ बैठकर अस्पृश्यता निवारण की प्रवृत्ति मे भी तुम योग दे सकते हो।"

इलाहाबाद पाँच-सात दिन बाद पहुँचा ही था कि श्रीघनश्यामदास बिडला का तार मिला। मुझे तुरन्त दिल्ली बुलाया था। दिल्ली में बिडलाजी से मिलकर मालूम हुआ कि अस्पृश्यता-निवारक-सघ (अब हरिजन सेवक-सघ) की सरचता मे अग्रेजी साप्ताहिक 'हरिजन' के साथ साथ हिन्दी मे भी एक साप्ताहिक पत्र निकालने का निश्चय किया गया है और उसका सपादन-कार्य वह मुझे सौंपना चाहते है। यह कार्य मुझे कठिन मालूम दिया, पर इस विचार से कि प्रस्तावित पत्र के द्वारा हरिजन-सेवा करने का अधिक-से-अधिक अवसर मिलेगा, मैंने हामी भरली। टडनजी ने दिल्ली मे ज्यादा से-ज्यादा छह महीने रहने

-की ही सलाह दी थी। यह पन्द्रहवाँ साल है—फिर भी अभी छह महीने पूरे नहीं हुए!

१९३२ के १५ नवबर को मैं हरिजन सेवक-सघ मे आगया। मेरी जीवन-यात्रा का यह तीसरा पडाव था।

जीवन-कहानी के क्रम को यहाँ से मैं कुछ तोडना या मोडना चाहता हूँ। पाठक इस मोड को विषयान्तर कहना चाहे तो भले ही कहें। मुझे ऐसा लगता है कि हरिजन-सेवा-विषयक प्रकरणो मे प्रवेश करने से पूर्व मैं उन सस्मरणो को लिखूँ, जो धर्म-दर्शन और तत्त्व-चिन्तन से सम्बन्ध रखते हैं, यद्यपि इस दिशा मे मेरे अबतक के टूटे-फूटे प्रयत्न प्राय विफल ही रहे है। इसके लिए मुझे मुडकर ठेठ अपने बचपनतक जाना पडेगा। उसी तरह, जैसे कोई अपनी वस्तु खोजाने पर उसे खोजने के लिए उलटकर ठेठ वहाँतक जाता है, जहाँ से कि वह चला था, पर जब वह खोई वस्तु हाथ नहीं लगती, वह फिर वहीं-का-वहीं लौट आता है। हकीकत को वह जानता है, फिर भी उसकी याद और खोज में उसे सान्त्वना मिलती है। ठीक वैसी ही दशा मेरी भी है।

: २६ :

धर्म-परिचय कहूँ ?

मेरा जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ, जिसमें धर्मतत्त्व का परिचय करानेवाला शास्त्री तो क्या कोई साधारण पढा-लिखा भी नहीं था। इस बात का पता तो बाद को चला कि धर्म की कितनी विविध व्याख्याएँ हुई हैं, और जगत् में न जाने कितने अलग-अलग विश्वास हैं। आज देखता हूँ कि शिक्षितों का परिचय धर्म से जिस प्रकार का होता है, 'साधकों' का धर्म उससे भिन्न होता है, और सामान्य जनता का बिलकुल तीसरे प्रकार का। रूढिगत विचार जहाँ निश्चयपूर्वक घातक समझे जाते हैं, वहाँ कई बद्धमूल विश्वास करोडों के लिए जीवन-प्रवर्तक और शान्तिप्रद भी सिद्ध हुए हैं। बुद्धिवादी वर्ग जहाँतक प्रगति कर गया है उस सीमा पर खडे होकर देखा, तो ऐसा लगा कि विश्लेषण करते-करते इस वर्ग का जैसे अपने आप में भी विश्वास नहीं रहा है—तर्कवाद से यह समुदाय खुद भी घबराया हुआ सा है, पर अभागा उससे मुक्ति पाने में असमर्थ है। फिर ऊँची धर्म-शोधों के लिए आज कौन गहरे उतरते हैं ? जीवन का तात्त्विक परीक्षण कितनों के बस का है ? किन्तु सामान्य जन आज भी धर्म को अन्धे की लकडी की तरह

शयनम्' श्लोक मुझे कण्ठ करा दिया था। पीछे मेरे नाना ने 'रामरक्षा स्तोत्र' रटा दिया। हमारे पड़ोसी लाला चिन्ताहरण नित्य पार्थिव शिवलिंग बनाकर पूजा किया करते थे और उच्चस्वर से महिम्नस्तोत्र का पाठ। उनकी यह शिव-चर्चा भी मैं ध्यान से देखा करता। मेरे नाना छुटपन में ही मुझे बनुपधारीजी तथा बिहारीजी के मन्दिरों में दर्शन कराने अपने साथ लेजाया करते थे। रावसागर पर वैरागियों की बड़ी-बड़ी जमातें आकर पड़ाव डालती थीं। जमातों का दर्शन करने नर-नारियों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। वैरागियों की सन्ध्या-आरती में मुझे बड़ा आनन्द आता था। प्रसाद भी वहाँ खूब अच्छा मिलता था।

कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव छतरपुर के मोहल्ले मोहल्ले में मनाया जाता था। अष्टमी की झाँकी मैं बड़े चाव से सजाया करता था। बचपन के उस उछाह का मैं वर्णन नहीं कर सकता। कभी कीर्तन होता था, कभी रासलीला। दर्शनार्थियों का रात के बारह बजेतक ताँता लगा रहता था।

जब कुछ बड़ा हुआ, तो हनुमानजी के मन्दिर में जाने लगा। 'हनुमान-चालीसा' और 'हनुमान-बाहुक' का पाठ भक्ति-भाव से किया करता। चैत और क्वार के नवरात्र में रामायण के कई नवाह-पारायण भी किये थे। पर तब मेरी आयु चौदह पन्द्रह साल की थी। जब नौ-दस वर्ष का था, तब रामलीला के राम-लक्ष्मण मेरी दृष्टि में सचमुच के राम-लक्ष्मण होते थे। मेरी यही भावना रासलीला में भी रहा करती थी। 'माखन-चोरी' की लीला मुझे कितनी प्रिय लगती थी। "मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो'—यह सुन्दर पद आज भी मेरे

मैंने भी गवाही दी थी यद्यपि उम्र मेरी तब मुश्किल से चौदह वर्ष की रही होगी। आज अपने उस अज्ञानपन पर हँसी ही आती है। विद्वान् वक्ता ने इतना ही तो अपने भाषण में कहा था कि, 'ईश्वर पूर्ण है, अखण्ड है, जब कि मूर्ति को खण्ड खण्ड किया जा सकता है।'' आर्य-समाज का तब मैंने नाम भी नहीं सुना था। इलाहाबाद में जब आर्य-समाज से परिचय हुआ, तब भी उसके बहुत से खण्डनात्मक विचारों से मैं असहमत ही रहा। सनातनधर्मियों की भी खण्डनात्मक प्रवृत्ति मुझे अच्छी नहीं लगी। सम्भव है कि इस अरुचि का कारण मेरी तर्क-दुर्बलता हो। वाद-विवाद में उतरने से मैं हमेशा डरता व कँपता सा रहा।

इस खण्डनात्मक भाषण ने, फिर भी, मेरी सरल भावना के अन्दर एक महीन दरार डाल ही दी। उस दरार में से सन्देह-कीट भीतर घुस गया। दुर्भाग्य से एक पुस्तक भी हाथ में पड़ गई, जिसमें खण्डन-मण्डन किया गया था। मैं उसे पढ़कर अधिक समझ नहीं सका, पर मेरी कोमल श्रद्धा को झकझोरने के लिए उतना ही काफ़ी था। मगर रामायण पढ़ने का शौक लग गया था, इसलिए मैं बहुत डगमगाया नहीं। एक बार तो कीटाणु नष्ट होगये। भीतर का मामूली-सा संघर्ष अपने आप वहीं दब गया। तुलसीकृत रामायण का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आज भी, जब कि मेरी विचार-धारा अनिश्चित सी ही है, रामायण से—क्षण-भर के लिए ही सही, संतुष्टि और शान्ति मिल जाती है। रामायण का अर्थ तब बहुत ही कम समझ में आता था। घर में जो खुले पन्नों की रामायण थी, उसपर वह बाबा रामचरणदास की टीका थी। भाषा टीका की अवधी थी, शैली भी क्लिष्ट। एक दूसरी टीका देखकर अर्थ

हगाया करता था, जिसका नाम मुझे स्मरण नहीं आरहा। किन्तु अर्थ से भी अधिक रामायण के गाने में आनन्द आता था। कितनी ही सुन्दर चोपाइयाँ कण्ठ करली थी। अयोध्याकाण्ड और उत्तरकाण्ड का अपूर्व रसास्वादन तो बहुत पीछे किया। मेरे जीवन के वे क्षण सचमुच धन्य है, जब रामायण से मेरा प्रथम परिचय हुआ प्रेम बढ़ा, और उसका रसास्वादन मिला। भाषा-शिवपुराण, व्रज-विलास और शुक-सागर ये तीन ग्रंथ भी मैंने बचपन में ही पढ़े थे। व्रज-विलास मे मन नहीं लगा। शुकसागर अच्छा लगता था। किन्तु रामायण को इनमें से एक भी नहीं पाता था। 'विनयपत्रिका' के रस का चस्का जब पाया, तब हृदय ने नयी उत्फुल्लता अनुभव की। पर यह तो बाईस बरस की उम्र के बाद की बात है।

ऊपर मैंने कहा है कि वाद-विवादों से पड़ने से मैं हमेशा डरता व बचता रहा। विविध वादों का थोड़ा-सा अनुभव तो बहुत पीछे किया, और यह अब जाना कि तर्क बुद्धि का अतिप्रयोग या दुरुपयोग कहाँतक किया जा सकता है, या मनुष्य को वह कहाँ से कहाँ ले जाता है। अनी-श्वरवाद या अनात्मवाद को भी मैं तर्क बुद्धि का दुरुपयोग नही कहूँगा। मेरा आशय तो यहाँ 'अनातिवाद' से है। इसका पता मुझे पहले नहीं था। सुना तो यह था कि वाद करते-करते मनुष्य 'आत्म-बोध' को प्राप्त कर लेता है, किन्तु अब देखता हूँ कि 'वाद' जब उपेक्षा, अविश्वास और तिरस्कार का आश्रय ले लेता है, तब उसके द्वारा किसी भी प्रकार का सद्बोध होना सम्भव ही नहीं। 'इससे क्या होता है', 'उससे क्या होगा' आदि प्रश्नों के उत्तर जब व्यर्थता को लक्ष्य में रखकर प्रश्नकर्त्ता

स्वयं ही दे लेता है, तब बोध प्राप्त करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उसकी जिज्ञासा-वृत्ति तब जड़ता का रूप ले लेती है।

यह सही है कि मैं धर्म या नीति के आचरण पर दृढ़ नहीं रह सका, पर उसके विरुद्ध कहना-सुनना कभी रुचिकर नहीं हुआ। कई बड़े-बड़े बुद्धिशालियों की दलीलें पढ़ीं और सुनीं। पर उनसे साम्य प्रभावित नहीं हुआ। यह बात नहीं कि मेरी बुद्धि इतनी जड़ है कि उसपर उनका कोई असर नहीं पड़ता। नहीं, स्वभाव ही कुछ ऐसा बन गया है कि तर्कपुष्ट भौतिकता की ओर वह अधिक आकर्षित नहीं होता--विज्ञान द्वारा सिद्ध उसकी इतनी बड़ी ऊँचाई नीति के आगे नीची और कच्ची बुनियाद पर ही टिकी मालूम देती है। मेरे एक हिसाबी-किताबी मित्र हैरान रहते थे कि तथ्यों और आँकड़ों के राजमार्ग पर चलनेवाला मनुष्य अध्यात्म और धर्म पर भला कैसे विश्वास कर सकता है! उनकी राय थी कि, गणित-शास्त्री या विज्ञानवादी अध्यात्म और नीति की मूर्खतापूर्ण धारणाओं के फंदे से भला कैसे फँस सकता है? उनकी दलीलों को चुपचाप सुन लेता था। मगर उन्होंने मेरे मौन का कभी यह अर्थ नहीं लगाया था कि मैंने उनकी विचार-धारा को स्वीकार कर लिया है। मैं यह जानता हूँ कि अच्छे-अच्छे गणित-शास्त्रियों एवं विज्ञानवादियों ने अध्यात्म और नीति धर्म में अपना विश्वास अंततक कायम रखा है। और केवल तथ्य-आँकड़ों के सहारे चलनेवाले अनेक विज्ञानवादियों को असहाय और रोते हुए भी देखा गया है। ऐसी घटनाओं ने जगत् में धर्म-श्रद्धा को समय-समय

पर ज्वलन्त ही किया है।

साधकों और संतो ने और उनका उलटा-सीधा अनुसरण करने-वाले जनसाधारण ने शायद इसीलिए इन विविध वादों की सदा उपेक्षा ही की। खंडन-शस्त्र का भी कभी-कभी सहारा लिया गया सही, पर उसमें और शास्त्रियो के खडन से अंतर रहा। असत् का निराकरण उतना तर्क के शस्त्र से नहीं किया, जितना कि अपनी जीवन-साधना के प्रखर आलोक से। उस लोकोत्तर आलोक से विपक्षियो की युक्तियाँ स्वत. निस्तेज पड गईं। अनासक्तिवाद, शून्यवाद, स्याद्वाद और मायावाद को शास्त्रीय सूक्ष्मताओ को कितनो ने आत्मसात् किया होगा? करोडो नर-नारियो का उद्धार तो इन वादो के प्रवर्तक कृष्ण, बुद्ध, महावीर और शकर की जीवन-साधनाओ ने किया है। उन्होने कुछ खोया नहीं।

परम्परा-प्राप्त श्रद्धा के सहारे राम और कृष्ण की पूजा करनेवाले धर्मभीरु घर मे जन्म लेकर मैने भी खोया नही, बल्कि कुछ पाया ही। और अधिक भी पा सकता था, पर दोष मेरे निर्बल काँपते हुए हाथों का था, जो प्राप्त वस्तु को ठीक तरह से सँभाल नही सके।

: ३० :

श्रद्धा डगमगायी

सही या गलत श्रद्धा जितनी पहले स्थिर थी, उतनी बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में नहीं रही। बाल्यावस्था की वह भक्ति-भावना कुछ और ही थी। परिस्थितियाँ भी अब वैसी अनुकूल नहीं थीं। न मेरी वह विद्यार्थी की अवस्था थी, न गृहस्थ की। मन डाँवा-डोल-सा रहने लगा था। श्रद्धा डगमग होरही थी। अपने ही विचार अब बनावटी-से मालूम होते थे। इस अर्से में नये-नये विचारों की कुछ पुस्तकें पढ़ने को मिलीं, और उनमें से हर किसीने मुझे अपनी ओर खींचा। ज़रा-से झटके से खिंच जाता था। मन कभी तो भगवद्भक्ति की ओर दौड़ता, और कभी विरक्ति की ओर। किन्तु पेट की चिन्ता सबपर पानी फेर देती थी। मुझसे तो वे ही सब अच्छे थे, जो चार पैसे कमाते थे, और मज़े से गृहस्थी चलाते थे। उनकी भी धर्म-श्रद्धा भले ही डगमग हो गई हो, उन्हें उसकी कोई चिन्ता तो नहीं थी। अपनी सहज वासनाओं से उन्हें न तो वैराग्य हुआ था, और न किसी अदृष्ट वस्तु पर उनका कुछ अनुराग ही था। इसके विपरीत, मेरी विचित्र मनोभावनाएँ उदर-पूर्ति के उद्यम में बाधा उपस्थित करती थीं, खाली पेट उन्हें भी

स्वस्थ्य-कर पोषण नहीं मिल रहा था।

पिछले प्रकरणो में, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, इन्हीं दिनो मुझे एक के बाद एक तीर्थाटन करने का सुयोग मिला। कितने ही नये-नये अनुभव इन यात्राओ मे प्राप्त हुए। गृह-चिन्ता भी कुछ कम हुई। अनेक पंडितो व साधु-सन्तों से मिलने-जुलने का अवसर मिला। कई सम्प्रदायों के निकट परिचय में आया। किन्तु धर्म का तत्त्व कुछ भी समझ में न आया, समझने की वैसी चेष्टा भी नही की। प्यास लगी हो और पानी न मिले तब तडपन का अनुभव हो। मेरी ऐसी अवस्था तो थी नहीं। श्रद्धा की धुँधली-सी झलक-भर दिखाई देती थी, किन्तु धर्म तत्त्व की पिपासा अनुभव नही होती थी, यही कहना ठीक होगा। एक तो वैवाहिक बन्धन में नहीं पडा था, दूसरे अन्नाहार त्याग दिया था, और फिर भक्ति-साहित्य का अध्ययन किया करता था--इस सब ऊपरी नवरचना की भित्ती पर यह छाप पडी कि मैं एक त्यागी, तपस्वी भक्तिमार्ग का साधक हूँ। मध्व सम्प्रदाय का लम्बा तिलक लगाता था, गले मे तुलसी की कंठी पहनता था, और उच्चस्वर से वैष्णव-स्तोत्रो का पाठ किया करता था। लोग तो मानते ही थे, मैं भी अपने को वैष्णव मानने लग गया था। यो वैष्णव तो आज भी मैं शायद अपने-को मानता हूँ, किन्तु तब के उस अर्थ से नहीं। तब मेरी अहभावना काफी बढ गई थी, जो 'अवैष्णव' का एक महान् लक्षण है। तत्त्व-जिज्ञासा और धर्म शोध की आवश्यकता ही नही रही थी।

विवेकानन्द और रामतीर्थ का साहित्य पहले भी कुछ-न-कुछ पढ़ा था। उसे फिर एक बार ध्यान से देखा। 'उपदेश-साहस्री' और 'स्वाराज्य-

सिद्धि' को भी समझने का प्रयत्न किया। कुछ प्रकरण 'योग-वासिष्ठ' के भी पढ़े। इस अद्वैतवादी के नशे से मेरा वल्लभी रंग फीका पड़ने लगा। अब जब मुझे कोई नमस्कार करता, तब उसका प्रत्यभिवादन मैं 'शिवोऽहम्' से किया करता। दूसरों को अज्ञानी और तुच्छ समझता था। क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्म तो मैं था, दूसरे तो माया के विभिन्न रूप थे। कुछ-कुछ उद्धत और वाचाल भी बन गया था। किन्तु दृश्यमात्र मिथ्या है, भ्रान्त है इस भावना का जब चिन्तन व ध्यान करता, तब सचमुच एक आनन्द की अनुभूति होती थी—और वह अनुभूति आज भी होती है, पर टिकती एक क्षण भी नहीं, बिजली की तरह कभी-कभी अन्तराकाश में कौंध-भर जाती है। रसिक भक्तों की मण्डली मुझे देखकर नाक सिकोड़ती थी। छतरपुर का एक प्रसंग मुझे याद आ गया है। एक मन्दिर के दालान में रात को कुछ रसिक भक्तों का सत्संग हो रहा था। मेरे मित्र स्व० बलीप्रसादजी 'प्रीतम' भी, जो बिजावर से आये हुए थे, इस रसिक गोष्ठी में उपस्थित थे। श्रीसीता-राम के लीला-रहस्य की गूढ़ातिगूढ़ व्याख्या की जा रही थी। भक्तजन अपने-अपने लीला अनुभव, कोई जाग्रत अवस्था के और कोई स्वप्न-दर्शन के, सुना रहे थे। किसीके नेत्रों से तो अश्रुपात हो रहा था, और कोई गद्गद कंठ से नाम-स्मरण कर रहा था। मैं वहाँ अचानक जा पहुँचा, और द्वार पर खड़े होकर दो मिनिट ही रसिक गोष्ठी का सत्संग-लाभ लिया होगा कि सब चौकन्ने होगये। एक रसिक ने धीरे से कहा—"अनधिकारी, अनधिकारी!!" दूसरा बोला—"कटक, कटक!!" मैं ज़ोर से हँस पड़ा, और गुनगुनाने लगा—

हमका उढ़ावै चदरिया, चलती बिरियाँ।
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलटि गई दोउ नैन पुतरियाँ।।

चुप होगये सब। हलवे में नमक की डली पड जाने से मजा सारा किरकिरा होगया। बाचाल तो मै हो ही गया था। उन लोगों के साथ बहस करने लगा। श्रृङ्गारी लीला-रहस्य की मैंने तिरस्कारपूर्वक खूब खिल्ली उडाई। मेरे अनधिकार-प्रवेश और शुष्क सलाप से रसिक राम-भक्तों को बडा बुरा लगा। एक रसिक ने, मुस्कराते हुए दूसरे रसिक से कहा—"भगवत-रसिक, रसिक की बातें रसिक बिना कोई समझ सकै ना।" मैंने माना कि मैं अरसिक ही अच्छा, तुम्हारा वह-गोपनीय रहस्य समझने के लिए तुम्हारे जैसा रसिक बनना मुझे मजूर नहीं। दूसरे दिन, मैंने उन रसिक भक्तो से अपने धृष्टतापूर्ण बर्ताव के लिए तो माफी माँगली, पर उनके गुह्य लीला-रहस्य के विरोध मे जो कुछ कहा था उसपर ज़रा भी पश्चात्ताप नही हुआ।

ब्रज का मधुर साहित्य मैं कुछ-कुछ पढ चुका था। रसिक कवियों के मधुर भाव चुरा-चुराकर स्वय भी मैंने कुछ अर्द्धश्रृङ्गारी पदों की रचना की है, तो भी उस साहित्य की मेरे मन पर कोई अच्छी छाप नहीं पडी। श्रृङ्गार प्रधान भक्ति-साहित्य से अलग रहने में ही मैंने अपना तथा दूसरो का हित समझा है।

इस तरह मेरी आयु के दस बारह बरस और खिसक गये। पहली बीसी मेरी पार होगई। मगर सत्य-शोध का प्रयास शुरू भी नहीं किया था। विचार हमेशा अस्थिर रहते थे। जो भी पढता या सुनता उसी

की ओर उस समय ढुलक जाता था। विषय-वासनाओं का रंग-मान कुछ बदल गया था, उनके रूप में कोई कमी नहीं आई थी। मनोविकारों का वेग लगभग वैसा ही था। और आज भी ऐसा खास क्या अन्तर पड़ा ? अन्तर में कुछ खोजने-तलाशने का कभी-कभी मन होता था—और प्राय उद्विग्नता की मनोदशा में। पर संकल्प मेरा टिकता नहीं था। निश्चय दुर्बल ही रहा। निश्चय किया, और तत्काल फिसला। तो भी यह डावाँडोल मन स्थिति खलती नहीं थी—न धिक्कारती थी। शायद ही कभी ऐसा लगता था कि संकल्प का पर्दा डालकर मैं अपने-आपको धोखा दे रहा हूँ।

रोग असल यह था कि मै श्रद्धा से हाथ धो बैठा था। सगुण साकार ईश्वर पर से तो श्रद्धा उठ ही गई थी, निर्गुण निराकार पर भी नहीं जम रही थी। ब्रह्मवाद ओठो पर ही रहता, गले के नीचे नहीं उतरता था। 'शिवोऽहम्' की रट भी अपने-आप छूट गई। स्तोत्रों का पाठ भी छूटा-सो-छूटा। मन कहीं भी तो नहीं ठहरता था। भीतर काफी जगह खाली-खाली-सी लगती थी। वहाँ कुछ भरने को भी नहीं था। मनोविकार भी अधिक नहीं टिकते थे। आते, और ठोकर लगाकर चले जाते। मनोमोहक प्रपंच अपनी ओर खींचता अवश्य था, पर दो डग आगे बढ़ा कि ठोकर खाकर गिर पड़ा। कैसी दैन्यावस्था थी मेरी ! अक्सर मुँह से निकल पड़ता, और आज भी कि—"दो मे एकहु तो न भई, ना हरि भजे न गृह-सुख पाये, ऐसेहिं आयु गई।" कहीं कोई सहारा नहीं मिल रहा था। प्रत्यक्ष जगत् को कल्पित मानने का निष्फल प्रयत्न किया, और जो अप्रत्यक्ष था, वहाँ पहुँचने का मेरी

दुर्बल कल्पना ने कष्टसाध्य प्रयास किया। अवसर होता था कि दो-तीन बरस के अरसे मे मैंने बहुत-कुछ खोया ही-खोया है। श्रद्धा हाथ से निकल गई, आत्म-विश्वास गॅवा बैठा, और प्रेम की हवा भी न लगने दी। अद्वैतवाद के पंख चिपकाकर ब्रह्मलोक में उडने की चेष्टा की, और इस व्यर्थ चेष्टा ने रोजमर्रा की परिचित भूमि पर चलने का अभ्यास छुडा दिया--पखो की माया ने मेरे अपने पैरों को पगु बना दिया।

कुछ दिन तो मन बडा अस्थिर व अशात रहा। मेरे एक हित-चिन्तक मित्र ने सलाह दी कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए। उनकी दलील थी—"तुमने दुनिया से भागना चाहा, पर तुमने देख लिया कि तुम्हारा यह प्रयत्न आसान नही था। तुमने पुस्तकें पढ-पढकर अप्रत्यक्ष वस्तु को पकडना चाहा, और तुम बुरी तरह विफल हुए। तुम आज कहाँ खडे हो, तुम्हे इसका भी तो पता नही। तुम्हारा कोई आधार नहीं कोई अवलम्ब नही। हवा में अधर यो कबतक उडते रहोगे? सामने तुम्हारे समुद्र पडा है इसे आखिर कैसे पार करोगे? श्रद्धा ने तुम्हारा साथ छोड दिया है, ज्ञान अपने पास फटकने नही दे रहा है अनुभव होता तो वही तुम्हारा जीवन-यात्रा में कुछ सहारा देता। तुम्हारी ऐसी दैन्यावस्था है। आज अब भी यह दुस्साहस छोड दो। अभी बहुत दूर नहीं आये हो। मुड जाओ। सबकी तरह तुम भी जीवन के उसी रास्ते पर चलो, जो न नया है, न शकास्पद है। आशय यह कि अपना कोई जीवन-साथी ढूँढलो। विवाह-बन्धन स्वीकार कर लेने से यह होगा कि तुम्हारा मन इस तरह खाली या डावाँडोल नहीं

रहेगा। और धर्म-तत्त्व भी कभी-न-कभी हाथ लग सकता है। तुमने नासमझी से जल्दबाज़ी में जो यह अटपटा सा रास्ता पकड़ लिया था उसे अब छोड़ दो। भाई, मेरी इस नेक सलाह को मानलो।"

दलील को मैंने ध्यान से सुना। उसमें मुझे कुछ सार भी दिखाई दिया। मैं थोड़ा सोच-विचार में पड़ गया, तो भी उन मित्र के सुझाये मार्ग को ग्रहण न कर सका। मैंने देखा कि पीछे मुड़कर रास्ता बदलने के लिए भी काफ़ी साहस और बल चाहिए। वह मैं जो गया था दूसरे, अबतक जितनी यात्रा तय कर चुका था उसे बिल्कुल व्यर्थ भी नहीं मानता था। यह भी आशा थी कि आगे चलकर शायद यह परेशानी न रहे। नादानी से ही सही, एक बार जब मैं कदम बढ़ा चुका हूँ, तब उसे पीछे हटाना ठीक नहीं समझा। और गृहस्थ-जीवन में ही निश्चित रूप से सुख शांति कहाँ है? माना कि वासनाओं को अनुकूल विषय मिल जाने से कुछ काल के अनन्तर उनकी तीव्रता कुछ मन्द पड जाती हो, पर उनका शमन कहाँ होता है? मन वैसा खाली नहीं रहता, कुछ उलझा या फँसा रहता है, और चिन्तन की ओर से अचेत-सा हो जाता है। मगर मेरे रोग का कारण कुछ और भी है। इस बेकारी ने ही मेरी अन्त स्वस्थता का नाश किया है। सो अब मुझे किसी-न-किसी काम में लग जाना चाहिए। और अधकच्चे ज्ञान का लेकर इन वेदान्तविषयक पुस्तकों का बहुत पढ़ना भी छोड देना चाहिए। मै इस गरिष्ठ मिठाई को पचा नहीं सकता। यह मानसिक पीलिया मुझे इसी अपच विकार से हुआ है। इसे दूर करना होगा।

इस डाँवाडोल स्थिति में एक दिन पूज्य धर्ममाता के बहुत ज़ोर देने पर जिसे अहंकारपूर्वक भुला बैठा था उस कामदुघा 'विनय-पत्रिका' की मैंने फिर एक बार शरण ली। ऐसा लगा कि अपनी जिस महानिधि को मैंने खो दिया था, वह फिर बिना आयास के मिल गई। कुछ शांति भी मिली। श्रद्धा की सुनहली रेखा फिर एक बार दिखाई दी।

: ३१ :

एक पुण्यकथा

छठे प्रकरण में स्व० श्रीकमलकुमारीदेवी का मैंने उल्लेखमात्र किया है। जिन्होंने मेरी डगमगाती धर्म-श्रद्धा को सहारा दिया था, जिनके पवित्र वात्सल्य ने जीवन के अँधेरे मरुदेश में भटक जाने से मुझे बचाया था, जिनका धुँधला सा ध्यान आज भी मेरे स्वप्न-उद्यान को हरा कर देता है, उन धर्ममाता की संक्षिप्त पुण्यकथा मैं इस प्रकरण में दूँगा।

छतरपुर-नरेश महाराजा विश्वनाथसिंहजी की यह पहली पत्नी और ओरछा के महाराजा प्रतापसिंहजी की ज्येष्ठ पुत्री थीं। अनेक सुसंस्कार इन्होंने अपनी साध्वी माता से पाये थे। त्याग, तप और तितिक्षा की दीक्षा माता ने ही इन्हें दी थी। पति के साथ सांसारिक सम्बन्ध नहीं बना। जीवनभर विरागिनी ही रहीं। सत्संग, धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन, भजन-कीर्तन, व्रत-उपवास एवं तीर्थ-यात्राएँ, यही उनके जीवन का क्रम रहा। सत्संग करते-करते धर्म-तत्त्व का खासा अच्छा ज्ञान होगया था। सैकड़ों श्लोक और पद कंठाग्र थे। चारों वैष्णव-सम्प्रदायों से तो निकट का सम्बन्ध था ही, शैव सिद्धान्त का भी अच्छा

ज्ञान था। राम, कृष्ण और शिव तीनों ही उनके उपास्यदेव थे।

जीवन एक निश्चित क्रम से चलता था। जो क्रम एक बार बना लिया उसपर अन्ततक दृढ रही। दस दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिन के कितने ही कठिन उपवास किये थे। उपवास का भंग कभी बीमारी में भी नहीं किया। स्नान, पूजन, सत्संग आदि का क्रम उपवास के दिनों मे भी ज्यों का त्यों चलता था। शरीर में स्फूर्ति, मुख पर तेज और मन में प्रसन्नता उन दिनों भी मैंने वैसी ही देखी। तप साधनाओं में अनेक विघ्न-बाधाएँ आई, बड़ी-बड़ी यन्त्रणाएँ भी पाई, पर सब क्लेशों को हँसते-हँसते ही सहन किया। उनकी धर्म-श्रद्धा दिन-दिन ज्वलन्त ही होती गई। उनकी जैसी कठिन साधना मेरे देखने में तो अन्यत्र नहीं आई।

मेरी धर्ममाता ने अनेक तीर्थ-यात्राएँ की थी। सर्व साधन सुलभ होते हुए भी बहुधा रेल के तीसरे दरजे में मुसाफिरी करती थीं। पैदल भी खूब चलती थीं। ब्रह्मगिरि की उनकी वह कठिन यात्रा मुझे आज भी याद आरहा है। जेठ का महीना था। पर्वत की बड़ी बड़ी शिलाएँ तवे की तरह तप्त होगई थीं। पूजा समाप्तकर ठीक बारह बजे प्रदक्षिणा देने के लिए चलदीं। उस दिन उनका एकादशी का निर्जल व्रत भी था। पैरों में चप्पल भी नहीं पहनी थीं। वृद्धा नौकरानी ने भी उनका थोड़ी दूर अनुगमन किया, पर चल नहीं सकी। दयार्द्र होकर अपनी साड़ी से धज्जियाँ चीरकर उसके पैरों पर लपेटदीं, पर खुद नगे पैरों ही उन्होंने ब्रह्मगिरि की दो-ढाई कोस की प्रदक्षिणा जेठ की दुपहरी में बिना विश्राम लिये, राम नाम जपते हुए, पूरी की। चित्र-

कूट के कामदगिरि की परिक्रमा तो उन्होंने एक ही दिन में दो-दो, तीन तीन बार दी थी। तिरुपति-बालाजी के ऊँचे शिखर पर भी पैदल ही चढ़ी थीं, सगी-साथियो को डोलो पर भेज दिया था। बद्रीनाथ की यात्रा में मैं साथ नहीं था, पर मैंने सुना था कि ठेठ सतोपथ-तक पैदल ही गई थीं।

यात्राओं के ऐसे कितने ही संस्मरण हैं, जो एक-एक करके याद आ रहे है। उनमे से दो संस्मरण मै यहाँ दे रहा हूँ।

जहाँतक मुझे याद है, पहला १९२० का प्रसग है। मकर-संक्रान्ति का पर्वस्नान करने हम लोग गगा सागर जा रहे थे। शाम को मामूली-सा तूफान आ जाने से हमारे जहाज का लगर डाल दिया गया था। थोडी देर बाद समुद्र स्थिर होगया। चाँद निकल आया। चारो ओर जैसे दूध का फेन ही-फेन दृष्टि आता था। ऐसा सुन्दर धवल दृश्य मैंने पहली ही बार अपने जीवन मे देखा था। सागर का वक्षस्थल तो शात था, किन्तु माँ का वात्सल्य उमड रहा था। जहाज की छत पर रात को कोई एक बजे उन्होने मुझे बडे स्नेह से भक्ति मार्ग का उपदेश किया। मे मन्त्र-मुग्धवत् उनके दिव्य प्रवचन को सुनता रहा। अन्त में जब, विनय-पत्रिका का "हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो"—यह पद मधुर सुर से गाया, तब उनकी भक्ति-विह्वलता को देखकर एक क्षण के लिए मैं अपने-आपको भूल गया। मैंने प्रत्यक्ष देखा कि उस समय उन्हे देह का कुछ भी भान नहीं था। आँखो से प्रेमाश्रु बह रहे थे। मुख पर एक अपूर्व तेज झलक रहा था। मै चरणो पर गिर पडा। चेतना आने पर माँ मेरे सिर पर हाथ फेरने लगी। जीवन में

उन स्वर्गीय क्षणों को मैं कभी भूलने का नहीं। पर मैं ठहरा अभागा। मेरी उस अबोध अवस्था मे उन्होंने मुझे जो अनमोल भक्ति-रस दिया, वह मेरे अनेक छिद्रोंवाले हृत्पात्र मे ठहर न सका।

दूसरा चिरस्मरणीय प्रसग नाथद्वारे का है। हमारे साथ एक बूढी नौकरानी थी। यह प्राय प्रत्येक तीर्थ-यात्रा मे साथ जाती थी। एक दिन इसे जोर का बुखार चढ़ आया। हम सब लोग मन्दिर में दर्शन करने चले गये थे। उसका लड़का कल्लू भी डेरे पर नहीं था। मेरी माँ अधबीच से ही लौट गई किसीसे कुछ कहा-सुना नही। आध घण्टे बाद मन्दिर से आकर मैं देखता हूँ कि चुपचाप बैठी बीमार बुढिया के पैर दबा रही हैं। उस बेचारी को कुछ पता भी नही था। बेहोश पड़ी थी। मुझे आश्चर्य-चकित देखकर इशारे से चुप रहने को कहा। मैं एक तरफ वहीं चुपचाप बैठ गया। धीरे से कहने लगीं—"बेटा, यह कोई बड़ी बात नहीं है। इस गरीबनी ने तो मेरी बरसों सेवा की है। यह बुढिया तो मेरी माँ के समान है। मन्दिर मे आज इसीलिए नहीं गई। सेवा का यह पुण्य-लाभ वहाँ कहाँ मिलता? यह भी तो श्रीनाथजी की ही आराधना है।" उनकी वह स्तुत्य सेवा-परायणता देखकर मेरा गला भर आया।

'जुगलप्रिया' उपनाम से उन्होंने ब्रजभाषा में बहुत-से सुन्दर पद भी रचे थे, जिनका सग्रह उनके स्वर्गवास के पश्चात् मैंने प्रयाग से 'जुगलप्रिया-पदावली' के नाम से प्रकाशित किया था। उसमें से एक पद यहाँ उद्धृत करता हूँ:—

नाथ अनाथन की सब जानें।
ठाड़ी द्वार पुकार करति हौं,
स्रवन सुनत नहिं, कहा रिसानै ?
की बहु खोटि जान जिय मेरी,
की कछु स्वारथ-हित अरगानै ?
दीनबन्धु मनसा के दाता—
गुन औगुन कैधौं मन आनै ?
आप एक, हम पतित अनेकन,
यही देखि का मन सकुचानै ?
झूठोहि अपनो नाम धरायौ,
समझि रहे है, 'हमहिं सयानै' !
तजौ टेक मनमोहन मेरे,
'जुगलप्रिया' दीजै रस-दानै ॥

मेरी धर्ममाता की साधना, सत्यनिष्ठा, सेवा परायणता और भक्ति-भावना इतनी ऊँची थी कि उनकी गणना निस्सन्देह पुराकाल के भागवतों में की जा सकती है। मैंने तो उन्हें मीरा बाई का अवतार माना, और ऐसा करके मैंने कोई अत्युक्ति नहीं की।

मैंने यह स्तवन किया, तो उनके देहावसान के पश्चात्। उनके जीवनकाल में तो सदा सर्वत्र ढिठाई ही की। समीप रहा, और पहचान न पाया। जो मुझे दिया उसे सँभाल न सका। अधिकारी तो तृण का सहारा पाकर भी तर जाता है। और एक मैं हूँ, जिसने सामने आई नौका की भी उपेक्षा ही की। बल्कि, कभी कभी तो मै उस शुभ्रचरिता

में दोष भी ढूँढ़ने बैठ जाता था। उस सुशीतल वात्सल्य-सुधा को अंजलि में भरा, और अहंकारपूर्वक अनाड़ीपने से सारा टपका दिया। और वही-का वही तेज़ाब पीता रहा, जिसने अंतर में आग लगा दी, और वैसा ही प्यासा-का-प्यासा। इतना ही बहुत मानता हूँ कि उस पुण्य-कथा को नहीं भूला और स्मरणमात्र से ही, एक क्षण के लिए ही सही, संताप के बीच भी कुछ-न-कुछ सांत्वना मिल जाया करती है।

: ३२ :

शास्त्र-ज्ञान के फेर में

१९१९ से १९२५ तक अनेक मत-सम्प्रदायों के ग्रथों का थोडा-थोडा अध्ययन किया, तो एक अजीब-सी उलझन में पड गया। ऐसा लगता था कि धर्म-तत्त्व की सिद्धि के लिए शास्त्र ज्ञान का होना आवश्यक है, विविध धर्म-सिद्धातो का थोडा-बहुत परिचय तो होना ही चाहिए। पर यह सभव नहीं दीखता था। न तो सस्कृत का यथेष्ट ज्ञान था, और न पाश्चात्य दर्शन समझनेलायक अग्रेजी ही जानता था। फिर भी मैंने दर्शनविषयक साहित्य पढने की कष्टसाध्य चेष्टा की। कोई-कोई तत्त्व-निरूपण कुछ-कुछ समझ में आ जाता, पर अधिकाश तो वस्तु को अँधेरे मे टटोलने के जैसा ही था। समुद्र में अनाडी तैराक के कूद पडने के जैसा मेरा यह प्रयास था। पर जब देखा कि अच्छे-अच्छे तैराक भी पार नहीं पा रहे, और केवल प्रतिस्पर्धा में पडकर तैरते चले जा रहे है, तब मुझे उनका अवगाहन-प्रयत्न देखकर जैसे कुछ ढाढस और बल मिला। साथ ही यह भी देखा कि जो इस अथाह समुद्र में नही कूदे, फिर भी किसी तरह उस पार पहुँच गये, तब और भी ढाढस मिला। १९२५ के बाद ये प्रश्न उठने लगे कि माना कि धर्म

की गति अति गहन है, साधना उसकी और भी दुष्कर है, पर व्याख्या भी क्या धर्म की उतनी ही जटिल होनी चाहिए ? इतनी ये सारी उलझनें क्यो ? धर्म-निरूपण के लिए तर्क जाल में उलझे बिना क्या हमारी गति ही नहीं ? सीधे सच्चे नियमो को उपनियमो और अपवादों से क्यों इतना अधिक लाद दिया गया है कि 'मूलवस्तु' का पता भी नहीं चलता ।

मैने कहीं पढा था कि धर्म की साधना का उद्देश तो साम्य-स्थापन है । तब प्रश्न उठा कि इस निरूपण क्षेत्र में इतना भारी और भयंकर वैषम्य क्यो दिखाई देता है । सामजस्य का तो प्रत्यक्ष मे कहीं पता भी नही । तब विषमताओ को पैदा करने और बढानेवाला शाब्दिक ज्ञान धर्म शोधक के लिए क्यों आवश्यक होना चाहिए ? पर इसका यह अर्थ नहीं कि मै स्वय धर्म का शोधक या साधक बनने जा रहा था । सही तो यह है कि मैंने साधना के पथ पर पैर भी नहीं रखा । ऐसे-ऐसे प्रश्नो के उत्तर तो मात्र अपनी मनस्तुष्टि के लिए होते थे ।

उलझते-सुलझते मे इस परिणाम पर पहुँचा कि आदि में जगत् के सब तत्त्व शोधकों व साधको की मूल शिक्षाएँ लगभग एकसमान सरल और बिना गुत्थियो की रही होंगी । पर उनकी मृत्यु के पश्चात्, और कभी-कभी उनके जीवन काल में भी, उनके अनुयायियों ने ही उनको बुरी तरह तोड-मरोड डाला । शाखें और पत्ते अपनी ही जड़ों को भूल गये । मूल जीवन-साधनाओ का विचार-शून्य अनुकरण किया गया, और उन्हे मूढ़ाचार के विविध साँचों में ढाल दिया गया । उधर, बुद्धिवादी तत्त्व निरूपकों ने जीवन-साधनाओं की उपेक्षा की और उन्हें

शुष्क तार्किक 'वादों' में बड़े कौशल से बदल डाला। बस यहीं झमेला पड़ गया। और आज के सुधारकों और राजनेताओं ने अपने बुद्धि-बल से और भी अनर्थ किया। दूसरा पक्ष काटकर एक ही पक्ष के सहारे सारे आकाश मंडल में मुक्त विचरण करना चाहा। गड़बड़ी क्या और कहाँ पर हुई, इस बात को समय-समय पर संतों ने ताड़ लिया। दीपक जब-जब बुझने को आया, उन्होंने अपनी जीवन-साधना का उसमें तेल डाल दिया और बत्ती पर का गुल हटा दिया। शास्त्रज्ञों को धर्म के मामलों में इस तरह बेजा दखल देना अच्छा नहीं लगा। लेकिन लोगों को तो हरबार उन्होंने अपनी तरफ खींचा ही। मूल तत्त्व में सन्तों के इस 'अभिनिवेश' को देखकर मुझे अपने तर्क संभूत संशय क्षीणबल प्रतीत होने लगे।

इलाहाबाद के बेलवेडियर प्रेस का सन्त-साहित्य पढ़ना शुरू किया। कबीर, दादू, पलटू और धर्मदास की बानियों में एक नया ही रस मिला। बाहर-भीतर स्वच्छ निर्विकार, ऊँचा घाट, गहरा भेद, और समथल भाव। हृदय के एक-एक तार को झनझना दिया। इस अद्भुत मिठास के आगे शास्त्र का स्वाद अब फीका सा पड़ गया। मैं पछताया कि इस अपूर्व रसास्वादन से अबतक अपने को क्यों वंचित रखा। सारा साहित्य, सिवा तुलसी-साहित्य के, अब गतरस और बासी-सा लगने लगा।

परन्तु प्रश्नों का तार फिर भी टूटा नहीं। तर्कों की छाप अन्तर्पट पर से पुछी नहीं थी। संत-वाणी जब सामने रहती, तब प्रश्न भी तिरो-हित हो जाते थे। अन्यथा, ऊटपटाँग प्रश्न फिर मेरी मनोभूमि पर अधि-

कार कर लेते थे। प्रश्न उठा करते—मानव-जीवन का आधार नीति को क्यों माना जाता है? अप्रत्यक्ष में विश्वास करने से क्या लाभ? जब प्रत्यक्ष में विषमता, अन्याय और नानाविध कलह हम देख रहे हैं, तब कोई क्यों माने कि इस सृष्टि की रचना गणित-सिद्ध न्याय या नीति के पाये पर हुई है? गनीमत था कि ये और ऐसे ही अनेक प्रश्न मेरे अपने मस्तिष्क की उपज नहीं थे। तर्क-प्रधान पुस्तकों के देखने और विद्वानों के साथ चर्चा करने के फलस्वरूप इन प्रश्नों ने बाहर से आकर मेरे मस्तिष्क पर कब्जा कर लिया था। ऐसे प्रश्नों के युक्तिसंगत उत्तर मैं कभी ठीक-ठीक दे नहीं सका। मगर फिर भी बुद्धिशालियों के ये जटिल प्रश्न सनातन के प्रतिष्ठापित न्याय तथा नीति पर मेरा जो सामान्य विश्वास है उसपर से मुझे डिगा नहीं सके। भले ही नीति-मार्ग से मैं बारबार, बल्कि रोज़-रोज़ विचलित हुआ हूँ, पर यह मानने को कभी भी जी नहीं हुआ कि मानव-जीवन सत्य और नीति के आधार पर स्थित नहीं है। पहले ऐसे-ऐसे प्रश्न परेशानी में डाल देते थे, पर अब ये बिना असर डाले आते और चले जाते हैं। जरूरी थोड़ा ही है कि हरेक आते-जाते प्रश्न को उत्तर मिलना ही चाहिए।

सो शास्त्र-ज्ञान मेरा बिल्कुल कच्चा रहा, और इसका मुझे तनिक भी पश्चात्ताप नहीं। चञ्चु-प्रवेश ही हुआ था कि झट से छूट गया। संत-साहित्य की मिठास ने उधर से मन फिरा दिया, किन्तु गीता, रामायण, विनयपत्रिका और धम्मपद इतने ग्रन्थ न छूट सके। इनमें से कंठाग्र तो एक भी नहीं, और न किसीका गहरा अभ्यास ही किया है। आचरण तो मन में एक कण का भी नहीं किया, पर ये ग्रन्थ मुझे हृदयप्रिय

अवश्य हैं। इन ग्रन्थों की गणना मैं शास्त्र के भी अन्तर्गत करता हूँ और इन्हें उच्च कोटि का संत-साहित्य भी मानता हूँ।

गीता का रस-दर्शन बहुत पीछे मिला, शायद बत्तीस वर्ष की अवस्था के बाद। दो-तीन टीकाओं से सहायता ले-लेकर गीता की गहनता में थोड़ा-सा आगे बढ़ सका। तिलक के गीता-रहस्य ने अधिक आकर्षित नहीं किया। कर्मयोग के अत्यधिक शास्त्रीय समर्थन से मन जैसे ऊब गया और मुझे वह दुरूह भी प्रतीत हुआ। ऐसा लगा कि जैसे 'गीता-रहस्य' मात्र प्रचारक-ग्रन्थ हो। 'शांकर-भाष्य' को भी देखा, पर अधिक समझा नहीं। पर शंकर के एक-दो तर्कों से फिर भी अच्छा समाधान हुआ। मशरूवाला का 'गीता-मंथन भी अपने ढंग का सुन्दर ग्रन्थ है। गांधीजी का सरलार्थ भी अनाकर्षक नहीं लगा। किन्तु सर्वाधिक श्रद्धा तो मेरी 'ज्ञानेश्वरी' पर है। भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की ज्ञानदेव ने अनेक स्थलों पर अनुभवजन्य अत्यन्त सुबोध तथा सरस व्याख्या की है। पछताता हूँ कि मराठी का अभ्यास न होने से मूल ज्ञानेश्वरी का रसास्वादन न कर सका। विनोबा के गीताविषयक 'प्रवचन' भी समाधानकारक मालूम दिये।

जितने भी धर्माचार्य हुए उन सबने इस अद्भुत ग्रन्थ को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और 'प्रस्थानत्रयी' में इसे भी लिया। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धांतों को गीता से सिद्ध व पुष्ट किया गया है। विभिन्न भाष्यों को देखकर गीता के साधारण विद्यार्थी की बुद्धि चक्कर में पड़ जाये तो आश्चर्य क्या? उसे किसी न किसी सिद्धांत का आग्रही बनना पड़ता है। विविध भाष्यों को आगे रखकर गीता का

आचरण है, समाज-सेवा नहीं, बल्कि भगवद्दीय महापुरुषों का वह कर्म है, जो अहंकार-शून्य भावना से संसार के लिए, भगवान् की प्रीति-पूजा के तौर पर, यज्ञरूप से किया जाता है।"

इसका यही अर्थ हुआ कि गीता में भागवत संकेत या आदेश मुख्य है, जो भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय करता है। उस दिव्य संकेत की प्रत्यक्षानुभूति ही गीता के अनुशीलन का चरम फल है। यह इतनी ऊँची चोटी है कि वहाँतक पहुँचना तो दूर उसकी ओर देखते भी डर लगता है। हम-जैसे तब क्या करें, इसका उत्तर मैं इतना ही दे सकता हूँ कि जितना हमसे बन पड़े अपने आप में गहरे उतरकर गीता के अद्भुत पदों का मनन करें—इससे कुछेक क्षण तो रस की घूटें मिलेंगी ही।

गीता की ही तरह 'धम्मपद' को भी मैं श्रद्धा और भावना से देखता हूँ। भगवान् बुद्ध ने ब्रह्म और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, 'नित्य' उन्होंने कुछ भी नहीं माना इससे उनके उपदेशों के प्रति मेरी जो श्रद्धा-भावना है, उसमें कोई कमी नहीं आई।

दस में से एक भी पारिमिता के महाबोधारण्य में एक क्षण भी कभी विचरण करने को मिल गया तो अपने को महान् भाग्यशाली मानूँगा। 'धम्मपद' की इन बोधक गाथाओं से मुझे जीवन की अँधेरी और उलझी हुई घड़ियों में कितनी शांति मिलती है, इसे मैं ही जानता हूँ

कोनु हासो किमानन्दो निच्च पज्जलिते सति,
अंधकारेन ओनद्धा पदीप न गवेस्सथ।

अभी कुछ जल रहा है, और तुम्हे हँसी और आनन्द सूझता है'!
... अन्धकार से घिरे रहकर भी तुम प्रदीप को नही खोजते !

अनेक जाति ससार सघा विस्स अनिब्बिस।
गहकारक गवेसतो दुक्खाजाति पुनप्पुन ॥
गहकारक, दिठ्ठोसि पुनगेह न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसंखित ॥
विसखार गतचित्त तण्हान खयमज्झगा।

गृहकारक को खोजते हुए मैं अनेक जन्मोतक लगातार ससार में दौडता रहा। गृहकारक! अब तू दिखाई दे गया। अब फिर तू घर नही बना सकेगा। तेरी सारी कडिया टूट गई। गृह का शिखर बिखर गया। चित्त सस्कार-रहित हो गया। तृष्णा का क्षय हो गया।

सचमुच उस खोजी के सुख की कुछ सीमा, जिसने 'गृहकारक' को खोज लिया, जिसके गृह का शिखर बिखर गया, जिसने तृष्णा का समूल क्षय कर दिया! तृष्णा की जडो को आयु-घट की एक-एक बूँद से जिसने सीचा हो, राग की कोमल-कठोर कडियों के जोडने में ही जो सदा अभ्यस्त और व्यस्त रहा हो, वह भी जब इस 'निर्वाण-स्थिति' का ध्यान क्षणमात्र को ही सही, करता है, तब दु ख के आत्यन्तिक क्षय का उस अद्भुत आनन्दानुभव होता है। फिर उस शुद्ध बोधिसत्त्व का तो कहना ही क्या, जिसने अपने हाथों अपने गृह का शिखर बिखेर दिया हो और गृहकारक की सारी कडियां हँसते-हँसते तोडकर फेंक दी हो।

: ३३ :

एक प्रकाश-किरण

हरिजन-सेवक-संघ में आने के बाद, शायद १६३५ से, मैंने अन्त-निरीक्षण की आदत डालना शुरू किया। जब कभी अपने आपको धोखा देता, तो बाद को मन में कुछ-कुछ ग्लानि-सी होती थी। अब यह विचार आने लगा कि धार्मिक जीवन-जैसी यदि कोई चीज है तो उसका ढोंग नहीं करना चाहिए। किन्तु धर्म की स्पष्ट रूप-रेखा तो फिर भी सामने नहीं आ रही थी, और मैं स्वीकार करूँगा कि वह आज भी नहीं आई है। कारण शायद यही रहा हो कि सत्यमूलक धर्म की प्रत्यक्ष सिद्धि होने पर ही मनुष्य को उसकी स्पष्टरूपता का सच्चा ज्ञान हो सकता है। अनुभवियों का कहना है कि साधक का अन्तर स्फटिक के समान पारदर्शी हो जाता है। तब तो जो धर्म साधे वही उसका व्याख्यान या निरूपण करे।

सन्त-वाणी के पठन-पाठन में अब पहले से भी अधिक आनन्द आने लगा। कबीर और दादू ने तो मुझे मानो मोहित कर लिया, पर यह नहीं कह सकता कि इस रसास्वादन का मेरे दैनिक जीवन के आचरण पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। किन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया कि

यदि धर्म की साधना करनी है, तो असत् के प्रति जो हमारा सहज मोह है उसे प्रतिक्षण क्षीण होना ही चाहिए। सत्य के प्रति, जो धर्म-तत्व का मूल है, आकर्षण तबतक हमारा बढ़ ही नहीं सकता। स्वरूप-दर्शन तबतक संभव ही नहीं—जो सारे धर्म और अध्यात्म का निचोड़ है, किन्तु 'स्वरूप-दर्शन' कितना कठिन है, और फिर भी कितना सहज !

कह सकता हूँ कि सामने जो घोर अँधेरी-सी छागई थी वह अब जैसे कुछ-कुछ हटी। इसमे गाधीजी के जीवन-दीप ने भी सहारा दिया। गांधीजी के समीप तो मैं नही रह पाया, पर दूर-दूर रहकर ही उनके शांतिपूर्ण सामीप्य का कुछ-कुछ ,अनुभव किया। गाधीजी ने अपने जीवन-दृष्टान्त से ऐसे कितने ही लोगो को सचमुच साहस बँधाया है, जिन्हें ऊपर उठने के बल का पता भी नही था, और जो अज्ञातरूप से नीचे को ही फिसलते चले जा रहे थे। गाधीजी ने तर्कप्रधान 'वादों' का सहारा लेकर व्यर्थ बुद्धि-भेद पैदा नही किया। न ऐसे आसमानी महलों पर चढने के लिए ही कहा कि जहाँ से ज़रा-सा चूके तो धड़ाम से नीचे गिरने का भय हो। निश्चित रूप से तो यह नही कहा जा सकता कि उनका प्रत्येक कथन बिलकुल स्पष्ट और सगत रहा है। मगर मनुष्य अपनी बुद्धि को इस कद्र क्यों ताक पर रखदे कि वह किसी महापुरुष की बुद्धि को उधार लेकर चलने का प्रयत्न करे, या बल्कि अपने पैरों स चले ही नही। 'सर्व-समर्पण' की महिमा तो मैंने बहुत सुनी है, पर उसे ठीक ठीक समझ नही पाया। और फिर वह 'समर्पण' भी अविवेक और अपौरुष का उपदेश कहाँ करता है ? गाधीजी के जीवन-दीप ने सहारा दिया इसका इतना ही अर्थ है कि असत का

मूल्य मैंने जाना या अनजान में जो आँक रखा था उसको, उनके जीवन-दृष्टान्त से प्रेरणा पाकर, मुझे गलत मानना पड़ा। मेरी अधी खोज में सबसे अधिक असर गाधीजी का मुझपर यह पड़ा कि बहुत सूक्ष्म विवेचन में न पड़कर सत्य का जो रूप और उसका जितना भी अंश सहज सामने आ जाये उसके साथ आत्मैक्य करने का, बिना आत्म-विज्ञापन व अहकार के, शक्तिभर प्रयत्न किया जाये। मैंने देखा कि गाधीजी ने वही किया, जो कहा और जो सत्य जँचा, और वही कहा जो सहज भीतर से उठा। उनके आध्यात्मिक जीवन में मुझे कभी कुछ 'रहस्यात्मक' जैसा नहीं लगा, यद्यपि राजनीतिक आग्रहों और प्रयोगो के कारण उनका अध्यात्म कभी-कभी विचित्र-सा अवश्य दिखाई दिया। गाधीजी ने सबसे प्रेम किया, सबका हित किया। यह खयाल रखा कि किसीका जी न दुखे। राम का सदा नाम लिया। अपनी श्रद्धा की दीप-शिखा को हरघडी ज्वलन्त रखा। हरदम उन्हें इस बात का ध्यान रहा कि जगत् में सार वस्तु एक प्रेम ही है। धर्मतत्त्व का, अर्थात् अध्यात्म का क्या इतने में सारा निचोड नही आ जाता है? इस जीवन-दर्शन को कौन कहेगा कि पूर्ण नही है? सन्तो की जीवनियो में और उनकी वाणियों मे यही धर्म-सार तो सर्वत्र भरा पडा है।

गाधीजी की 'आत्म-कथा' के कुछ पन्नों पर मैंने बहुत पहले सरसरी-सी नजर डाली थी, शायद १६२६ मे। आबू से, १६२८ में, दो-तीन दिन के लिए मैं अहमदाबाद गया था। तभी साबरमती-आश्रम में पहले-पहल गाधीजी के दर्शन किये थे। दूसरो की देखा-देखी गाधीजी के चित्र पर हस्ताक्षर लेने का मेरा भी मन हुआ। खास इसीलिए

उनकी अंग्रेज़ी की 'आत्म-कथा' खरीदी कि उसमें दिये हुए चित्र पर उनका हस्ताक्षर कराऊँ । गांधीजी का हस्ताक्षर पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई । पुस्तक में से चित्र को निकालकर चौखटे के अंदर जड़वा लिया और बड़ी श्रद्धा से उसे पाँच-सात साल अपने पास रखा । बाद को चित्रों पर मेरा यह मोह नहीं रहा । आत्म-कथा जब १९३४ में ध्यान से पढ़ी तो मुझे ऐसा लगा कि यह ग्रन्थ तो निश्चय ही जीवन को पलट देने की सामर्थ्य रखता है । सत्य के अनेक प्रयोगों से पूर्ण इस चमत्कारी ग्रन्थ की गणना क्यों न संसार के श्रेष्ठ ग्रन्थों में की जाये ? एक बार चस्का लग जाने पर गांधीजी का दूसरा साहित्य भी देखा । इस अनुशीलन के सहारे गांधीजी के जिस रूप को मैंने अपनी मोटी दृष्टि से देखा और समझने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया, उससे मुझे कुछ प्रकाश मिला । प्रकाश वह कुछ परिचित-सा लगा । गांधीजी के जीवन-दर्शन के दूसरे कई एक पहलू मेरी समझ में नहीं आये, समझने का प्रयत्न भी नहीं किया । राजनीतिक या अन्य पहलुओं पर नजर नहीं टिकी । भारी पैमानों पर, विस्तृत क्षेत्रों में, उनके सत्य एवं अहिंसा के कई प्रयोग भी कुछ अजीब से लगे । राजनीति और अध्यात्म की एकसूत्रता भी चित्त पर ठीक जमी नहीं । यह कहना तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी कि ऐसा करते हुए गांधीजीने जान बूझकर संसार की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ध्यान नहीं रखा । हाँ, यह हो सकता है कि अपनी साधु-दृष्टि से स्वभावतः सबको उन्होंने 'सत्त्वगुण-विशिष्ट' मान लिया हो, और ऐसा मानकर ही त्रिगुणात्मिका समष्टि से वैसी ऊँची आशा रखी हो । कभी-कभी उनकी अतिशय कठोर आग्रह-वृत्ति भी शंका का विषय रही है । सूक्ष्म विवेचक न

होने के कारण भी शायद ऐसी ऐसी शंकाएँ मेरे मन में उठती हों। फिर भी मेरी सामान्य बुद्धि ने यह माना है कि गांधीजी आज के युग के एक सबसे बड़े धर्म शोधक हैं, और केवल धर्म-शोधक हैं। उनकी पार-दर्शी अन्तर्दृष्टि पर मेरी पूरी श्रद्धा है।

किन्तु उनकी वकालत या तर्क-प्रणाली की ओर से उदासीन रहना अच्छा लगता है। दूसरे क्षेत्रों में उनकी सफलता-असफलता मेरी दृष्टि में बराबर है। और सत्य के भी किसी प्रयोग में वह असफल हो जायें, जो असंभव नहीं है, तब भी मेरी श्रद्धा को उससे कोई धक्का नहीं लगेगा। श्रद्धा को धक्का इसलिए भी नहीं लग सकता कि मैंने अपने आपको गांधीजी का केवल एक श्रद्धालु 'दर्शनार्थी' माना है, 'अनुयायी' कभी नहीं। अनुयायी बनना मुझे भयावह लगा। दर्शनार्थी बनने में मेरे जैसे असाधकों के लिए कोई खटका नहीं। अनुयायी तो किसी महापुरुष का वह बने, जिसमें स्वार्पण करने की पूर्ण क्षमता हो। मुझमें स्वभाव से ही यह चीज नहीं है। इसीलिए मैं तो मात्र दर्शनार्थी रहा हूँ। उनके एक ही रूप का दर्शन किया है—और वह रूप है जाग्रत 'भक्त' का। उनके जीवन की दूसरी सारी झाँकियों से मुझे प्रयोजन नहीं। 'भक्त' शब्द को प्रचलित अथवा शास्त्रीय अर्थ में न लेकर मैंने यहाँ व्यापक और संपूर्ण अर्थ में लिया है—सत्य-शोधक और अहिंसा के आराधक का उसमें पूरा समावेश हो जाता है। गांधीजी की इस जीवन झाँकी को मैं स्पष्ट और निःसंशय देखता हूँ। फिर भी भक्ति पथ के वे अभीतक एक यात्री ही हैं—किंतु इस युग के महान्-से-महान् यात्री। दृढ़ विश्वास है कि वे इस महा-

लक्ष्यतक अवश्य पहुँचेंगे । साथ ही, और भी कितने ही छोटे-मोटे यात्री उनकी जीवन-साधना से प्रेरणा पाकर पार लग जायेंगे । किसीको नाम जोड़ने का ही मोह हो, तो वह इसे 'गाधी-पथ' कह सकता है, कृपाकर 'गांधीवाद' न कहे । 'वाद' मुझे कुछ हलका-सा जँचता है । यह पथ बिल्कुल सीधा है, टेढा बाँका तनिक भी नहीं । न कोई उलझन है, न कोई असगति । प्रेम-पथ मे उलझन कैसी ? सत्य के सम-मार्ग में विषमता का क्या काम ? रास्ता सीधा व साफ़ है, अब तो उसपर चलना-ही-चलना है । मगर चलना अपने ही पैरो से है । अपना गुरु अपने आपको बनना है, किन्तु सारा 'आपा' खोकर । श्रद्धा के साथ कृतज्ञतापूर्वक मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पूज्य गाधाजी की इस जीवन-झाँकी से मुझे प्रकाश-किरण मिली है । पर इसके साथ ही, यह भी क़बूल करूँगा कि इस प्रकाश से मै पूरा लाभ नही उठा सका । मेरे मित्रों को दो प्रकार का भ्रम हुआ है, उसका भी यहाँ निराकरण करदूँ । कुछ मित्र मुझे 'गाधावादी' या गाधी-अनुयायी' मान बैठे है और स्वभावत यह आशा करते हैं कि मै गाधीजी की प्रत्येक प्रवृत्ति का और उनके विचार का, सम्पूर्ण अर्थ मे, समर्थक हूं । और जब मैं गाधीजी की कुछ प्रवृत्तियो या विचारो की टाका कर बैठता हूँ तब कुछ मित्र शायद इस भ्रम में पड जाते है कि मेरी श्रद्धा में फर्क आ गया है और इसीलिए मेरे विचार विरोधी बनते जा रहे हैं । क्षमा करें, यह दोनो ही धारणाएँ गलत है । माने हुए गाधीवाद का न मैं कभी अनुयायी रहा, न गाधीजी के उस रूप पर जो मेरी दृष्टि के सामने रहा मेरी श्रद्धा-भक्ति ही कभी मद पड़ी । टीका मैंने दूसरो के 'गाधी' की

की है। सन्देह नहीं कि मेरा अपना 'गांधी' तो सदा मेरा भक्ति-भाजन रहा है और रहेगा

अब ऐसे विचार दृढ और दृढतर बन जाने से उस वस्तु को 'धर्म-तत्त्व' मानने से मै इन्कार करने लगा, जिसका बाक़ायदा संगठित रूप से 'विज्ञापन' तथा 'प्रचार' किया जाता है अर्थ और काम की सिद्धि के लिए—और इन्ही साधनों के द्वारा धर्म का आराधन (?) होते देखकर स्वभावत क्षोभ पैदा होने लगा। धर्म का यह 'प्रचार' कैसा ? धर्म की जो सुगन्ध पहले फैलाते थे, वह सत्य और तप के द्वारा। आज तो धर्म प्रचार का वह शुद्ध उद्देश भी नहीं रहा। उद्देश माना जा रहा है समाज या जाति का भौतिक संगठन और संवर्द्धन ! और यह संगठन-संवर्द्धन भी केवल तृष्णा-वृद्धि के लिए, रागद्वेषमूलक वासनाओ की अभितृप्ति लिए ! आश्चर्य और दुःख होता है, जब यह सुनता और देखता हूँ कि स्वधर्म की यदि समय रहते रक्षा न की गई तो वह संकट मे पड जायेगा ! और फिर उसकी रक्षा ऐसे-ऐसे साधनो से की जाती है, जिनसे वैर फूलता है, द्वेष और-और फलता है। युक्ति बल से, अनीति-बल से धर्म-संस्थापन के नये-नये प्रयत्न किये जाते हैं। नवविधान और धर्म संस्थापन के नाम पर कितने बडे-बड़े युद्ध लडे गये, जिनमे लाखो निर्दोषो का रक्त बहाया गया और धर्माचार्यों ने बडी शाति-मुद्रा के साथ देव-स्थानों में शत्रुओं के सर्वनाश की प्रार्थनाएँ कराई ! स्पष्ट ही आसुरी संपत्ति को दैवी संपत्ति का नाम दिया गया और दिया जा रहा है। बडे-बडे जननायक भी धर्मग्लानि की ऐसी-ऐसी निन्दित प्रवृत्तियो मे क्यो योग देते हैं ! ऐसा लगता है कि धर्म के प्रचार और संगठन पर जो लाखों

करोडों रुपया खर्च हुआ है उससे तो परोक्ष रीति से अधर्म की ही जड़ें हरी हुई हैं। धर्म को रुपये का सहारा देकर कैसे ऊँचा उठाया जा सकता है? रागद्वेष तो योंही काफी फूल फल रहा है—उसके विष-भरे बीज बिखेरते रहने की क्या आवश्यकता है? ऐसे-ऐसे प्रश्नों ने मुझे बहुत परेशान किया।

मगर साथ ही, मन को समझा भी लेता हूँ कि जिस चीज़ के संस्थापन, संगठन और संग्रहण के झूठे सच्चे प्रयत्न हो रहे हैं, उसे 'धर्म' कहा ही क्यों जाये? वह सब तो धर्म का आभासमात्र है, और उसीके लिए यह सारा उन्माद है। फिर क्यों कोई उसके लिए चिन्तित या विकल हो? कबीर की वाणी ने इस प्रकार के विचारों पर पहुँचने में मुझे बड़ा सहारा दिया। दृष्टि को अन्तर्मुखी कर लिया जाये, तो यह सारा ही प्रपंच अदृष्ट हो जाये। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि ऐसा हुआ नहीं, दृष्टि अधिकतर बहिर्मुखी ही रही। प्रयत्न इस ओर अवश्य है। कह नहीं सकता कि अबतक के जीवन पर धर्म-संस्कारों की कुछ छाप पड़ी या नहीं, पर धर्म साधना के प्रति आकर्षण मेरा अवश्य रहा है। यही, इतनी ही, मेरी धर्म शोध की अरोचक-सी कहानी है।

: ३४ :

"संघं सरणं गच्छामि"

हरिजन-सेवक-संघ में मैं १९३२ के दिसम्बर में आया—इसके दो महीने बाद 'हरिजन-सेवक' प्रकाशित हो सका। संघ का दफ्तर तब बिड़ला मिल के अन्दर था। हम लोग रहते भी शुरू शुरू में मिल की कोठी में थे। ठक्कर बापा तब संघ का प्रांतीय संगठन करने के लिए मद्रास गये हुए थे। बापा का मैंने सिर्फ नाम ही सुना था। दर्शन करने का संयोग नहीं मिला था। भाई रामनाथलाल 'सुमन' के अनुज श्यामलाल-जी मुझे यहाँ मिले, जो मुझसे एक डेढ़ महीने पहले संघ में आ गये थे। आचार्य नारायणदास मलकानी जेल से छूटने पर, छह महीने बाद, आये। तीन या चार कार्यकर्त्ता और हमारे साथ रहते थे।

सुन रखा था कि ठक्कर बापा का स्वभाव बड़ा कड़ा है और कुछ हद तक यह सही भी है। पर मैंने तो उनका स्वभाव सदा कोमल और सरल ही पाया। उनका स्नेह-भाजन बनते देर नहीं लगी। उनका अन्तर स्फटिक सा पाया। यद्यपि बापा की दफ्तरी शुष्क-कर्मण्यता से—भले ही उनकी अपनी दृष्टि में वह अति सरस हो—कभी-कभी ऊब-सा जाना पड़ा, तथापि उनके अन्तर में निरन्तर लहर मारती हुई करुणा ने उनके प्रति हमारी श्रद्धा को सदा अडिग रखा। मैं

अपना अहोभाग्य समझता हूँ, जो आज इतने वरसो से बापा के चरणों के निकट बैठने का शुभ अवसर मिल रहा है। उनसे सचमुच बहुत-कुछ सीखने को मिला। बापा जबतक दक्षिण भारत से दिल्ली वापस नहीं आये, तबतक मैं बिल्कुल ठाला बैठा रहा। आते ही उन्होंने मेरे उपयुक्त थोड़ा काम ढूँढ निकाला। अखबारो मे हरिजन-आन्दोलन सम्बन्धी जो महत्त्व की खबरे प्रकाशित होती थी, उनकी सक्षिप्त साप्ताहिक रिपोर्ट अंग्रेज़ी में तैयार करने का काम मुझे सौंपा गया। फिर भी मेरा काफी समय बेकार जाता था। सघ का सगठन-कार्य खूब ज़ोर से चल रहा था। बापाने आश्चर्यजनक रीति से अल्पकाल मे ही हरिजन-सेवक-सघ को सारे भारत में सुसगठित कर दिया।

पहले सघ का नाम 'एण्टी-अनटचेबिलिटी लीग' था। हिन्दी में हम उसे 'अस्पृश्यता-निवारक मडल' कहा करते थे। मिल के कुछ मारवाडी मित्र हमें 'अटाचितवाले' नाम से पुकारा करते थे। हरिजन-सेवक सघ यह नामकरण तो सघ का उसके प्रथम वार्षिक अधिवेशन में हुआ। गाधीजी की विद्यमानता में यह अधिवेशन हुआ था। हरिजन-सेवकों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए गाधीजी ने बडा सुन्दर उद्बोधक प्रवचन किया था। प्रचलित अर्थ के प्रचार-कार्य को सघ मे शुरू से ही स्थान नहीं दिया गया। बजट मे एक छोटी-सी रकम प्रचार की मद में ठक्कर बापा ने रख दी थी। गाधीजी को वह भी सहन नहीं हुई। कहा—"इस प्रकार के प्रचार के लिए हमारे कार्यक्रम मे जगह नहीं होनी चाहिए। अच्छा हो कि 'प्रोपेगेंडा' को तो हम दफना ही दे। एक पाई भी प्रचार-कार्य पर खर्च न करें। हमारे हरिजन-सेवक सच्चाई,

दृढ़ता और प्रायश्चित्त की पुनीत भावना से सेवा-कार्य करेंगे, तो प्रचार का काम तो अपने आप हो जायेगा। वेतनभोगी उपदेशकों से न कभी प्रचार हुआ है, न होगा।" संघ ने इसीलिए ऐसे प्रचार-कार्य पर कभी पैसा खर्च नही किया। रचनात्मक कार्य पर ही सघ ने हमेशा ज़ोर दिया है। फिर भी प्रचार तो हो ही गया, जो स्वाभाविक था। गाधीजी का देशव्यापी हरिजन-प्रवास प्रचार का स्वत. एक बहुत बडा साधन था। सनातनी कहेजानेवालों की ओर से, जहाँ-तहाँ से, जो विरोध की आवाज़ उठी, उसने भी हमारे कार्य का खासा प्रचार किया। प्रचार के इन प्रत्यक्ष या परोक्ष साधनों पर संघ ने कुछ खर्च नहीं किया। थोड़ा-बहुत यदि कहीं उसे खर्च करना पडा, तो केवल मलबार के मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन पर। किन्तु परिणाम-स्वरूप भारी जन-जाग्रति को देखते हुए प्रचार पर किया गया वह खर्च नगण्य-सा था। मैंने देखा कि कोरे प्रचार के फलस्वरूप कुछ काम हुआ भी तो वह अधिक दिनोंतक टिका नही। जैसे, कितने ही कुएँ और मन्दिर-खुले, पर बाद को फिर बन्द हो गये।

इसी प्रकार संघ लोकशाही के वैधानिक चक्कर में भी नहीं फँसा। वार्षिक अधिवेशनों मे कई प्रश्नों पर वाद-विवाद हुए, पर हमें कभी किसी वैधानिक सकट का सामना नहीं करना पडा। पूज्य गाधीजी ने प्रेरणा दी, सघ के अध्यक्ष ने ठक्कर बापा के काम में कभी हस्तक्षेप नहीं किया—यह मानकर कि उनके हाथ से कोई अवैध काम होगा ही नहीं, और बापा ने कठोरतापूर्वक तथ्यों और अंकों को सबसे अधिक महत्त्व दिया। गाधीजी तथा ठक्कर बापा ने जो एक बार लकीर खींच दी उसी-पर हम धीरे-धीरे चलते रहे। मगर हमें यह स्वीकार करना चाहिए

कि इस तरह हम अस्पृश्यता-निवारण की दिशा मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही कर पाये, ऐसी आलोचनाएँ भी हुई और होती रहती हैं। खासकर यह कहा गया है कि भय है कि इस शिथिल गति से आगे चल-कर कहीं हम जड न बन जायें। कुछ हदतक यह आशंका सच भी है। लगने लगा कि हमारी विचार गति जैसे रुक सी गई है। हमारे काम को वर्षों से कोई खास वेग नही मिल रहा। प्रगति अस्पृश्यता-निवारण की दिशा में वैसी नहीं हुई है। हम अछूत बस्तियो का नियमित चक्कर लगा आते, पर अस्पृश्यता-निवारण के इरादे से सवर्ण-बस्तियो में भी कभी गये? रोग के कीटाणु तो असल मे सवर्ण बस्तियो मे भरे पडे हैं। हम जो कुछ करते चले गये उसमे आत्मसंतोष-सा मान बैठे। हमारी प्रवृत्ति के हित में यह कोई शुभ लक्षण नही। हिन्दू-समाज के गहरे तालाब मे जो गाधीजी की प्रेरणा से संघ ने एक भारी पत्थर फेंका, उससे नीचे का सारा कचरा ऊपर तो आ गया, पर तालाब मे धँसकर हिम्मत के साथ उस कचरे को यदि हमने बाहर न निकाला, तो वह फिर तले में जाकर बैठ सकता है। दूसरो को जगाकर खुद सो जाने मे कही काम चलता है?

यह हमें निस्सकोच मान लेना चाहिए कि वस्तु-चिन्तन या हृदय-मन्थन हम नही कर रहे है। ऐसा न करने से हमे भय है कि हमारा रोजमर्रा का काम कहीं दफ्तर की कोरी खानापूरी मे परिणत न हो जाये, दुर्भाग्य से साधन कही साध्य का स्थान न लेले।

शायद न चाहते हुए भी सघ का आर्थिक कार्यक्रम मुख्य बन गया। अत्यन्त सीमित साधनो के बल पर करोडों दलितजनों को

आर्थिक सहायता पहुँचाना सभव नही । आशाएँ भ्रमवश बडी-बडी बाँध ली गई, पर जब उनकी पूर्ति न हो सकी, तब उससे अविश्वास और कटुता की भावना का फैलना स्वाभाविक था । निश्चित है कि लोक-सेवा के क्षेत्र में अर्थ-बल को अत्यधिक महत्त्व मिल जाने से दुष्परिणाम ही आते है । तन और मन का स्थान बेचारा धन कभी ले सकता है ?

हमारे सघ मे एक बात और शुरू से ही खटकने जैसी रही, अर्थात् अग्रेज़ी भाषा का सार्वभौम प्रभुत्व । पूज्य बापा राष्ट्रभाषा हिन्दी के कुछ विरोधी नहीं हैं, पर उनकी कुछ ऐसी मान्यता रही कि बगैर अग्रेजी माध्यम के 'अखिल भारत' का काम चलना मुश्किल है । दूसरे, ऐसे कार्यकर्त्ता भी नहीं मिले, जो सघ का दफ्तर हिन्दी मे चलाने के लिए विनयपूर्वक उन्हे बाध्य कर देते । श्यामलालजी से मै हमेशा शिकायत करता रहा, पर दुर्भाग्य से वह भी अग्रेजी के अतिशय मोह से मुक्त न हो सके । इसका प्रायश्चित्त बाद को उन्होंने 'कस्तूरबा-स्मारक ट्रस्ट' मे जाकर किया । हमारे लिए सचमुच यह दु ख और लज्जा की तथा दूसरों के लिए आश्चर्य की बात रही कि सघ का कार्य-विवरण कभी हिन्दी मे प्रकाशित नहीं हुआ । इस विषय मे मुझे भी तो दोषी ठहराया जा सकता है । सघ के दफ्तर से मेरा सीधा सबध नही रहा यह सही है, पर इतने से मै अपने को दोषमुक्त नही मानता । पूज्य बापा के सामने मैंने अनेक बार हिन्दी का पक्ष रखा, अंग्रेजी की निन्दा की, पर इससे अधिक कुछ न कर सका । सघ के वार्षिक अधिवेशन का श्रीगणेश अध्यक्ष महोदय ने प्राय इन शब्दों से किया—'सज्जनो, हमे अपनी

कार्यवाही हिन्दी मे ही चलानी है," और उनका प्रारम्भिक भाषण हिन्दी में हुआ भी, पर सघ की गाडी अपने-आप खिसककर फिर उसी पुरानी लीक पर चलने लग गई ! कोई हिन्दी में बोला भी, तो कार्य-विवरण मे उसका अंग्रेज़ी भाषान्तर ही छपा। अंग्रेज़ी भाषा की इस निन्दनीय प्रभुता का परिणाम यह हुआ कि हमारी आवाज़ उन करोडो को स्पर्श नही कर पाई, जिनकी सेवा के लिए हमने इन सघो और सस्थाओ का निर्माण किया है। सचमुच यह हमारे लिए लज्जा और परिताप की बात है।

यह सब हुआ, पर जहाँतक सघ की प्रामाणिकता का सम्बन्ध है, उसपर किसीने उँगली नहीं उठाई। ठक्कर बापा ने आन्तरिक व्यवस्था में प्रामाणिकता को सबसे अधिक महत्त्व दिया। कार्यकर्त्ताओ की अप्रामाणिकता को उन्होने कभी सहन नही किया। उनके अकुश ने सदैव सघ की मान मर्यादा की रक्षा की।

ईश्वर का मैंने अनुग्रह माना और अपने को भाग्यशाली समझा कि हरिजन-सेवक-सघ से मेरा सम्बन्ध जुडा। मैंने सघ में आकर खोया कुछ नही, पाया ही-पाया।

: ३५ :

"हरिजन-सेवक"

लगभग दो मास मैं सघ के दफ्तर में बेकार-सा ही बैठा रहा। पत्र के प्रकाशन की आज्ञा हमें बडी मुश्किल से १५ फरवरी, १९३३ को मिली। यों ही बैठे-बैठे १२०) मासिक वेतन लेना भारी मालूम पडने लगा था। दिल्ली आकर मैं लोभ मे फँस गया। श्रीघनश्यामदासजी बिडला से मिलकर डेरे पर लौटा, तो मेरे एक हितचिंतक मित्र ने मुझे यह नेक सलाह दी—"भाई, यह दिल्ली है। तुम्हारा यहाँ कम तनख्वाह से गुज़ारा होने का नही। फिर हरिजन-सेवक सघ के पास रुपया भी काफ़ी है। इस सस्था के अध्यक्ष, तुम जानते ही हो, बिडलाजी हैं।" १२०) मासिक वेतन मेरा तय हुआ। मेरी आवश्यकताओं से यह काफी ज्यादा था। कोई डेढ महीने बाद २३) मासिक किराये का एक बढ़िया मकान सब्जीमडी में लेकर रहने लगा। घर से माँ इत्यादि को भी बुला लिया। खर्चने के बाद रुपया फिर भी मेरे पास काफ़ी बच जाता था। पाँच-सात महीने तो १२०) मासिक वेतन सघ से लेता रहा, इसके बाद मन में कुछ ग्लानि सी होने लगी। सोचने लगा, सार्वजनिक सस्था से इतना ज्यादा पैसा लेना उचित है क्या? जो सेवा कार्य मुझे सौंपा गया है

उसे अर्थोपार्जन का साधन बनाना ठीक नहीं । और अगर पैसा ही कमाना है, तो फिर इसके लिए हरिजन सेवक-सघ ,का आश्रय लेना अनुचित है। अर्थ के लोभ मे आजतक नहीं पडा, तो अब क्यों पडूँ ? इस प्रकार के विचार मन मे रोज उठा करते। फलत. वेतन में से पहले २०) कम किये। फिर कुछ महीनोंतक ७५) लेता रहा । १९३५ के अक्तूबरतक कम करते-करते क्रमश ४५) पर आ गया। १८) मासिक मेरे ममेरे भाई को हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस से मिलते थे । इस तरह ६३) से हम पाँच आदमियो का गुजारा तब अच्छी तरह हो जाता था। निर्वाह तो तब इससे भी कम मे हो सकता था, और २००) या २५०) भी वेतन मिलने लगता, तो भी शायद वह पर्याप्त न होता।

'हरिजन-सेवक'–जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण साप्ताहिक पत्र के सपादन का अनुभव मेरा तब नया ही था। पहले अक का कलेवर मैंने अधिकतर कोरे साहित्यिक लेखो—असल मे अनुपयुक्त या अनावश्यक लेखो—से भर दिया। गाधीजी को यह चीज पसन्द नही आई । असंतोष प्रकट किया, और कुछ सुझाव भी यरवडा जेल से भेजे। अंग्रेज़ी 'हरिजन' से अधिक से-अधिक लेख लेने के लिए लिखा। अग्रेज़ी में अनुवाद जल्दी और ठीक ठीक करने का अभ्यास मेरा नहीं के जैसा था। लेख भी देरी से मिलते थे । शुरू-शुरू में काफी मुसीबतो का सामना करना पडा। कई बार तो हिम्मत भी छूट गई। गाधीजी उन दिनो यरवडा जेल से प्रति सप्ताह हिन्दी में भी अपने एक-दो मौलिक लेख भेजा करते थे। मगर बाद को अंग्रेज़ी तथा गुजराती में लिखने का काम इतना अधिक बढ गया कि हिन्दी में लिखना उनके लिए कठिन हो गया । मेरी यह

धृष्टता ही थी कि अक्सर गाधीजी को उपालभपूर्वक लिखता रहता था कि—"गुजराती मे लिखने के लिए तो बापू, आप को समय मिल जाता है, पर हमारे दुर्भाग्य से हिन्दी में लिखने के लिए आप वक्त नही निकाल पाते ?" आज मुझे अपने उन अविनयपूर्ण पत्रों की लिखावट पर खेद होता है। परन्तु पूज्य बापूजी ने तो सदा क्षमा ही किया। मेरी त्रुटियो को भी निभाया। एक बार तो उन्होंने अग्रेज़ी मे न लिखने का निश्चय-सा कर लिया था, और इसका कारण मेरा एक ऐसा ही पत्र था। स्व० महादेव भाई ने बिगडकर मुझे लिखा था कि, "आपको क्या इस बात का ध्यान नहीं है कि इससे बापू को कितनी कठिनाई होगी, और मेरा काम भी कितना ज्यादा बढ जायेगा ?"

'हरिजन-सेवक' के सपादन काल मे एक दो प्रयोग मैंने भाषा-सबधी भी किये थे। राजस्थानी, गुजराती, बुन्देलखडी आदि प्रान्तीय बोलियों के भी कुछ शब्दों को चलाने का प्रयत्न किया था। मेरा विश्वास था, और अब भी है कि जनपदो की बोलियो में कितने ही ऐसे लोक-प्रचलित शब्द मौजूद है, जिनमे अभिव्यजना की बहुत बडी शक्ति भरी पडी है। उन शब्दों को लेकर हिन्दी को हम खासा समृद्ध बना सकते है। साधारण जनो में ऐसे शब्दों का चलन होने के कारण हमारे सभ्रान्त साहित्यकार शायद उनको हलकी श्रेणी के शब्द समझते हैं। ऐसे उपेक्षित 'हरिजन' शब्दो को हमे अपनाना ही होगा, अन्यथा हमारी साहित्य-भाषा सदा दरिद्र ही बनी रहेगी। मेरे इस नये प्रयास के पक्ष-विपक्ष मे कुछ मित्रोने चर्चा भी की थी।

अरबी-फारसी के कुछ अनफबते शब्दो को बीच बीच में डालकर

'हरिजन-सेवक' की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' जामा पहनाने का भी मैंने प्रयास किया था। कहना चाहिए कि दूसरों की देखादेखी मैं भी उस बहाव में वह गया था। पीछे कुछ भूल मालूम हुई। अनेक व्याख्याएँ सामने आईं, पर यह कमबख्त 'हिन्दुस्तानी' किसी भी व्याख्या पर ठीक-ठीक न उतरी। न तो साहित्य-भाषा के ही जीवित तत्त्व उसमें अबतक दिखाई दिये और न लोक-भाषा के ही। कहा तो यह जाता है कि हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जिसे आम लोग समझते व बोलते हैं—पर जब उसे लिखते हैं तब वह बिल्कुल बनावटी हो जाती है। हम उसे 'बिगाड़ी हुई हिन्दी' या 'भद्दी उर्दू' कह सकते हैं। जो लेखक हिन्दुस्तानी के हिमायती कहे जाते हैं, उनमें से बहुतों को उर्दू-फ़ारसी की जानकारी नहीं, साथ ही, हिन्दी का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं—या जो कलतक उर्दू लिखते थे वे हिन्दी का सिर्फ नाम तो लेते हैं, पर परवी असल में उर्दू की ही करते हैं। हिन्दुस्तानी की हँडिया में एक विचित्र-सी खिचड़ी पकाई जाती है। हिन्दी उर्दू का समन्वय एक हदतक तो मैं भी चाहता हूँ, पर उसका यह तरीका नहीं है, जिसका प्रचार आज 'हिन्दुस्तानी' के नाम से किया जाता है। भाषा तो मैं भी प्रायः वैसी ही लिखने लग गया था, जिसे 'हिन्दुस्तानी' का नया नाम दिया जा रहा है, पर 'हिन्दुस्तानी' यह अजीब-सा नाम पसन्द न आने के कारण मैं उसे 'हिन्दी' ही कहा करता था। अगर 'हिन्दी' नाम पर कोई संकीर्ण साम्प्रदायिकता का आरोप करने लग जाता, तो सफ़ाई मैं इस तरह पेश किया करता था—"हिन्दुस्तानी यह तो बल्कि साम्प्रदायिक नाम है। वह यों कि हिन्दुस्तान के माने हिन्दुओं का देश, और हिंदु-

स्तान की भाषा का नाम हिन्दुस्तानी, जबकि 'हिन्द' एक ऐसा नाम है. जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही अपना देश कह सकते हैं। इस मानी में हिन्द की भाषा हिन्दी ही राष्ट्रीय और असाम्प्रदायिक है।" और 'हिन्दुस्तानी' नाम देना ही है तो हिन्दी-उर्दू की खिचडी ही को क्यो? बँगला, मराठी गुजराती, पजाबी और तेलगु, तामिल, कन्नड आदि भाषाएँ क्या गैर हिन्दुस्तानी है ? लेकिन हमारी इन दलीलो को तब कोई सुनने को तैयार नहीं था। मगर अब तो हमारे खंडित देश का नाम भी बदल गया है। आज हिन्दुस्तान कहाँ है? इण्डिया का सीधा-सादा पर्याय हिन्द ही हो सकता है, और हिन्द की भाषा 'हिन्दी' और उसका निवासी भी 'हिन्दी' ही। जब भाषा को राजनीतिक हेतु से प्रेरित होकर नया रूप दिया जाता हो, उसे जबर्दस्ती काट-छाँटकर और जैसे तैसे बेमेल मेल बिठाकर गढा जा रहा हो, तब भाषा की मूल प्रकृति की ओर देखता ही कौन है ? किन्तु प्रकृति को लाँघकर जा कौन सकता है? अत स्पष्ट है कि ये सब प्रयास विफल ही जायेंगे। भाषा या तो स्वयं अपना रूप बना और सँवार लेती है, अथवा वह वाल्मीकि, तुलसी और कबीर जैसे समर्थ लोक-प्रतिनिधियो के आगे सिर झुकाती है। मैं जानता हूँ कि मैं विषय से कुछ बाहर चला गया हूँ। हाँ, तो बनावटी भाषा लिखने के प्रवाह में उन दिनों मैं काफी बह गया था। मेरी भाषा में एक और भी दोष आ गया था। गुजराती लेखों का अनुवाद करते-करते कहीं-कहीं मेरी वाक्य-रचना में गुजरातीपन आने लगा था, पर ऐसा अनजान में ही होता था। मेरे कुछ मित्र उसे दोष नहीं समझते थे, क्योंकि वे तो प्रयत्नपूर्वक वैसी भाषा लिखते और बोलते थे।

लगभग दस वर्षतक अनुवाद का यह बोझिल काम जैसे-तैसे मैंने निबाहा सही, पर वह मेरी प्रकृति के बहुत अनुकूल नही पडा। मैं यह भी स्वीकार करूँगा कि मेरी वैसी योग्यता भी नहीं थी। अनुवाद करना कोई आसान काम नहीं है। दोनो भाषाओ पर समान अधिकार न होने से अनुवाद करना मुश्किल हो जाता है। यथार्थता और मूल की सुन्दरता विरले अनुवादक ही ला सकते हैं। यह हर किसीके वस का नहीं। मेरे लिए वह हानिकारक भी सिद्ध हुआ। स्वतन्त्र लिखने की जो थोडी-बहुत प्रतिभा थी, वह जैसे कुछ कुण्ठित सी पड गई। अनुवाद करने के लिए गाधीजी के लेख होते थे यही, बस, एक लोभ था। लेख सेवाग्राम से अक्सर देर से आते थे। अनुवाद कभी-कभी बहुत जल्दी प्रेस में देना पडता था। कुछ लेखो का अनुवाद श्रीमहादेव भाई सेवाग्राम से भी कराके भेजते थे। उनके सशोधन की जिम्मेदारी लेते हुए डर लगता था। गाधीजी के मौलिक हिन्दी लेखो का संशोधन करना बल्कि ज्यादा आसान काम था। हाथ मेरे हमेशा जैसे बँधे-से रहते थे। फिर भी सपादन कार्य से मुक्त हो जाने का मन नही होता था। 'हरिजन सेवक' का सम्पादक होना, यह कोई छोटा-मोटा लोभ नही था।

यह भी हमेशा समस्या ही रही कि पत्र को स्वावलम्बी कैसे बनाया जाये। ग्राहकों का सदा टोटा ही रहा। हर साल ही घाटा रहता था। घाटे की पूर्ति कुछ मित्र कर दिया करते थे। ग्राहक-संख्या बढ़ाने की मैं काफी कोशिश करता था। अग्रेजी 'हरिजन' की ओर लोगो का अधिक आकर्षण था। गुजराती भाषा-भाषी जनता अलबत्ता गुजराती

'हरिजन-बन्धु' पढ़ना पसन्द करती थी। मगर हमारे हिन्दीवालों का तो ज़्यादातर अंग्रेज़ी की तरफ ही झुकाव था। पत्र का बराबर घाटे पर चलना न तो गांधीजी को अच्छा लगता था, न हम संचालकों को ही। संपादन तथा व्यवस्था पर अपेक्षाकृत खर्च बहुत कम होता था। खर्च तो छपाई व काग़ज़ का ही असल में था। पत्र के स्वावलम्बी न बन सकने का दु:ख मुझे अबतक रहा। यत्न करता था, फिर भी सफलता नहीं मिलती थी। हिन्दी-संसार की उदासीनता बहुत खलती थी। यह मैं जानता था कि सिवा एक 'कल्याण' के ग्राहक-संख्या प्राय: सभी हिन्दी पत्र पत्रिकाओं की असंतोषजनक सी ही है, पर दु:ख तो इस बात का था कि गांधीजी के पत्र को भी क्या दूसरे पत्रों की ही तरह ग्राहकों का सदा अकाल रहना चाहिए? मेरे कुछ मित्रों का कहना था कि यदि गांधीजी प्रति सप्ताह हिन्दी में कुछ लिखने का नियम बना लेते, तो ग्राहक-संख्या अवश्य बढ़ सकती थी। इस दलील में कुछ बल तो था, पर ग्राहक-संख्या न बढ़ने का यही एक कारण नहीं था। मेरी समझ में तो यह आता है कि संभवत: हम हिन्दीवालों में अभी गम्भीर विचारपूर्ण साहित्य पढ़ने का रस पैदा ही नहीं हुआ। साथ साथ, हमारी हीन भावना भी योग दे रही है। अंग्रेजी भाषा को जितनी अनुचित प्रतिष्ठा हिन्दीवालों ने दे रखी है उतनी किसी अन्य प्रान्तीय भाषाभाषियों ने नहीं। गांधी सेवा-संघ के मुखपत्र 'सर्वोदय' को भी यथेष्ट ग्राहक न मिल सके। काशी के 'स्वार्थ' जैसे अत्युपयोगी पत्र को भी शायद इसी कारण मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा था।

उद्योगशाला के काम की अत्यधिक जिम्मेवारी बढ़ जाने के कारण

'हरिजन सेवक' का सम्पादन-कार्य मेरे लिए अब भार रूप-सा बनता जा रहा था। गाधीजी को एक-दो बार मैंने अपनी बढती हुई कठिनाई के बारे मे लिखा भी था। तीनो पत्र एक ही स्थान से निकले इसमे उन्हे भी सुविधा थी। मेरा यह भी खयाल था कि स्थान-परिवर्तन से 'हरिजन-सेवक' के स्वास्थ्य में भी शायद कुछ सुधार हो जाये। निदान, तीनों पत्रो के प्रकाशन की व्यवस्था पहले पूना मे और फिर अहमदाबाद में हो गई। श्रीप्यारेलालजी के सम्पादकत्व में 'हरिजन सेवक' का नव प्रकाशन १४ सितम्बर, १९४० को पूना से हुआ। सिर पर से एक भारी जवाबदेही का भार हट जाने पर भी, दिल्ली से 'हरिजन-सेवक' के चले जाने की मन मे व्यथा तो हुई ही। साढे आठ वर्ष की ममता को अनासक्ति भाव से तोड देना मेरे लिए आसान नही था। गाधीजी ने एक पत्र मे आश्वासन देते हुए मुझे लिखा था —

"मैं तो चाहता था कि पत्र कहीं से भी निकले, सम्पादक की जगह नाम तुम्हारा ही जाये। पर तुमने यह स्वीकार नही किया। बिना जिम्मेदारी के सम्पादक रहने मे तुम नैतिक दोष मानते हो। तुम्हारे दृष्टिविन्दु को मैं समझता हू। मेरे नज़दीक उसकी कीमत भी है। तो फिर तुम्हे मुक्ति दे देता हूँ।

"तुम्हारी अति कोमल भाषा में भी तुम्हारा दु ख तो प्रकट होता ही है। लेकिन धर्म तो यही है कि तुम्हे अपनी कृति का वियोग सहन कर लेना चाहिए। तुमको अब हरिजन-सेवा में ज्यादा ध्यानावस्थित होने का मौका मिला है।"

: ३६ :

अस्पृश्यता अभी कहाँ दूर हुई ?

संघ में आकर मैंने अपनी जीवन-यात्रा का मार्ग प्रयत्नपूर्वक मोडा ऐसी बात नहीं है। मार्ग का मोडना यदि कहा हो जाये, तो वह मोड मुझे असहज-जैसी नहीं लगी। अस्पृश्यता-निवारण की मनोवृत्ति मेरी बहुत पहले से थी, जिसका उल्लेख मै अपने पन्ना-निवास के सस्मरणों में कर चुका हूँ। सघ मे मेरे उस अकुर को वढने की अनुकूलता मिली। जो असहज था—मेरा आशय कथित साहित्य-निर्माणसे है—वह अपने-आप छूट गया, और जो सहज था उसने समय आनेपर मुझे अपनी ओर खींच लिया। यह बिना किसी विशेष प्रयत्न के हुआ। ऐसा लगता है कि प्रयत्न-बल तो वहीं लगाना पडता है, जहाँ प्रयोजनों में अदर-अदर संघर्ष चलता है, वहीं जीवन का मार्ग बार-बार मोडना पडता है। वेतन का मापदड सामने रखकर यदि कोई सरकारी या गैरसरकारी कर्मचारी एक महकमे से दूसरे महकमे में चला जाता है, तो ऐसा करना न वह खुद बुरा समझता है और न दूसरे ही। लेकिन सेवा-क्षेत्र मे जो अमुक प्रयोजनों से प्रेरित होकर आते हैं, वे निश्चय ही आत्म-हित नहीं करते। उनका अतर सदा अतृप्त या अशान्त रहता है। राजनीति के क्षेत्र में

मनुष्य कितने ही मार्ग पलटता रहता है, कारण कि उसे हमेशा प्रयोजन-सिद्धि सताती रहती है। किन्तु जन-पूजा के क्षेत्र मे यह बात नही है।

हरिजन-सेवक-सघ से, सयोगवश, पार्थिव सबध कभी टूट भी जाये, तब भी सहज आत्म-संबध तो उससे मेरा सदा जुडा ही रहेगा। सघ की आत्मा से, अर्थात् अस्पृश्यता-निवारण के धर्म के साथ तब भी मेरा आत्म-सबध था, जब संघ की रचना भी नहीं हुई थी। झूठे-सच्चे वैष्णव सस्कार कही दबे पडे होंगे, उन्हींका परिणाम मैं अस्पृश्यता-निवारण की ओर अपने झुकाव को मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि एक वैष्णव अपने आपको ऊंच और दूसरों को नीच मान ही नही सकता। जिन लोगों ने इस आत्मशुद्धि की प्रवृत्ति का विरोध किया उन्हे मैने कभी वैष्णव नहीं माना। यही कारण है कि अस्पृश्यता-निवारण की प्रवृत्ति को न तो मैंने सामाजिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है, न राजनीतिक दृष्टि से। जो इस या उस दृष्टि से उसे देखते है उनके साथ मेरा कोई विवाद नहीं। उनकी दृष्टियाँ गलत है यह भी नही कहूँगा। पर हाँ, मेरी अपनी दृष्टि वैसी नही है। हिन्दूसमाज के ऊपर उठने या देश के स्वतन्त्र होने मे इस प्रवृत्ति से कुछ बल या वेग मिलेगा इस हेतु और इस विचार को मैंने कभी अपने मन मे स्थान ही नही दिया। किसी तरह हमारे समाज से यह 'महापाप' दूर हो, किसी तरह धर्म पर लगा हुआ यह 'महाकलक' धुल जाये—इतना ही मेरे लिए पर्याप्त था। राजनीतिक समझौतों की चर्चा मे रस और भाग लेना तो राजनेताओं का कार्य ठहरा। हरिजन सेवक सघ इसीलिए मुझे अधिक अनुकूल पड़ा कि ऐसे प्रश्नों या चर्चाओ से वह सदा अलग ही रहा है।

मगर अस्पृश्यता दूर करने की दिशा में स्वय मैंने क्या किया ? जिन मानव-प्राणियों को अज्ञान से या दुष्टता से 'अस्पृश्य' मान लिया गया है, उनकी कुछ सेवा भी प्रायश्चित्त-रूप से की या नहीं ? यह प्रश्न इन शब्दों में भी पूछा जा सकता है कि मैंने अपनी खुद की शुद्धि कहाँतक की है ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। अभी तो इतना ही कह सकता हूँ कि अस्पृश्यता दूर करने का विनम्र प्रयत्न मेरा जारी है, और उसमें शायद थोड़ी-सी सफलता भी मिली है। जहाँतक अस्पृश्यता का बाह्य रूप है, उसका अस्तित्व मेरे व्यवहार मे नहीं रहा। किसी भी भेद-सूचक नाम से मुझे घृणा होने लगी है—इस अर्थ से 'हरिजन' शब्द भी मुझे अब वैसा प्रिय नहीं रहा। किन्तु अस्पृश्यता का आतरिकरूप मेरे अतर से अब भी पूरा-पूरा नहीं निकल पाया। उसका वह रूप है, किसीके भी साथ किसी भी प्रकार का ऊँच-नीच का भेद-भाव मानना और बरतना। इस दुर्भावना के समूल नष्ट होने मे न जाने अभी कितना काल लग जायेगा। ऐसा लगता है कि वह मञ्जिल अभी दूर है, बहुत दूर है। सबको 'आत्मवत्' समझना बड़ा ही कठिन है। बल्कि अशक्य-सा है। मेरे अन्तराकाश में अभेद या अद्वैत की उस मगल उषा का उदय अभी कहाँ हुआ !

पन्ना में खुलकर अस्पृश्यता-निवारण के जिस कार्यक्रम पर अमल नहीं कर सका था, उसे व्यावहारिक रूप देने का यहाँ खूब मुक्त वातावरण मिला। सबके साथ बैठकर काम किया। कभी-कभी अपने पाखाने भी साफ़ किये। मुझे डर था कि मेरी बूढ़ी माँ हमारे सहभोजों में कदाचित् सहयोग न दें। मगर 'दलित के हाथ का पानी वे पीती थीं।

१९३५ तक उनके सामने एकसाथ खाने का ऐसा कोई अवसर भी नहीं आया था । मगर जब हमलोग अपनी नई बस्ती में, हरिजन-निवास में, आकर रहने लगे, तब मुझे खटका हुआ। अगर माँ शामिल न हुईं, तब मेरे लिए तो यह क्लेश और लज्जा की बात होगी। या तो मुझे उस स्थिति में माँ से अपना बाह्य सबंध तोडना पडेगा, या फिर मुझे ही हरिजन-निवास से हट जाना होगा । मेरे लिए यह प्रश्न धर्म-सकट का था। मैंने उनके ऊपर कभी कोई खास दवाव भी नहीं डाला था। मगर एक दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मैंने देखा कि हमारे बडे रसोडे मे सबके साथ वैठकर वे रोटी खा रही हैं। उस दिन मेरे एक मित्र ने अपने पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में हमारे विद्यार्थियों और कार्यकर्त्ताओं को प्रीति-भोज दिया था । देखकर मैं गद्‌गद होगया। मैं यह मानता हूँ कि मेरे प्रति उनका जो स्नेह था, मूलत उसीसे प्रेरित होकर मेरी माँ सहभोज में सम्मिलित हुई थीं। कुछ भी हो, उन्होने यह साहस का पग स्वयं ही उठाया था, और खुशी-खुशी। रूढ़िचुस्त ब्राह्मण-घर में जिनका सारा जीवन बीता-हो, उनके लिए सचमुच यह बडे साहस का काम था।

लेकिन मैं स्वय सूक्ष्मरूप के अर्थ में अस्पृश्यता का उन्मूलन कैसे करूँ ? गाधीजी कहते हैं कि यह तो शुद्ध सेवा द्वारा ही सभव है। कितु सेवा-धर्म को तीव्रता का मैं अबतक अनुभव नही कर पाया। दूसरे भले ही कहा करें कि मै सेवा-कार्य में सलग्न रहा, पर मैं अपने-आपको झूठ-मूठ भुलावे में क्यों डालूँ ? यदि मैंने सेवा-धर्म साधा होता तो उसका प्रत्यक्ष परिणाम आना ही चाहिए था——अर्थात् चित्त की

स्थिरता अथवा आध्यात्मिक जीवन की झाँकी। सो अभीतक तो ऐसा अमृतानुभव हुआ नहीं। ऐसा करने का मन तो बहुत होता है, पर कर नहीं पाता। सेवा और सेवक इन शब्दों के जो रूढ़ या प्रचलित अर्थ सुनने में आते हैं उनमें, मुझे लगता है, भूल हो रही है। जिस सेवा के द्वारा अहकार का क्षय न होकर उलटे उसकी वृद्धि होती हो, वह सेवा कैसी ? जो सेवा-साधना अर्थ-बल पर ही आधार रखती हो, वह सेवा भी भला कोई सेवा है ? ऐसी जन-सेवा के प्रति स्वभाव से मेरी अरुचि ही रही है। सेवा को पेशे के रूप में देखकर मुझे दु ख ही हुआ है। सुना था कि 'सेवाधर्म' तो योगियों के लिए भी अगम्य है। पर सेवा-धर्म का अनुसरण करनेवाले को फिर भी योगारूढ़ तो होना ही चाहिए। उसका जीवन यथासाध्य संयमी, असग्रही और तप शील होना चाहिए। निश्चय ही राजनीति के कोश में जन-सेवा का यह अर्थ नही किया गया है। पर हमें उस कोश को देखने की आवश्यकता नहीं।

नक़ली चीज़ आँख के सामने पडी है, जो बडी लुभावनी है, पर छूने को जी नहीं करता। और जो असली है वह इतनी ज्यादा ऊँचाई पर है कि वहाँतक हाथ नहीं पहुँचता ! तब प्रश्न उठता है कि हरिजन-निवास में सारे दिन जो दौड-धूप करता रहा वह सब फिर क्या थी ? वह और चाहे जो हो, पर सेवा कार्य तो निश्चय ही नहीं। उसे मन-बहलाव का ही साधन माना। आसक्ति के बढ़ जाने से प्रसन्नता भी होती और खिन्नता भी। अहकार के नित-नये अकुर भी फूटते रहते। पर गनीमत रही कि वे बहुत बढ़ने नहीं पाये। इतना तो ध्यान रहा है कि मैं अधिकाशत जो कुछ करता वह सेवा धर्म की साधना नहीं है,

क्योंकि उससे मेरी अंत.शुद्धि नही हो रही है । तथाकथित या पेशेवर जन सेवकों की अपेक्षा तो कुछ साधारण लोगों में सेवा की भावना कहीं अधिक देखने में आती है, और उसमें सच्चाई भी होती है। उनकी सेवा-भावना अपने सहज गुण 'शील' का त्याग नहीं करती। हृदय के ही अज्ञात कोने मे वह दबी पडी रहती है, कभी वह वाणी या लेख में प्रकट नही होती। अनासक्त भाव से वे प्यासे को पानी पिला देते हैं, भूखे को रोटी खिला देते है, रोगी की कुछ सेवा कर देते है और करके सहज ही भूल जाते हैं। उसका लेखा-जोखा नहीं रखते। उनका उसमे कोई हेतु भी नहीं रहता । किन्तु ऐसों की उपेक्षा और टीका भी की जाती है।

: ३७ :

हरिजन-निवास

हरिजन-सेवक-सघ को स्थापित हुए मुश्किल से एक साल हुआ होगा कि सघ के अध्यक्ष श्रीघनश्यामदासजी बिडला के मन में आया कि दिल्ली में क्यों न एक अच्छा-सा नि शुल्क हरिजन-छात्रावास स्थापित किया जाये। तब हमारे मन में उद्योग-शाला खोलने की कल्पना भी नहीं थी। तीन-चार स्थान हम लोगों ने जाकर देखे। अंत में पुरानी छावनी के पास, किंग्सवे सडक पर, ढका गाँव के ज़मीदारो की २१ एकड ज़मीन तीस हज़ार रुपये मे खरीद ली गई। ज़मीन की क़ीमत श्री-बिडलाजी ने चुकाई। यह सन १९३३ की बात है। जगह हमारे सद्-भाग्य से बडी सुन्दर मिल गई। शहर से तीन मील के फासले पर, पडोस मे ढका और दहीरपुर ये दो गाँव, जमना मुश्किल से दो मील, नगर का कहीं कोलाहल नहीं, बिल्कुल एकान्त। यह वही जगह है, जहाँ १९११ में सुप्रसिद्ध दिल्ली-दरबार हुआ था। किंग्सवे सडक बिल्कुल बेमरम्मत पडी थी। रात को अँधेरा रहता था। बिजली के खभे तो दो बरस बाद लगे। सामने छूत की बीमारियों का एक टूटा-फूटा अस्पताल था। तपेदिक का विशाल अस्पताल तो यह पीछे बना।

हमारे वहाँ जाते ही हमारी हमदर्द पुलिस ने डराना शुरू किया—"जगह आप लोगो ने यह बडी ख़राब चुनी है। यहाँ आप मकानात बनाने तो जा रहे हैं, पर ध्यान रखिए, इलाका यह खतरनाक है। यहाँ आस-पास कजड रहते है (हालाँकि कहीं एक भी कंजड नही था)। इस ज़मीन को खरीदकर आप लोगो ने ग़लती की। खबरदारी से रहिएगा।" लेकिन पुलिस की यह चेतावनी निमूर्ल साबित हुई। गाँववालो ने हमे कोई खास तकलीफ़ नहीं दी। शुरू-शुरू मे वे हमसे दूर अवश्य रहे, पर बाद को उन्होने हम लोगो से परहेज़ नहीं रखा। एक-दो घरों के साथ तो हमने खासा भाईचारा भी बढा लिया।

हरिजन-निवास के इस विस्तार की, इस विशाल रूप की तब हमारे मन मे कल्पना भी नहीं थी। आज तो यह दिल्ली मे एक अच्छा दर्शनीय स्थान बन गया है। सबसे पहले हमने गाधीजी के लिए बडी जल्दी मे—शायद बीस दिन के अन्दर—दो छोटे-छोटे कमरो का एक पक्का मकान खडा किया था। गाधीजी ने यहाँ आकर एक मास रहने की इच्छा प्रकट की थी। जमीन की ठीक तरह से सफ़ाई भी नहीं हो पाई थी। सारी जगह बीहड पडी थी। जहाँ-तहाँ झाड-झखाड खडे थे। गाधीजी की कुटियातक जाने का रास्ता भी तैयार न हो पाया था। फिर भी उनके उस एक मास के निवास ने इस निर्जन स्थान को जनाकीर्ण और आकर्षक बना दिया। साँझ की प्रार्थना मे हजारों की सख्या में लोग आते थे। सघ का दफ्तर अभी बिडला-मिल मे ही था। हम लोग सब्जीमडी मे, वही उसके आस-पास, रहते थे। गांधीजी के दर्शनार्थ हम लोग भी सबकी भाँति सवेरे या साँझ को यहाँ पहुँच जाते थे।

गाधीजी के निवास काल मे निश्चय हुआ कि सघ का दफ्तर जल्दी ही यहाँ लाया जाये, कार्यकर्त्ता भी सब यही पर रहें और छात्रावासो के साथ एक उद्योग-भवन भी खोला जाये। गाधीजी ने अपने हाथ से, २ जनवरी १९३५ को, हरिजन निवास की आधार-शिला रखते हुए अपने भाषण में कहा—"जिस स्थान पर मैं आज यह शिलारोपण कर रहा हूँ, ईश्वर करे, उसकी खूब उन्नति हो, और यह स्थान एक तीर्थ-क्षेत्र बन जाये।" बिडलाजी ने भी ऐसी ही इच्छा उस मगल अवसर पर प्रकट की। कहा—"हम चाहते है कि जिस तरह सूर्य से सब लोग प्रकाश पाते हैं, उसी तरह यह स्थान सारे भारत को अपना प्रकाश-दान दे।" देखे, यह बड़ी-बडी कामनाएँ कब पूरी होती है।

एक बरस के भीतर ही कई छोटे-बडे मकान मेरे मित्र आचार्य मलकानीजी की देख रेखमे तैयार होगये। १९३५ के अत में हम लोग अपनी इस नई बस्ती मे आकर बस गये। हमारे यहाँ आने के चार-पाँच महीने बाद छोटा-सा एक उद्योग-भवन और दो छात्रावास भी तैयार होगये। सात या आठ लडकों को लेकर आचार्य मलकानीजी ने १९३६ के मार्च मे उद्योग-भवन खोल दिया। पहले इस सस्था का नाम 'हरिजन इण्डस्ट्रियल होम' था, बाद को 'हरिजन उद्योगशाला' नाम रख दिया गया।

अंग्रेज़ी अखबारों मे इस स्थान का शुरू-शुरू मे 'हरिजन कालोनी' नाम निकल गया, और वह प्रसिद्धि भी पागया। गाधीजी ने 'हरिजन-निवास' नाम पसन्द किया और ताँगेवाले इसे 'गाधी-आश्रम' के नाम से पुकारने लगे। हरिजन-निवास का धीरे-धीरे काफी विस्तार

होने लगा है। उद्योगशाला, भोजनालय, नौ छात्रावास, अतिथि-भवन, संघ का प्रधान कार्यालय तथा कस्तूरबा-कुटीर तो हैं ही, पर दर्शकों की दृष्टि मे अधिक आकर्षक प्रार्थना-मंदिर और धर्मस्तम्भ हैं। प्रार्थना पहले खुले मैदान मे हुआ करती थी। हमारे मित्र श्रीव्रजकृष्ण चाँदीवाले ने अपनी पूज्य माता स्व० जानकीदेवी की पुण्यस्मृति में हरिजन-निवास की भूमि पर एक स्मारक बनाने की सदिच्छा प्रकट की। मेरी सलाह और गाधीजी के अनुमोदन पर उन्होंने प्रार्थना-मदिर का निर्माण कराया। शिलारोपण इस मदिर का गाधीजीने किया और उद्घाटन भी उन्हींके हाथ से हुआ। तब से इसी मंदिर में दोनों समय सामूहिक प्रार्थना होती है।

और, धर्मस्तम्भ श्री सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने बनवाया। बहुत दिनों से उनकी इच्छा थी कि हरिजन-निवास मे अशोक-स्तंभ की आकृति का एक ऊँचा पाषाण-स्तम्भ निर्माण कराया जाये और उसके ऊपर ऋषियों व महात्माओं की कुछ चुनी हुई सूक्तियाँ खुदवाई जायें। गाधीजी ने यह समझकर कि उनके नाम से यह स्तम्भ खड़ा किया जा रहा है, इस कल्पना को नापसन्द किया। पर हम लोग वास्तव में कोई 'गाधी-स्तभ' बनाने नही जारहे थे, यद्यपि जनसाधारण में अपने आप यह स्तभ 'गांधी की लाट' के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। स्तंभ यह लाल पत्थर का है। ऊँचा ६३ फुट है। कला की दृष्टि से, लोग मानते हैं, स्तभ सुन्दर है। शिखर की आधार-चौकी की पूर्व दिशा में चर्खा, उत्तर में कमल, पश्चिम में धर्मचक्र और दक्षिण मे गाय की मूर्त्ति अंकित की गई है। मूलस्थान पर, जो चौकोर है, अनेक धर्म-

सूक्तियाँ खुदी हुई हे। उपनिषदों के मत्र, गीता के श्लोक, बुद्ध भगवान् की सूक्तियाँ और गाधी सुवचन नीचे के चौकोर भागों पर, और खास स्तभ के कुछ ऊपर के भाग पर भी वेद मत्र, महाभारत के श्लोक तथा महावीर तीर्थङ्कर की वाणी को खुदवाया गया है। धर्म-स्तंभ का चबूतरा भी खासा सुन्दर है, जहाँ गर्मियों मे हमारी सामूहिक प्रार्थना हुआ करती है।

दो नये भवन और तैयार हो रहे हैं—एक तो 'विद्या-मन्दिर' और दूसरा "श्रीमहादेव देसाई-पुस्तकालय तथा सग्रहालय"

यह हुई हमारे हरिजन-निवास की बाह्य शोभा । मैं रह-रहकर यह सोचता रहा कि स्थान तो यह सचमुच खासा सुहावना बन गया है, किन्तु इसकी कुछ आतरिक शोभा भी है या नहीं ? गाधीजी ने अपने पदार्पण द्वारा इस स्थान को कई बार पुनीत किया, इस कारण भावुक भक्तो की दृष्टि में यह एक पुण्यस्थान हो सकता है। वर्ष में सात आठ मास प्रवास मे रहते हुए भी हमारे परिव्राजक बापा ने भी हरिजन-निवास को अपना 'निज घर' माना, इसलिए भी हम कार्यकर्त्ताओ के मन में इसके प्रति एक प्रकार का आकर्षण हो सकता है। उद्योगशाला की शोभा भी बाह्य ही है। किंतु हरिजन-निवास में ऐसा और क्या है, जिससे उसकी आन्तरिक शोभा भी प्रकट होती हो ? त्याग, तप या सेवा की थोडी-सी भी भावना और साधना हम कार्यकर्त्ताओ के अन्दर हो, तो इस सुन्दर स्थान की आतरिक आभा अपने आप प्रदीप्त हो उठे। हमारा रहन-सहन निश्चय ही लोक-सेवकों के जैसा नहीं बन पाया। हमारे अन्दर धर्म-शासन के प्रति

आदर की भावना नहीं आई। एक जगह बैठकर घडी-आध घड़ी हम कभी आत्म-चिन्तन या आत्म-निरीक्षण करते है ? नियमित रूप से हम प्रार्थनातक में तो सम्मिलित होते नही। हमारा काफ़ी समय व्यर्थ प्रमाद में चला जाता है। चित्त-वृत्तियो का झुकाव प्राय. लोभ और मोह की ओर रहता है। बँधे हुए दफ्तरी काम के अतिरिक्त शरीर से हम और क्या सेवा-कार्य करते है ? हमारा यह सारा जीवन-क्रम हमे शोभा देने-वाला नहीं है। मेरे सामने इस हरिजन-निवास के निवासियो की अन्त.-स्थिति का यह चित्र रहा। हमे अपनी इस स्थिति पर कभी ग्लानि भी नही हुई। उलटे, हम इस अहकार को आश्रय दिये बैठे रहे कि हम लोग एक महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य कर रहे हैं। तब केवल ईंट-पत्थरो से प्रकट होनेवाली शोभा किसी जनस्थान को शाश्वत सौन्दर्य कैसे प्रदान कर सकती है ?

गनीमत है कि हमने अपने इस स्थान को 'आश्रम' का नाम नहीं दिया। किन्तु 'हरिजन निवास' नाम भी कोई कम जिम्मेवारी का नहीं है। इस स्थान के निवासियो को हरिजन, अर्थात् भगवान् के जन या जनता-जनार्दन के सेवक बनने का प्रयत्न करना ही चाहिए। तभी यह स्थान अपनी आतरिक शोभा को,अपनी सच्ची सुन्दरता और सुगंध को प्रस्फुटित कर सकेगा।

: ३८ :

दिल्ली के ये नरक

दिल्ली की इस हरिजन-बस्ती को देखने के लिए लोग अक्सर एक दूसरी ही कल्पना लेकर आते थे। वे समझ लेते थे कि वहाँ फूस या टीन के छप्पर की चंद झोपड़ियाँ होंगी, और उनमें हरिजनों के कुछ गरीब कुटुम्ब रहते होंगे। पर यहाँ आकर वे अपनी कल्पना से बिल्कुल ही उल्टा पाते। इच्छा होते हुए भी हम यहाँ कच्चे घर न बना सके। यह जगह दिल्ली के सिविल लाइन के इलाके में आती है। यहाँ पर लागू होनेवाले नोटीफाइड एरिया के क़ायदे-क़ानून लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि नई दिल्ली के। इसलिए बाध्यत हमें यहाँ पक्के मकान बनाने पड़े, और कुछ इमारतें हमने खासी शानदार भी ,बना डालीं। हमारे ऐसा करने के पक्ष-विपक्ष में काफी दलीलें दी जासकती हैं। मगर हरिजन बस्ती का जो अर्थ आज लिया जाता है, उस अर्थ से सच की यह बस्ती कोसों दूर है। हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अछूत-बस्तियों की आज जो बहुत बुरी हालत देखने में आती है, भारत की राजधानी दिल्ली भी उससे अछूती नहीं है। यहाँ भी आपको वैसे ही अनेक वीभत्स दृश्य देखने को मिलेंगे।

बहुत कोशिश करने पर दिल्ली की शाही म्यूनिसिपैलिटी ने तीन-चार बस्तियो में कुछ थोडा सा सुधार कर दिया है, पर अधिकाश की हालत आज भी वैसी ही बदतर है, जैसी कि पंद्रह साल पहले थी। 'हरिजन-सेवक' के सपादन-कार्य से जो थोडा-बहुत अवकाश मिलता था, उसका उपयोग मैं अधिकतर दिल्ली की हरिजन-बस्तियाँ देखने में करता था। मुझे लगा कि मनुष्य को ऊपर से देखकर ही हम उसके सुन्दर रूप की कल्पना कर लिया करते है। कौन देखता है कि उसके शरीर के भीतर क्या-क्या भरा पडा है। भीतर के भाग को झाँककर देखें तो शायद हम अपनी आँख और नाक बद करले, ऊपर का उसका सारा रूप सौन्दर्य हमारी आँखो से ओझल होजाये। पर यह नही भूलना चाहिए कि उसका बाह्य सौन्दर्य भीतर के कुदरूप यन्त्रों पर ही निर्भर करता है। इसी तरह दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई-जैसे शहरो के भडकीले भागो को ही हम देखते है, वहाँ की नरकतुल्य बस्तियो पर हमारा कभी ध्यान भी नही जाता, जिनपर इन शाही शहरो का सारा स्वास्थ्य, अर्थात् सौन्दर्य निर्भर करता है।

दिल्ली की जिन बस्तियो के सस्मरण मैं नीचे देरहा हूँ, उनका वह रूप आज देखने में नही आरहा, जो पद्रह साल पहले मैंने देखा था।

सबसे पहले श्रद्धानन्द-बाज़ार की नई बस्ती को लेता हूँ। यह छोटी-सी बस्ती शहर के एक समृद्ध भाग के ठीक बीच मे है। १९३३ के साल मे दिल्ली मे बडे ज़ोर की बारिश हुई थी। पचासो कच्चे घर बह गये थे। आफ़त तो वैसे सभी ग़रीबो पर आई थी, पर मेहतरो

का तो बहुत बुरा हाल था। औरों को फिर भी खड़े होने को तो जगह मिल गई थी, पर मेहतरों को तो किसीने अपनी छत के नीचे खड़ा भी नही होने दिया था।

नई बस्ती का बुरा हाल था। छोटी-छोटी कोठरियों मे एक-एक, डेढ-डेढ़ फुट पानी भरा हुआ था। छतों से धार लग रही थी। पानी निकलने को कहीं जगह नही, और फर्श बिल्कुल कच्चा। कोठरियों के आगे बरामदा भी नहीं कि जहाँ वे अपना सामान तो उठाकर रख लेते। वहाँ पानी मे पड़ा सब भीग रहा था। मैला उठाते, मोरियाँ साफ़ करते और कचरा ढोते-ढोते दिन तो यों मूसलाधार वर्षा मे किसी तरह गुज़ार दिया, पर रात कैसे काटे? कहाँ तो बेचारे अपना खाना पकायें, कहाँ खाये-पिये, और कहाँ सोये?

उनकी छोटी-छोटी कोठरियाँ सार्वजनिक पाखाने के पास बनी हुई थीं। मैंने देखा कि बमपुलिस और कोठरियों के बीच के रास्ते पर एक जगह उन्होंने दो टुटली चारपाइयाँ खडी कर रखीं थीं। ऊपर उनके फटा कबल और कुछ चीथडे डाल लिये थे। एक बूढा जमादार और आठ-दस बच्चे सर्दी से काँपते हुए उसीके नीचे सिकुडे बैठे थे। खाना उनका उसी 'खाटघर' मे पकाया गया था। सामने बमपुलिस की बदबू, और कोठरियों के अन्दर से पानी और मिट्टी की सड़ायँद। कपडे-लत्ते सारे भीगे पडे थे, तिल रखने को भी कही जगह नही थी।

दूसरे दिन ठक्कर बापा को भी ले जाकर मैंने यह बस्ती दिखाई। उन्होंने म्यूनिसिपालिटी पर पूरा ज़ोर डाला, तब कहीं कमेटीवालों ने पाँच सात बस्तियाँ खुद जाकर देखीं। उनकी दर्दनाक हालत को देखकर

कमेटी का दिल कुछ पसीजा। फलत तात्कालिक सुधार के लिए उसने बडी उदारता से शायद दो हज़ार रुपये की मंजूरी दी और उस रुपये से तीन-चार बस्तियों की मामूली सी मरम्मत करादी गई। हमने कहा— खैर, खाली समुन्दर मे एक बूँद पडी तो! बाद को इस बस्ती को नये सिरे से बना दिया गया।

'सुईवाला' बस्ती जबतक नहीं देखी थी, तबतक मैं नई बस्ती को ही दिल्ली शहर की सबसे गन्दी बस्ती समझता था। 'सुईवाला' को देखकर तो मैं दग रह गया। इस बस्ती का तब यह चित्र था.—

एक छोटे-से अहाते के अन्दर दस कोठरियाँ, और उनके सामने मोहल्ले की आम टट्टियाँ बनी हुई थीं। कोठरियाँ ये कमेटी की थी। इनमे सब मिलाकर ४५ मानव-प्राणी रहते थे। छतें पक्की थीं, पर बरसात मे जगह-जगह से पानी टपकता था। दीवारें बिल्कुल जीर्ण हो चुकी थी। कोठरियों की बहुत ही बुरी दशा थी। ठीक सामने बमपुलिस, मैले की बाल्टियाँ हमेशा भरी और खुली हुई। बाल्टियाँ खींचने के छेद कोठरियो के बिल्कुल सामने, मुश्किल से १५ फुट के फासले पर। पेशाब और पाखाने का गदा पानी दूसरी तरफ की कोठरियों के आगे से बहता था। उसी छोटे-से अहाते में, कोठरियों के बिल्कुल पास, 'डलाव' था, जहाँ कचरे की तीन-चार गाडियाँ रखी रहती थी। कचरा जलाते भी उसी जगह पर थे। धुएँ से बस्तीवालों का दम हरघडी घुटता रहता था।

मैं जब इस बस्ती को देखने गया, तब कुछ स्त्रियाँ बमपुलिस के सामने बैठी रोटी खा रही थीं। ठिठककर मैं वहीं खडा हो गया, पूछ-

ताछ करने की हिम्मत न हुई। मुझे देखकर एक बुढ़िया हँस पड़ी, और थाली को आगे से सरकाती हुई बोली—

"क्या खड़े-खड़े देखते हो बाबूजी ? मेहतरों की ही जाति ऐसी सूर-वीर है, जो बरसों से इस नरक में रह रही है। हमारी नाक के आगे मैला बदबू मार रहा है, और हम लोग चार कदम के फासले पर रोटी खा रहे हैं। है कोई ऐसी सूर-वीर जाति ?"

बस्ती देखने को आया है, तो बगैर एक-दो प्रश्न पूछे वापस जाना ठीक नहीं लगा। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारे बच्चे माई, कहीं किसी मदरसे में पढ़ने जाते हैं ?" एक बहन ने बड़े तपाक से जवाब दिया—"जो आते यही पूछते आते हैं। कोई बच्चों के पढ़ने की बात पूछता है, तो कोई कर्ज़े की बात। आते हैं और पूछ-ताछकर चले जाते हैं। करते कराते कोई कुछ नहीं। अजी, कुछ कर सको तो सबसे पहले हमें इस नरक कुंड से निकालो न, पीछे पढ़ने लिखने की बात करना।"

बुढ़िया का कहना बिलकुल सच था। हमारी रोज-रोज की यह कोरी पूछ-ताछ उनके किस काम की, अगर हम उनके लिए तुरन्त कुछ करा नहीं सकते ? अन्धे को तो आँखें चाहिएँ। मुझे लगा कि मैंने ऐसा व्यर्थ का प्रश्न पूछकर सचमुच भूल की।

इन्हीं दिनों ठक्कर बापा के साथ अजमेरी दरवाजे की बस्ती देखने का संयोग हुआ। पुरानी दिल्ली से नई दिल्ली में प्रवेश करने का प्रमुख राजद्वार यही दरवाजा है। इस बस्ती की जो हालत तब थी, वही लगभग आज भी है। इसे दो बार गांधीजी भी देख आये हैं— एक बार तो १९३५ में और दूसरी बार, ग्यारह वर्ष बाद, १९४६ में।

बरसों से सुनते आ रहे कि यह नरक जैसी बस्ती यहाँ से उठा दी जायेगी, पर हुआ कुछ भी नहीं।

—

इस बस्ती का चित्र आज भी मेरी आँखों मे वैसे-का-वैसा झूल रहा है। वह यह है। अजमेरी दरवाजे की बाईं ओर, शहर-पनाह के नीचे और गन्दे नाले के ऊपर, मेहतरों की यह बस्ती बसी है। बस्ती की एक ओर बमपुलिस और वहीं डलाव भी, जहाँ पाँच-छह गाड़ियाँ मैले से भरी हमेशा खड़ी रहती हैं। कचरा यहाँ पड़ा सड़ता रहता है। गंदा नाला कोई छह फुट गहरा है। गन्दे नाले का साफ़ किया हुआ कीचड़ उसी जगह पड़ा रहता है, जबतक कि वह धूप मे सूख नही जाता, या बरसात का पानी बहा नहीं ले जाता। किनारे पर कोई ऊँची आड़ न होने से बच्चे कभी कभी नाले मे गिर जाते हैं, एक तो उसमे गिरकर मर भी गया था। दुर्गन्ध के मारे खड़ा होना भी वहाँ मुश्किल है।

अगस्त ४६ तक इस बस्ती मे तब ४० परिवार रहते थे। बाद को तो काफी जन संख्या बढ़ गई, और गन्दे नाले की दूसरी तरफ़ भी कई कच्ची झोपड़ियाँ डाल दी गईं। ये महतर सभी दिल्ली म्यूनिसिपालिटी के मुलाज़िम हैं। पर केवल ८ परिवारों को कमेटी ने रहने को कोठरियाँ दी हैं। ये १० फुट चौड़ी और १५ फुट लंबी हैं। आगे ६ फुट का बरामदा। शहरपनाह की पुरानी दीवार के सहारे बरसात का पानी कोठरियों मे भर जाता। बाकी झोपड़ियाँ इन लोगों ने खुद खड़ी करली। छतें टीन के टुकड़ों, टाट के चीथड़ों और सिरकियों से छाली हैं। इन लोगों को उन दिनों पीने के पानी का बड़ा कसाला था। बाद को एक नलका लगा दिया गया। पानी तब सड़क के एक क़त्लगाह से लाया करते

थे। जब वह खुला होता, तभी पानी वहाँ मिल सकता था, वरना नहीं। जानवरों के खेल से या पास के गन्दे तालाब से भी, जो अब पाट दिया गया है, ये लोग पानी लाते थे। रोशनी का कुछ भी इन्तज़ाम नहीं था। एक मैली-सी लालटेन बसपुलिस के अन्दर टिमटिमाया करती थी, उसीका कुछ प्रकाश रास्ते पर पड़ जाता था।

मेहतरों के गरूजी (गुरूजी) साधु गोपालदास यहाँ पर एक झोपड़ा डालकर रहा करते थे। उनके प्रभाव से बस्ती के कई लोगों ने शराब पीना बिलकुल छोड़ दिया था। रात्रि-पाठशाला भी कई महीनेतक कालेज के कुछ विद्यार्थियों ने यहाँ चलाई थी, पर जगह का ठीक इन्तजाम न होने के कारण उनका उत्साह मंद पड़ गया, और वह पाठशाला बन्द होगई।

नीचे बस्ती हरफूलसिंह का वर्णन देकर इस नरक-प्रकरण को समाप्त करता हूं।

लार्ड इर्विन ने इस बस्ती को देखकर 'डेथट्रैप' (मौत का फंदा) कहा था। गांधीजी भी इसे देखकर बहुत व्यथित हुए थे। यह बस्ती अब वहाँ से उठा दी गई है। आज तो उस जगह आलीशान इमारतें देखने में आती हैं। वहाँ के पहले के निवासियों को अब अन्यत्र अच्छी जगह पर बसा दिया गया है।

उन दिनों, याने १९३४ में, बस्ती हरफूलसिंह की बहुत बुरी हालत थी। लगभग पाँच हज़ार की आबादी थी। ज़मीन का मालिक तो एक जाट था, पर मकान बस्तीवालों के अपने थे। उन्हें ज़मीन का किराया हर साल भरना पड़ता था। म्युनिसिपालिटी हाउस टैक्स वसूल

करती थी, और ज़मीदार साहब अपनी ज़मीन का भाड़ा। पर यह मोहल्ला दिल्ली का घोर नरक था। छोटी-छोटी ऊँची-नीची यहाँ बीसियो गदी गलियाँ थी। नालियों का कही नाम भी नहीं था, कचरा और मल-मूत्र घरो के सामने पड़ा सड़ा करता था। एक-एक फुट गहरा कोलतार के जैसा काला-काला मल मूत्र-मिश्रित गादा पानी ऐसी बदबू मारता था कि जी मिचलाने लगता था। रात को उन गदी गलियों से गुजरना मुश्किल हो जाता था। कमेटी की तरफ से बस्ती मे रोशनी का कुछ भी इन्तज़ाम नही था।

एक दिन हम लोगो ने 'मातृ-मन्दिर' की बहनो के साथ जाकर इस बस्ती के एक हिस्से की सफ़ाई की। स्व० सत्यवतीदेवी तथा दूसरी बहनों ने एक गली का मल मूत्र और गदा पानी तसलों मे भर-भरकर फेंका। इससे म्यूनिसिपालिटी कुछ-कुछ कुलमुलाई। फलत दूसरे दिन कमेटी ने अपने कुछ मेहतरो को बस्ती की सफ़ाई करने के लिए वहाँ भेजा। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, अब वह बस्ती स्थानान्तरित करदी गई है। भारत की राजधानी दिल्ली के माथे पर लगी हुई कलक की कम-से-कम एक रेख तो पुँछ गई।

: ३९ :

कलकत्ते के वीभत्स दृश्य

मैं यह लिख चुका हूँ कि 'हरिजन-सेवक' घाटे पर चलता था, और ग्राहक-संख्या बढ़ाने की मुझे हमेशा चिन्ता रहती थी। ग्राहक बनाने के लिए एक-एक मास का अवकाश निकालकर मैं दो बार बाहर गया था। इस सिलसिले में मध्यप्रान्त और मध्यभारत के कुछ शहरों तथा कलकत्ते की हरिजन-बस्तियाँ देखने का अच्छा अवसर मिला था। एक पन्थ दो काज हो जाते थे। सबसे खराब बस्तियाँ बड़े-बड़े शहरों में ही मेरे देखने में आई थीं। छोटे शहरों व क़स्बों की नई बस्तियाँ फिर भी अपेक्षाकृत अच्छी और साफ़-सुथरी थीं। कलकत्ते की बस्तियों की तो कोई तुलना ही नहीं। हरिजन-उत्थान-समिति के परिश्रमी कार्यकर्त्ता नृसिंहदासजी के साथ मैंने कलकत्ते की कोई १५ बस्तियाँ सन् १९३४ में देखी थीं। वहाँ की हालत को देखकर एक बार पत्थर भी पसीज उठता, पर कलकत्ता-कारपोरेशन पर कुछ भी असर न पड़ा। सचमुच कलकत्ते के नागरिकों के लिए, वहाँ के शाही कारपोरेशन के लिए और बंगाल-सरकार के लिए भी यह बड़ी शर्म की बात है। हमारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय हरिजन-सेवक-संघ भी कुछ न करा सका।

शुरू-शुरू मे संघ के कुछ प्रतिष्ठित सदस्य 'सेवा-भाव' से एक-दो बार बस्तियों का सिर्फ चक्कर लगा आये थे। बाद को शायद ही वे वहाँ कभी गये हो। ये लोग अपनी-अपनी मोटरो पर बस्तियो का निरीक्षण करने गये थे। एक डोम ने हमे बतलाया कि उन बडे-बडे बाबू लोगो ने तो ठीक तरह से बात भी नही की थी, जबतक खडे रहे, नाक पर से रूमाल नहीं हटाया।

हाजरा डिपो, बीबी बागान और मेहदी बागान इन बस्तियों का ही वर्णन मैं यहाँ दूँगा।

हाजरा डिपो की बस्ती कारपोरेशन की अपनी बस्ती है। इसमें मेहतर, डोम और हाडी रहते हैं। कारपोरेशन ने अपने आदमियो के लिए कृपाकर हाजरा डिपो मे छोटी-छोटी कच्ची कोठरियाँ बनवा दी थीं। मुश्किल से एक कोठरी मे दो आदमियों के लिए जगह थी, पर मैंने एक-एक कोठरी मे पाँच-पाँच, छह-छह आदमियो को रहते हुए देखा। चार आने फी आदमी ज़मीन-भाडा वसूल किया जाता था। बस्ती से बिलकुल सटा हुआ डलाव था, जहाँ सारे दिन मैले की गाडियो का जमघट लगा रहता था, और उसी जगह बमपुलिस भी थी। नालियों मे भी मैंने गन्दा सडा पानी ठिला हुआ देखा। कुछ झोपडियाँ ऐसी भी देखीं, जिनपर छप्पर भी नहीं था। छप्पर की जगह टाट के चीथडे और कनस्तरों के टुकडे डाल रखे थे।

बीबी बागान की बस्ती को तो साक्षात् 'नरक-धाम' कहना चाहिए। बारहो मास वहाँ गन्दा पानी भरा रहता। और घर क्या, कनस्तर की टीन के छप्पर और टाट के चीथडो से मढी हुई बाँस की दीवारें।

बड़ा वीभत्स दृश्य था वह मलेरिया का खास अड्डा।

पर जब मेहदी बागान की बस्ती जाकर देखी, तो मेरे आश्चर्य और व्यथा का पार न रहा। यह मोहल्ला तो रौरव था। दो-दो कतारों में तीन तरफ यह बस्ती बसी हुई थी। दोनो कतारो के बीच केवल ४ फुट का फासला था। एक कोठरी को मैंने नापा तो वह ८ फुट लम्बी और ७ फुट चौड़ी निकली। और किराया ५) माहवार। खाना लोग उसी सँकड़ी गन्दी गल्ली में पकाते थे, पर बरसात के दिनो मे तो उन्हे उस काल-कोठरी मे ही गुज़र करनी पड़ती थी। बस्ती के नजदीक मैदान भी नहीं था कि जहाँ बेचारे बैसाख-जेठ की दमघोट ऊमस मे खटिया डालकर तो सो जाते।

मेरे मित्र नृसिंहदासजी उसी दिन दो-तीन बस्तियाँ और दिखाना चाहते थे, पर देखने को तबीयत नहीं हुई। हम दोनो वहाँ से वापस लौट आये। उन सब दृश्यों को देखकर मन मे भारी वेदना हुई। सोचने लगा—यह सब क्या है? धन-कुबेरो की इस अलकापुरी मे ये घोर नारकीय जन-स्थान! एक ओर तो बड़ा बाजार और धर्मतल्ला, और दूसरी ओर ये वीभत्स बस्तियाँ! जिस कारपोरेशन की करोड़ों की आय हो, क्या वह दस-बीस लाख रुपया भी इन नरक-जैसी बस्तियों पर खर्च नहीं कर सकता? पर जाने दो कारपोरेशन को, उसे तो अपने रोज़मर्रा के आपसी लड़ाई-झगड़ों से ही फुर्सत नहीं—सैकड़ों लखपती और बीसियों करोड़पति कहाँ चले गये, जो अविवेकपूर्ण दान-पुण्य पर हर साल लाखों रुपया पानी की तरह बहा देते हैं? फिर यह कोई दान की भी बात नहीं। जितना रुपया नई बस्तियों के बसाने पर

लगायेंगे, वह धीरे-धीरे सब-का-सब वसूल हो जायेगा। ऐसे-ऐसे नरक-स्थानों के रहते नई-नई धर्मशालाएँ, नये-नये मन्दिर और नये-नये बाग बगीचे बनवाना क्या महामूर्खता और मानवता के प्रति घोर निर्दयता और कृतघ्नता नहीं है ?

उस दिन न जाने ऐसे कितने विचार मन में आये। सारे दिन बेचैनी-सी रही। रात को देरतक आँख नहीं लगी। वे वीभत्स दृश्य रह-रहकर आँखों के सामने आ जाते थे। बिस्तर पर से उठ बैठा, और अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के कुछ कागज पत्र उलटने लगा। पानी के कष्ट की कितनी ही रिपोर्टें पढ़ डालीं, जिससे तबीयत और भी बिगड़ी। पानी के देश खुद बंगाल की भी क्या दशा है, यह जानकर तो और भी अधिक मनोव्यथा हुई।

खादी-प्रतिष्ठान के कर्मठ संचालक श्री सतीश बाबू ने दूसरे दिन मुझे बताया—'कहने को तो हमारा यह प्रान्त नदियों और तालाबों का प्रदेश है, पर गर्मियों में तो यहाँ भी धूल उड़ती है। पानी का अकाल कहीं कहीं पर तो माघ के महीने से ही शुरू हो जाता है। और पीने का अच्छा पानी तो चौमासे में भी ठीक तरह से नहीं मिलता। बाढ़ें आती हैं, और खेतों व सड़कों को डुबो देती हैं। पानी पूरे जोश के साथ आया, और खेलता-कूदता चला गया। जल की यह प्रचुरता—वह भी ग़रीबों के हक में दुःखदायी—थोड़े दिनों ही रहती है। धीरे-धीरे बाढ़ों का पानी सूखने लगता है। दो-तीन महीनेतक गंदे पानी के पोखरे भरे रहते हैं। पर फर्वरी से लेकर अप्रैलतक तो बड़ी ही बुरी हालत रहती है। हमारे देहातों में पानी का काफ़ी कष्ट रहता है।

"घरों के नीचे छोटे बडे हर आकार के आप जो खड्ड देखते है, उनसे किसी तरह काम चलता रहता है। ये खड्ड भी क्या है—मेढकों के घर, सडे-गले पत्तों और कचरे के आश्रय-स्थान! हरा हरा सडा पानी, दुर्गन्ध और गदगी, मनुष्य भी वहाँ नहाते-धोते हैं, और वहीं जानवर भी। कीडे पड जाते है, बदबू आती है, फिर भी लोग वहीं का गेंदला पानी ला-लाकर पीते है! गर्मियों में ये 'डोबा' भी सूख जाते है। तब बडे आदमियों के तालाबों से पानी लेने लोग मीलों जाते है। पर वहाँ भी पानी गंदा ही मिलता है। जानवरों की तो और भी दुर्गति होती है। पानी न मिलने से कितने ही पशु बिना मौत के मर जाते है। पेचिश और हैजे का भी बगाल मे इन दिनों खूब प्रकोप रहता है।"

"सुना है कि आपने कुछ गांवों में पानी के सबध मे जाँच कराई है। जल-कष्ट आप वहाँ किस तरह दूर करेंगे?" मैने पूछा।

"पानी की 'सर्वे' करने के लिए हम लोग गाँवो मे जाते है, तो लोग यह आशा बाँध लेते है कि उनका जल कष्ट बस, अब दूर होने ही वाला है! उनकी यह आशा कैसे पूरी हो? बगाल के ज़िला-बोर्ड लगभग सात लाख रुपया सालाना पानी पर खर्च करते हैं, पर हालत जैसी थी, आज भी प्राय वैसी ही है। यह सारा रुपया मध्यम वर्ग के हलकों और मोहल्लो पर खर्च होता है। बोर्डों में गरीबों की सुध लेनेवाले कहाँ हैं? उनका जल-कष्ट जैसा था वैसा ही बना हुआ है। प्रश्न यह एक-दो गाँवों का नहीं, हज़ारों गाँवो का है।"

दोपहर को खादी-प्रतिष्ठान से वापस आया। नृसिंहदासजी का आग्रह था कि कलकत्ते की कम-से-कम दो बस्तियाँ और देखलूँ। पर मेरी

हिम्मत न पडी। हाजरा डिपो के एक डोम के ये शब्द अबतक मेरे कानो में गूँज रहे थे—"आप लोग करते-धरते तो कुछ है नही, रोज़-रोज़ हमे देखने आ जाते हैं। क्या हमारी बस्ती कोई अजायबघर है ? आखिर आप लोग यहाँ क्या देखने आते है ?"

कलकत्ते मे मुझे अब कुछ नहीं देखना था। केवल स्व० पूर्णचन्द्र नाहर का संग्रहालय देखना था, जो दूर-दूरतक प्रसिद्ध था। उन्हे मैं वचन दे चुका था। पुरातत्त्व के शोधको के काम की इस सग्रहालय मे काफी सामग्री थी। प्राचीन-से-प्राचीन प्रस्तर और धातु की मूर्तियो, सिक्को, चित्रो और हस्तलिखित तथा अप्राप्य मुद्रित पुस्तकों का यह बडा सुन्दर संग्रहागार था। तीन घटेतक नाहरजीने मुझे अपने सग्रहालय की एक-एक चीज़ बडे प्रेम से दिखाई। सूक्ष्मता से यदि कुछ देखता, तब तो शायद वहां कई दिन लग जाते। मैने तो सब विहगमदृष्टि से ही देखा।

एक चीज़ इस सग्रहालय में मैने बडे काम की देखी। वह 'इण्डियन माइक्राकाज्म' था। सन् १८२८ मे मद्रास के जे० गॅज एण्ड सन् ने इसे प्रकाशित किया था। इसमें कुछ तो बडे ही सुन्दर चित्र थे। चित्रों मे रग हाथ से भरे गये थे। कई सुन्दर चित्र देखने के बाद मेरी दृष्टि पनिहारिनो के एक चित्र पर पडी। यह २० नम्बर का प्लेट था। चित्र बडा मनोमोहक था। उसमे एकग्राम का दृश्य दिखाया गया था—सम्पन्न सवर्ण स्त्रियो के हाथो में पीतल और ताँबे के घडे थे, और ग़रीब दरिद्र स्त्रियो के हाथों में मिट्टी के। कोई तो पानी खींच रही थी, और कोई भरकर ले जा रही थी। एक ही पनघट पर सवर्ण और अवर्ण पनि-

हारिनें पानी भर रही थीं।

आज से ११७ वर्ष पूर्व जल में स्पर्श-दोष नहीं लगता था। सब जलाशय तब सब के लिए एकसमान खुले हुए थे। उसी मद्रास में, तालाबों और कुओं पर अछूतों की छाया पड़ना भी पाप समझा जाने लगा। नाहरजी ने चित्र दिखाते हुए कहा--"सौ बरस पहले महात्मा गाधी मद्रास के गाँवों में तो कहने गये नहीं थे कि ब्राह्मणों और शूद्रों को एक ही कुएँ पर पानी भरना चाहिए।"

इस भव्य चित्र को देखकर मेरा अन्तर्दाह कुछ-कुछ शान्त हुआ। पर आज यह हालत है कि गर्मियों में अछूतों को कुओं पर घंटों कड़ी धूप में खड़ा रहना पड़ता है। कोई दयावान् आ गया, और उसने उनके घड़ों में दूर से पानी डाल दिया तो ठीक, नहीं तो बेचारे घंटों धूप में खड़े झुलसा करें।

यह दृश्य उस धर्मप्राण देश का है, जहाँ चींटियों को आटा और शक्कर चुनाते हैं, मछलियों को आटे की गोलियाँ खिलाते हैं, पर मनुष्यों को प्यासा मारते हैं। गर्मियों में प्याऊ रखाते हैं, तो वहाँ भी अछूतों के साथ भेद-भाव बरता जाता है, टीन की गन्दी टोंटी से उन्हें पानी पिलाया जाता है।

मगर जो पाप के घड़ों को भरने में ही दिन-रात लगे हुए हैं, उनके मन पर हमारी इस टीका का कोई असर होनेवाला नहीं। वे मानते ही नहीं कि उनके हाथ से कोई निर्दयता का काम हो रहा है। इन्दौर से एक श्री-सम्पन्न सनातनी सज्जन ने मुझे एक पत्र में लिखा था—"कौन मूर्ख हम सनातनियों को 'कठोर हृदय' कहता है? हमारे ऊपर

तुम सुधारकों की ओर से प्राय: यह आरोप किया जाता है कि हम लोग अछूतों को प्यासों मारते हैं। यह सोलहों आने असत्य है। मैं स्वयं त्रिकाल सन्ध्या करता हूँ। संध्या करते समय तुम्हारे उन अछूतों को ही नहीं, जीवमात्र को जलांजलि देता हूँ।"

कैसा अद्भुत तर्क है! इसे मस्तिष्क-विकार ही कहना चाहिए न!

: ४० :

नरक के साथ स्वर्ग-दर्शन भी !

ये बस्तियाँ, जो इतनी गन्दी और कुरूप जहाँ-तहाँ देखने में आती हैं, इसमें दोष किसका है ? बहुधा ग़रीब अछूतों को ही दोषी ठहराया जाता है। कहा जाता है कि उनके गन्दे रहन-सहन का ही यह कुपरिणाम है। ऐसा कहना तो जलाकर नमक छिड़कना हुआ। अस्वच्छता उनकी या किसीकी भी जन्म-जात नहीं हुआ करती। कोई तो अपने प्रमाद या उपेक्षा के कारण अस्वच्छ बन जाता है, और कोई अमुक परिस्थितियों से। इन ग़रीब जातियों को निर्दयतापूर्वक ऐसी परिस्थितियों में फेंक दिया गया है कि जिनमें रहकर मनुष्य इससे बेहतर रहन-सहन रख नहीं सकता। सारा दोष तो समाज के उस तल का है, जो अपने आपको आज बड़े दर्प और निर्लज्जता से ऊँचा मान रहा है।

दिल्ली और कलकत्ते की जिन नरकोपम बस्तियों का मैंने पिछले प्रकरणों में वर्णन किया है, उनकी अस्वच्छता और बीभत्सता की जिम्मेदारी वहाँ के सभ्य कहलानेवाले नागरिकों पर आती है। दलित-जनों को उन छापधारी सभ्यों की अपेक्षा यदि आधी भी सुविधाएँ मिलें, तो वे उनसे भी अधिक स्वच्छता और भद्रता से रह सकते हैं। अपने उन

प्रवासो मे मैंने ऐसी भी कई बस्तियाँ देखीं, जहाँ पर्याप्त सुविधाएँ न होते हुए भी लोगो के घर कहीं अधिक स्वच्छ और सुन्दर मिले। साथ ही, उनसे कही गन्दे घर कितने ही सवर्णों के देखने मे आये। नीचे मैं ऐसी ही कुछ साफ़-सुथरी बस्तियों का वर्णन करूँगा।

खडवा से कोई १२ मील दूर पंधाना नाम का एक क़स्बा है। आबादी इसकी तब चारेक हज़ार की थी। वहाँ की मेहतरों की बस्ती देखकर मुझे बडा आनन्द हुआ था। घर सारे ही साफ़-सुथरे थे। गली भी स्वच्छ थी। ये लोग मारवाड के रहनेवाले थे। ग्राम-कमेटी से इन्हे ६) मासिक वेतन मिलता था। उनमे एक भी ऐसा नहीं था, जिसे मुर्दारमास खाने या दारू पीने का व्यसन हो। कोई बीडीतक नही पीता था। सभी सत्सगी थे। तानपूरे पर उनके भक्ति-भावपूर्ण भजन सुनकर इतना आनन्द आया कि कह नही सकता।

रायपुर जिले का गनियारी गाँव भी मुझे सदा याद रहेगा। रायपुर से यह २२ मील दूर है। सघ के मन्त्री श्रीखूबचन्द बघेल मुझे वहाँ की हरिजन-पाठशाला दिखाने ले गये थे। अधिकाश लडके सतनामियो के थे। सतनामी अब सन्तमार्गी हैं। ये लोग न शराब पीते हैं, न मास खाते हैं। खूब स्वच्छता से रहते हैं। गाँव की एक-एक गली, एक एक आँगन स्वच्छ मिला। कूडे-कचरे का कहीं नाम नहीं था। पीली मिट्टी से पुती कच्ची दीवारें और हरे-हरे गोबर से लिपे आंगन व चौतरे देख कर चित्त हरा होगया। एक सतनामी भाई का घर इतना साफ़-सुथरा था कि वहाँ से हटने को जी नही करता था।

झाँसी जिले के ताजबेहट गाँव की मेहतर-बस्ती की, स्वच्छता की

दृष्टि से, मैं आदर्श बस्ती कहूंगा। बुन्देलखण्ड का कुछ भाग इतना दरिद्र है कि उसकी तुलना कुछ अंशों में उड़ीसा से ही हो सकती है। पर यह प्रदेश इतना अधिक पिछड़ा हुआ है कि इसकी भयंकर दरिद्रता का बाहर किसीको पता भी नहीं। किन्तु इस अभाव में भी यहाँ की ग़रीब प्रजा ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। मेहतरों की स्वच्छ झोंपड़ियों को देखकर मैं पुलकित होगया। आदर्श स्वच्छता थी। दिवाली की सफाई भी छोटे-छोटे घरों के आगे फीकी लगती थी। छुई मिट्टी और गोबर से पुते-लिपे घर-आँगन में कूड़े-कचरे का कहीं नाम नहीं, छप्परों में मकड़जालातक नहीं। सब चौका लगाकर रसोई बनाते और नहा-धोकर रोटी खाते हैं।

इतनी स्वच्छता, पर पीने के पानी का उन्हें भी कष्ट था। पानी तालाब से लाकर पीते थे। एक कुआँ यत्न करने पर खुल तो गया था, पर जब मेहतरोंने उसपर पानी भरना शुरू किया, तो चमारों ने उस कुएँ से पानी भरना बन्द कर दिया, और मेहतरों को रोज डराने-धमकाने भी लगे। बस्ती चमारों की भी साफ़ थी, पर उतनी साफ़ नहीं, जितनी मेहतरों की।

हरदा, ज़िला होशंगाबाद, की भी बस्तियाँ स्वच्छ और सुन्दर मिलीं। घर, आँगन और गलियाँ खूब साफ़ और रहन सहन भी अच्छा, स्वच्छ और व्यवस्थित। अपने हरिजन-प्रवास में यहाँ की सुव्यवस्था को देखकर गांधीजी ने भी कहा था—"यहाँ की बस्तियों की व्यवस्था देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है।"

सांबा दादा

किन्तु परम स्वच्छता व पवित्रता, जो एक हरिजन-सेवी साधु पुरुष के घर में—उसके मिट्टी के घर में, और उसके अन्तर के घर मे भी—देखी, वैसी अन्यत्र कहीं भी देखने मे नहीं आई। बिलासपुर का एक मधुर संस्मरण नीचे दे रहा हूँ।

बिलासपुर मे थोडी ही दूर अरपा नदी के उस पार सरकडा गाँव में एक जन-सेवी साधु के दर्शन से मैने अपने को दोनों ही बार कृतार्थ किया था। उनका नाम सांबा था। पहले वह कोआपरेटिव बैंक के ऑडीटर थे। उन दिनो सरकार से उन्हे पेशन मिलती थी। पूर्वज मूल-निवासी आन्ध्र के थे। पर सैकडों बरसों से छत्तीसगढ में रहते हुए ये लोग अपनी मातृभाषा तेलुगु बिल्कुल भूल गये हैं।

अरपा नदी का सारा घाट, अठारह-बीस वर्ष पहले, बडा गदा रहता था। लोग चाहे जहाँ टट्टी फिर जाते थे। शिवालय के सामनेतक की यही दशा थी। लोगो को कितना ही समझाया, पर कोई माना नही। सांबा ने एक नवयुवक को साथ लेकर, १९३४ में खुद सफाई करने का काम आरभ कर दिया। सैकडों आदमियो का पाखाना उठाना, कूडा-कचरा फेकना, और घाट का झाडना-बुहारना उनका नित्यकर्म हो गया। सरकंडा में कोई बमपुलिस तो था नहीं, इसलिए टट्टी लोग मैदान में ही जाते थे। सांबा ने वहाँ छोटे-छोटे गड्ढे खोदना शुरू किया। जो लोग सवेरे-सॉझ पाखाना फिरने जाते उनसे विनयपूर्वक कहते कि "गड्ढे मे ही कृपाकर आप टट्टी फिरें और बाद को उस गड्ढे को मिट्टी से ढकदें।" उनके साथ जब मैं नदी का घाट देखने गया, तब-

मुझे ऐसे पचासों गड्ढे उन्होंने दिखाये । फिर भी कुछ लोग गड्ढों को छोड़कर इधर-उधर ही टट्टी कर दिया करते थे । किन्तु बाबा दादा थकने या हताश होनेवाले जीव नहीं थे । उनका काम तो वैसा का वैसा ही जारी रहा । मैंने उनके इस सेवा कार्य की सराहना की, तो बड़े सरल भाव से कहने लगे—"इसमें ऐसी स्तुति की क्या बात है—मैं ठठरा-बुड्ढा आदमी, बैठे-बैठे रोटी पचेगी नहीं, इसलिए साँझ सवेरे साधारण-सा मेहनत का काम कर लेता हूँ, इससे थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है।"

उनके साथ जाकर सरकंडा की बस्ती और पाठशाला देखी । बस्ती की गलियाँ खूब साफ़ थीं, घर और आँगन सब स्वच्छ थे । यहाँ भी बाबा रोज़ झाड़ू देते थे । नित्य एक मित्र के घर पर 'रामधुन' कराया करते, जिसमें मोहल्ले के बहुत से लोग शामिल हो जाते थे ।

दूसरी बार जब मैं बिलासपुर गया, उनकी शुद्ध ग्राम्य मनोवृत्ति ने मुझे और भी मोहित कर लिया । स्वच्छ ओसारे में एक ओर धान दलने की लकड़ी की चक्की, एक ओर घानी, आँगन में गाय, और घर के पिछवाड़े नीबू-सन्तरों के कुछ झाड़ और साग-सब्जी की हरी हरी क्यारियाँ देखकर बड़ा आनन्द आया । बाबा दादा ने हमें ग्राम-उद्योग की एक एक चीज़ बड़े प्रेम से दिखाई । सोयाबीन की चाय और मूँग-फली के खल के लड्डुओं से हमारा आतिथ्य भी उन्होंने किया । उन दिनों वह सोयाबीन का दलिया, टमाटर और दही या इमली का पना लेते थे । स्वास्थ्य उनका मैंने खासा अच्छा पाया ।

सवेरे तीन बजे उठकर गीता के अठारहों अध्यायों का पाठ करते,

दो मील की दौड लगाते और दो मील घूमते थे। उसके बाद गाँव की सफ़ाई करते, नित्य आधा सेर अनाज पीसते और अपने पाखाने का विधिपूर्वक खाद बनाते थे।

साबा दादा को मैंने दीन-दुखियों का सच्चा सेवक पाया। गांधीजी के 'मंगल प्रभात' का पाठ करते हुए प्रेम विह्वल हो जाते थे। पाठ करते हुए एक-एक व्रत को अपने जीवन में उतारने का निरन्तर प्रयत्न किया। मुझे वहाँ मालूम हुआ कि अपनी स्वल्प आय का दसवाँ भाग वह हरिजनो के प्रीत्यर्थ प्रति मास देते है, जिसमे चार आने तो आटे की पिसाई के और डेढ़ रुपया वर्तन माँजने के भी शामिल थे। पहले एक मजूरिन वर्तन साफ करती थी। अब सांबा की पत्नी स्वयं माँजती थीं, और वह डेढ़ रुपया वे धर्म-कोष मे जमा कर देते थे। 'पानी-फंड' में भी उन्होने अपनी बचत में से २५) दिये थे। एक बार एक दलित भाई को साबा ने गोदान भी बडे श्रद्धा-भाव से दिया था। श्रीसांबा-जैसे मूकसेवकों की ही सेवा तथा साधना से हमारी इस धर्म-प्रवृत्ति को थोड़ा-बहुत बल मिला है, इसमे सन्देह नहीं। ऐसे निस्पृह निश्छल लोक-सेवक बिरले ही कही देखने मे आते है—

"लालों को नहिं बोरियाँ,
साधु न चले जमात।"

: ४१ :

गढ़वाल मे चार दिन

१६३६ के मई में पूज्य बापा के साथ गढ़वाल जाने का अवसर मिला था। गढवाल की यह मेरी पहली ही यात्रा थी। चार-पाँच दिन के कार्यक्रम मे गढवाल के निचले हिस्से के ही कोई पाँच सात स्थान हम देख सके। नीचे-ऊपर पूरा गढवाल देखने में तो हमारे कई सप्ताह लग जाते। पहाडी प्रदेश, चढाव-उतार के अटपटे मार्ग, सवारी इत्यादि का कोई ठीक साधन नहीं—ऐसी हालत में और इतने थोडे समय मे इससे अधिक स्थानों में जाना सभव न था। दोगड्डा, ढोटियाल, डाडा मडी और दुँडेख देखकर ही हमें सतोष करना पडा।

गढ़वाल मे 'बिट' और 'डूम' इन दो वर्गो के लोग रहते है। 'बिट' या द्विजवर्ग में ब्राह्मण और राजपूत, और 'डूम' या शिल्पकार वर्ग मे यहाँ सारी ही दलित जातियाँ ली जाती हैं। 'शिल्पकार' यह इनका आधुनिक नाम है। सरकारी काग़ज़-पत्रों में भी अब यह नाम चढा लिया गया है। जिन शिल्पकारों का आर्यसमाज के अन्दर सस्कार होचुका है वे अपने को अब 'आर्य' कहते हैं। पर पौने आठ लाख की जन-सख्या में आर्य डेढ़-दो हज़ार से ऊपर नहीं हैं।

शिल्पकारो के यज्ञोपवीत धारण करने पर यहाँ के सवर्ण हिन्दू बहुत चिढते है। पर सबसे विकट प्रश्न तो गढ़वाल मे 'डाला पालकी' का है, जो बारबार प्रयत्न करने पर भी अबतक पूरी तरह हल नहीं होसका है।

बिट शिल्पकार के हाथ का पानी नहीं पीता, जहाँ पानी रखा होता है, वहाँ उसे आने नही देता, एक घाट पर उसे पानी नहीं भरने देता, और न शिल्पकार के वर-बधू को डोला-पालकी पर चढने देता है। एक और विचित्र बात है, वह यह कि छूत यहां गीले कपडे की मानते हैं, सूखे की नहीं।

भयकर गरीबी है। गढवाल में गरीब दूसरी जातियाँ भी हैं, पर शिल्पकारों की दशा सबसे बुरी है। पहाड में न कोई धधा है, न रोज़-गार। खेती में भी कोई तत नहीं। मामूली मेहनत-मजूरी करके किसी तरह पेट भरते हैं। यह बात नही कि वे उद्योगी नही है, पर असल मे वहाँ कोई उद्योग ही नही। पेट का सवाल सचमुच वहाँ बडा भयकर है। 'भूखे भगति न होइ गोपाल' की मसल सामने आगई जब बौंठ गाँव मे हमारे इस प्रश्न के उत्तर में कि—"सनातन धर्म तुम्हारे लिए अच्छा है या आर्यसमाज ?" एक शिल्पकार ने कहा—"जिसमे पेट-भर रोटी मिले वही धर्म या समाज अच्छा है और वही हमें तारनेवाला है।" दूसरा भाई बोला— 'भूखे रहकर जनेऊ पहनने से हम परमपद थोडे ही पा जायेंगे !" मुझे लगा कि माना, रोटी ही धर्म नहीं है, पर भूखों के आगे, जिसका पेट भरा हुआ हो उसे धर्म की व्याख्या करने का कोई अधिकार नहीं।

गढ़वाल के इन शिल्पकारों को पीने का पानी भी सुख से नसीब नहीं होता। ढोंटियाल महादेव के मेले मे हमें मालूम हुआ कि कड़ी धूप में शिल्पकारों को पानी की प्रतीक्षा में दो-दो घण्टे झरनो पर खड़ा रहना पडता है। पानी के इस कष्ट का डाडामडी में हमें भी प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। हम लोगो को डूम समझकर वहाँ के चिटों ने हमे घड़ा नहीं भरने दिया था। हमने देखा कि उनके हृदय पहाड़ के पत्थरों की तरह कठोर है, हिम के समान शुभ्र और झरनों के समान उदार नहीं।

देहात के गरीब शिल्पकारो को अन्धविश्वास ने भी अपना शिकार बना रखा है। पलायन ढोंटियाल में वहाँ के एक सज्जन ने अन्ध विश्वास की हमें एक दु खद कहानी सुनाई। एक शिल्पकार स्त्री शिवजी के मन्दिर में, उसके लड़के पर विपत्ति पड़ने पर, दर्शन करने चली गई थी। उसकी इस बे-अदबी पर भगवान रुद्र का तीसरा नेत्र खुल गया। स्वप्न में पुजारी को डाँटते हुए कहा—"देख, मेरा मदिर उस डूम स्त्री ने भ्रष्ट कर दिया है। मेरे लिए तू उससे बकरे की बलि माँग और रुद्री का पाठ मन्दिर में करा, नहीं तो उस डूम-परिवार का जड़मूल से नाश कर दूँगा।" भगवान् की आज्ञा भला कौन टाल सकता था? बकरा काटा गया, और पडितों ने रुद्री-पाठ भी मन्दिर मे यथाविधान किया। इस प्रायश्चित्त-विधान पर उस ग़रीब शिल्पकार स्त्री के तेरह-चौदह रुपये खर्च हो गये। भगवान् शकर भी बकरे या भैंस की बलि लेते हैं, यह नई बात तो मैने उस दिन पलायन ढोंटियाल मे ही सुनी।

पर इससे यह न समझा जाये कि सभी सवर्ण ऐसे ही थे। नहीं,

६ बजे की गाड़ी से उसी दिन ठक्कर बापा को लाहौर रवाना हो जाना था। इसलिए हम एक बजे के लगभग नजीबाबाद की बस्तियाँ देखने के लिए स्टेशन से चल पड़े।

नजीबाबाद ज़िला बिजनौर का खासा बड़ा कस्बा है। जन-संख्या २० हज़ार से ऊपर है। *बस्तियाँ यहाँ मुख्य तीन हैं--मुकरबा, रामपुरा और जाब्तागंज। मुकरबा और रामपुरा में भंगियों की आबादी अधिक* है और जाब्तागंज में जाटवों की। जाटव सब-के-सब शहर में मजूरी करते थे। दिनभर के काम के उन दिनों उन्हें दो आने मिलते थे। ज़मींदारों के ज़ुल्म से बड़े दुखी थे। कोई उनका दुःख सुननेवाला नहीं था। एक बूढ़े चमार ने अपने शरीर का काला चमड़ा दिखाते हुए रोष के सुर में बापा से कहा—"यह देखो, हमारा रंग काले धुएँ के जैसा होगया है। हमारा खूनतक जल-जलकर काला पड़ गया है। लाली तो आप बड़े आदमियों के बदन पर दीखती है। हमें तो भरपेट कभी सूखी रोटी भी नसीब नहीं हुई। कभी-न-कभी हम ज़रूर इन ज़ुल्मों का बदला लेंगे।"

बूढ़ा पढ़ा-लिखा तो एक अक्षर नहीं था, पर बातें ऐसी समझ और पते की करता था कि वहाँ से उठने को जी नहीं चाहता था। उसने लंबी आह खींचते हुए कहा, "वहाँ से तो सब एकसमान ही आये हैं। यह ऊँच नीच का भेद-भाव तो आप लोगों ने सब यहीं बना लिया है। शरीर चीरो तो खून ही निकलेगा। तुम्हारे उजले शरीर में दूध तो निकलेगा नहीं?" मुझे लगा, यह तो इस बूढ़े के मुँह से कबीर साहब के शब्द निकल रहे हैं—

'हम कत लोहू, तुम कत दूध ?
तुम कत बाह्मण, हम कत सूद ?'

पर अत मे वह कुछ निराशा और कुछ खीझ के सुर मे बोला--"पर कोई लाख जतन करे, हम पनप नहीं सकते । बडे पेड के नीचे कहीं छोटा पेड पनप सकता है ?"

फिर भी यह लोग अभी एकदम निराश नहीं हुए । उन्हे अब भी अंतर के सच्चे सुख का कुछ-कुछ स्वाद मिल रहा है । बूढ़े को जवाब देते हुए एक नवयुवक ने खडे होकर कहा--"पर हमारे इन तीन सुखो को कौन छीन सकता है, दादा ? कुदरत की हमे साफ हवा मिलती है, चाहे जैसा खाना हजम होजाता है, कडी मशक्कत के बाद मीठी नीद आती है। है इन बडे आदमियो के नसीब में यह सुख ?" बापा उसकी यह सूक्ति सुनकर मुग्ध होगये । मैंने भी मन मे कहा--"यह है सच्चा साहित्य। सच है, अमर साहित्य का निर्माण इन झोपडो मे और इन हाड-पिजरो के ही अंदर से होता है। इनके मुँह से वेदान्त और साम्य-वाद के जो उद्‌गार निकले हैं यह इनकी आत्मा के सहज शब्द हैं, और यही सच्चा साहित्य है।"

: ४२ :

उड़ीसा की पैदल यात्रा

ऐसी यात्राओं का यह अन्तिम प्रकरण है। १९३४ में गांधीजी ने उडीसा की जो पैदलयात्रा की थी, उसमें सात या आठ दिन उनके साथ रहकर मैंने भी थोडा-सा पुण्यार्जन किया था। यात्री-दल में सम्मिलित होने की मैंने पहले से लिखित आज्ञा मँगाली थी। वे सुन्दर सात दिन मेरे जीवन में सदा स्मरण रहेंगे। भद्रक से विदा होकर जिस दिन कलकत्ता वापस आया, उस दिन ऐसा लगा कि क्या अच्छा होता यदि इस ऐतिहासिक पुण्य प्रवास में बापूजी के साथ दस पाँच दिन और रह लेता। उत्कल के मित्रों की वह मडली छोडी नहीं जाती थी। दरिद्र उत्कल गांधी महात्मा को अपने आँगन में पाकर अपना सारा अभाव भूल गया था। जहाँ-जहाँ हम गये, सर्वत्र उत्सव का ही मगलमय दृश्य देखने में आया।

रात को कोई नौ बजे मैं इन्दुपुर ग्राम में पहुँचा था। उस रात गांधीजी का पड़ाव अगेचीपुर में था। इन्दुपुर से यह स्थान ९ मील दूर था। रास्ता अच्छा नहीं था। चन्द्रोदय होने में अभी कुछ देर थी। मगर भाग्य से एक लालटेन मिल गई। अगेचीपुर का मार्ग दिखाने के

लिए एक आदमी भी साथ ले लिया। मेरी इतनी मदद इन्दुपुर के अध्यापक श्रीकृष्णचन्द्र दास ने की थी। इन्दुपुर से गाधीजी उसी शाम को गये थे। वह ग्राम-अध्यापक गांधीजी की पैदल यात्रा का वर्णन बड़े प्रेम से टूटी फूटी हिन्दी में सुनाने लगा—"हमारे इन्दुपुर में आज भारी उत्सव था। हमारे इस गाँव मे हजारो आदमी महात्मा का दर्शन करने आया था। हम उत्कल का लोग कृतार्थ होगया। सत्य मानो, चैतन्य महाप्रभु का अवतार है गाधी महात्मा। बोलता है—'ऊँच-नीच का भेद-भाव भूल जाओ।' यही उपदेश तो हमारे महाप्रभु ने किया था। बडा जबर्दस्त है गाधी महात्मा।" "जबर्दस्त कैसा ?" मैने पूछा। "अरे, जबर्दस्त नहीं तो क्या ! हम उडीसा का लोग 'राधे गोविन्द, राधे गोविन्द' बोलता है। परन्तु इस महात्मा ने हम लोगो से प्रार्थना में 'पतित पावन सीताराम' बोलवाया," कहते हुए अध्यापक कृष्णचन्द्र दास भक्ति-विह्वल होगये।

उत्कल में सचमुच ही मानो चैतन्य-युग उतर आया था। उत्कल की भक्ति विह्वला ग्राम नारियाँ गांधीजी का स्वागत 'ऊलु' ध्वनि से करती थीं। वारी गाँव मे मृदग-मंजीर के साथ 'हरे कृष्ण, हरे राम' की धुन मैंने सुनी तो गोप बाबू से पूछा कि 'यहाँ किसी मन्दिर मे आज उत्सव है क्या ?' उन्होने कहा—'यह तो हमारा नित्य का मंगल-उत्सव है। बापू का स्वागत करने के लिए हमारे हरिजन भाई ग्रामों से कीर्तन करते हुए आरहे हैं।' कीर्तन-मडली का अनुपम उल्लास देखकर प्रेमाश्रु भर आये। नवद्वीप और वृन्दावन का दिव्य दृश्य सामने आगया। बीच-बीच मे शखध्वनि से आकाश गूँज उठता था।

अटीरा ग्राम के एक वृद्ध ब्राह्मण का भी भक्ति-भाव देखने ही योग्य था। सभा के बाद की बात है। लोगो की भीड छट गई थी। गाधीजी शायद आराम कर रहे थे। इतने में एक ब्राह्मण चन्दन और तुलसी-पत्र लेकर पहुँचा, और गाधीजी के पास जाने की जिद करने लगा। बहुत समझाया, पर माना नही। वहीं अडकर बैठ गया। उसका प्रेमाग्रह सुनकर गाधीजी ने उसे अपने पास बुला लिया। काम तो उसे कुछ था नही। गाधीजी के माथे पर सारा चन्दन पोत दिया और तुलसी-पत्र देकर लगा स्तोत्र पाठ करने। स्तोत्र समाप्त होने को नहीं आरहे थे। नेत्रो से उसके अश्रुधारा बहने लगी। बाहर निकला तब कण्ठ गद्गद था। उसे वहाँ ऐसी कौन सी निधि मिली होगी ?

२ जून की रात को बारिश आगई। पडाव हमारा उस दिन एक छोटे-से गाँव मे था। डेरा हमारा एक छप्पर के नीचे डाला गया था। पर सबका वहाँ, उस छोटी कोठरी मे, सोना कठिन था। इसलिए जहाँ जिसे जगह मिली, बगल मे अपना बिस्तरा दबाकर रैन बसेरा लेने चल दिया। एक गरीब किसान के घर मे मैं और मलकानीजी हम दो आदमी सोये। घर तो छोटा सा था, पर मन उस किसान का बड़ा था। हमारे लिए उसने एक चटाई लाकर डाल दी। सिरहाने ठडा पानी रख दिया, और बडे प्रेम से बात करने लगा। बोला—"मै जाति का ब्राह्मण हूँ, पर छूतछात नही मानता हूँ। गाधी महात्मा धर्म की बात बोलता है। अस्पृश्यता पाप है, यह मै समझ गया हूँ। हमारा धन्य भाग्य, जो गाधी महात्मा हमारे गाँव मे आज विश्रान्ति ले रहा है। मेरे बच्चे जब बडे होगे, तब लोगो को सुनाया करेंगे कि हमारे गाँव

में एक रात्रि महात्मा गांधी ने विश्राम किया था।"

उत्कल-वासियों की भक्ति-भावना के ऐसे अनेक प्रसंग हैं। गांधीजी को इस पैदल यात्रा में खूब शान्ति मिली थी। इस यात्रा के उपयुक्त भूमि भी गोप बाबू ने तैयार करदी थी। गोप बाबू, उनकी पत्नी श्रीरमादेवी एवं आचार्य हरिहरदास की सेवा-परायणता इस यात्रा मे तथा गाधी-सेवा-सघ के डेलाँगवाले सम्मेलन के अवसर पर मुझे समीप से देखने को मिली। गोप बाबू को मैंने सच्चे अर्थ में वैष्णव पाया। गोप बाबू को देखकर कौन कह सकता था कि यह मज़दूर-जैसा अधनगा उडिया किसी जमाने मे कटक का डिप्टी कलेक्टर था। गोप बाबू का नाम उत्कल का बच्चा-बच्चा जानता है। कमर में मोटी खादी लपेटे, नगे पैर, सफेद थैला लटकाये उत्कल के इस महान् लोक-सेवक को देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। स्वभाव मे सरलता, चाल में गम्भीरता और कार्य मे तत्परता उनकी देखते ही बनती थी। वैसे ही गोप बाबू का हिन्दी-प्रेम भी सराहनीय। तुलसीदास की विनय-पत्रिका पर बडा ही प्रेम। अपने पुत्र-पुत्रियों को भी उन्होंने हिन्दी का प्रेमी बनाया। और उनकी पत्नी रमादेवी भी साक्षात् रमादेवी। उत्कल से विदा होते समय गाधोजो ने रमादेवी की इन सुन्दर शब्दों मे स्तुति की थी—"रमादेवी के सेवा-कार्य पर तो मै मुग्ध होगया हूँ। मैंने इस बहन के किसी भी काम मे कृत्रिमता नहीं देखी। कष्ट-सहन की महिमा यह अच्छी तरह जानती है। इसकी सादगी तो एक अनुकरण करने की वस्तु है। भारत की हज़ारो बहिनों से मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, मैंने उनका सेवा-कार्य भी देखा है। पर रमादेवी जिस

सहज सेवा-भावना से काम करती है वह अपूर्व है।"

इसमें सन्देह नहीं कि गाधीजी की इस ऐतिहासिक पैदल यात्रा का उत्कल की भक्ति-भावुक जनता पर आशातीत प्रभाव पड़ा था। गरीब-से-गरीब उडिया ने हरिजन-कार्य के लिए पैसा भी दिया था। श्री-घनश्यामदास बिड़ला ने अपने ससमरणों मे ठीक ही लिखा है—'प्रार्थना में हज़ारों मनुष्य आते हैं, और बडे जतन से तावे के टुकडे, पैसे, अधेले, पाई गाधीजी के चरणो में रख जाते हैं। 'भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी' पर उडिया भूखा है, तो भी गाधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनेवाले नर ककाल का धोती की सात गाँठों में से सावधानीपूर्वक एक पैसा निकालकर गाधीजी के चरणों मे रख देने का दृश्य सचमुच ही रुलानेवाला होता है।"

फिर भी जगन्नाथजी के वज्र कपाट न खुले, हरिजनों के लिए बन्द ही रहे। जिस उत्कल प्रान्त को प्रेमावतार चैतन्य महाप्रभु ने अपने श्रीचरणों की रज से पवित्र किया हो उसको क्या यह मूढ़ग्राह शोभा देता है ?

तुडगा गाँव से गाधीजी एक ही मजिल में १२ मील तय करके सीधे भद्रक पहुँचे। यात्रा का यह अन्तिम मुकाम था। उस दिन वे बडी तेज चाल से चले थे। उन्हे पकडने के लिए साथवालों को कहीं-कहीं उनके पीछे-पीछे दौडना पडा था। घनश्यामदासजी ने, जो गाधी-जी से आध घटे बाद मोटर से पहुँचे थे, कहा कि—"जब मैंने इतनी फुरती के साथ गाधीजी को १२ मील की मजिल तय करते देखा, तो मन-ही-मन मिन्नत की कि, भगवान् हमारे भले के लिए गाधीजी को

लम्बी उम्र दे। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही एक अद्भुत चीज़ है।"

तुडगा मे अपनी शेष यात्रा को गाधीजी ने योही नहीं छोड दिया था। वर्षा आनेवाली है इसकी हमे प्रकृति बार-बार चेतावनी देरही थी। बुद्दाघात में रात को बडी मुसीबत का सामना करना पडता, मगर गोप बाबू ने मेह आने से आध घटे पहले बचाव का कुछ प्रबंध कर लिया था। हम लोगों को प्राय: खुले आकाश के तले सोना पडता था। दूसरी रात को भी बारिश आई। ग़नीमत थी कि उस रात हमारा पडाव एक बस्ती मे पड़ा हुआ था। पक्की सडकों पर चलने मे कोई वाधा नहीं थी, पर अधिक वर्षा होने के बाद गाँवों की कच्ची सडको पर सामान से लदी बैल-गाडियों का चलना मुश्किल होजाता। तुड़गा गाँव की सडक तो खास तौर से खराब थी। बारिश उस दिन बन्द न होती, तो तुडगा से हमारा आगे जाना कठिन हो जाता। सबसे समीप भद्रक ही एक ऐसी जगह थी, जहाँ एक दो दिन हम मेह-पानी की आफत से वचकर टिक सकते थे। इसलिए बीच में बिना कहीं रुके, सीधे, भद्रक जाना ही निश्चय हुआ। तुडगा से भद्रक के 'गरदपुर-आश्रम' तक जाने में ठीक साढे तीन घटे लगे।

गरदपुर मे हमारा तीन दिन पडाव रहा। यहाँ उड़ीसा के हरिजन-सेवको तथा बाढ-निवारण समिति एव चर्खा सघ के कार्यकर्त्ताओं को गांधीजी ने काफ़ी समय दिया। इस आश्रम को स्व० जीवराम भाई चलाते थे। श्री जीवराम कल्याणजी कच्छ के रहनेवाले थे। यह लखपति व्यापारी थे। लाखों रुपये छोड़कर सेवक बने थे। कुष्ठियों

की सेवा-शुश्रूषा करते हुए ही अन्त में अपने आपको इन्होंने उत्सर्ग किया।

जीवराम सच्चे जन-सेवक थे। मोटा अँगोछा लपेटे, नंगे बदन, हाथ में झाड़ू लिये ही हमने जीवराम भाई को वहाँ हर घड़ी देखा। आश्रम की सफ़ाई और व्यवस्था नमूने की थी। समझ में नहीं आरहा था कि, जीवराम भाई कब तो खाते हैं और कब सोते हैं। रात को दो-ढाई बजे मैं उठा तो देखता हूँ कि जीवराम भाई एक बड़े गड्ढे में टट्टियों की बाल्टियों का मैला उँडेल रहे हैं और साथ-साथ गीता का पाठ भी चल रहा है। हम लोग जब सोते थे, तब यह महापुरुष रात को अकेले ही डेढ़ सौ आदमियों का पाखाना साफ़ करता था।

'धन-धन जननी तेनी रे।'

तीन बजेतक पाखाना साफ किया, फिर सूत काता, इतने में प्रार्थना का समय आगया। एक मिनिट को भी आँख बन्द नहीं की। सारे दिन और सारी रात काम ही-काम। जीवराम भाई तब फिर सोते कब थे? कबीर की यह कड़ी याद आगई—

'आशिक होकर सोना क्या रे?'

: ४३ :

स्मरणीय प्रसंग

इस प्रकरण में कुछ ऐसे मधुर एवं पुनीत प्रसंगों का उल्लेख करूँगा, जो सचमुच चिरस्मरणीय है। 'हरिजन-सेवक' के सिलसिले मे, १९३५ और १९३६ में, मैने जो यात्राएँ की थीं, नीचे के ये सुन्दर प्रसंग उन्हीमे घटित हुए थे।

फरवरी, १९३५। रात की एक्सप्रेस से मैं दिल्ली से झाँसी जा रहा था। गाड़ियों में तब तीसरे दरजे में भी काफ़ी जगह रहती थी। ग्वालियर से गाड़ी छूट गई थी। कोई पाँच का समय था। पौ फटती आ रही थी, फिर भी कुछ अँधेरा-सा था। जिस डिब्बे मे मै बैठा था, उसमे सामने की बेंच पर दमे से पीड़ित एक अधेड़ मुसलमान ने चार-खाने का फटा-सा तौलिया बिछाकर नमाज़ पढ़ी, और फिर करुणाभरी धुन मे रामायण की चौपाइयाँ गाने लगा। साथ-साथ अर्थ भी कहता जाता था। कभी 'या इलाही', कभी 'अय राम' उसकी दर्दभरी आवाज़ से निकल रहा था। जब उसने प्रभाती की धुन मे 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' मीरां का यह भजन गाया, तो प्रेम से विह्वल हो गया। फिर पागल की तरह बकझक करने लगा। हमारे

साथ के मुसाफिर कुछ तो उसकी ओर आश्चर्य से देख रहे थे और कुछ जोर से हँस रहे थे। पर वह मस्त मौला बग़ैर किसीकी पर्वा किये अपने कुमार्गी मन को खूब गालियाँ सुना रहा था–'बदमाश, धोखेबाज कहीं का! जहर का घडा लेकर मिलने चला है उस गिरधर गोपाल से! शरम भी नहीं आती शैतान के बच्चे को!'

मन हुआ कि क्यों न इससे कुछ बात करें। उठकर मैं उसके पास उसी बेंच पर बैठ गया। टीन का टोंटीदार लोटा, रामायण का फटा-पुराना गुटका, एक लकडी और कबल, बस यही उसका सारा सामान था। पाँच-सात मिनिट मुनौअर खा (यही उसका नाम था) से मेरी जो बात हुई उसका संक्षिप्त सार यह है —

'मालिक का गुनहगार हू जनम-जनम का। रामजी के रहम का ही अब आसरा है। वह बडा रहीम है। भैयाजी, बुन्देलखड का एक गरीब मुसल्मान हूं। एक रियासत से ६) माहवार मिलते हैं, उसीमे आपकी गिरस्ती चलती ह। घर में गऊमाता पाल रखी है। उसकी सेवा करता ह्, और आपके बाल-गोपाल उसका दूध पीते हैं। गोश्त से दिली नफ़रत है। सूखी-रूखी रोटी खाकर तो इस शैतान शोहदे मन का यह हाल है, पुलाव कबाब इस हरामी को मिलने लग जाये, तो न जाने यह क्या करे! चाकरी से जो वक्त बचता है, उसे मालिक की याद में लगाने का जतन करता रहता हू। तिवारी बाबा से रामायन का अर्थ पूछ लेता हूं। उन्हे मैं अपने बाप के मानिन्द मानता हूँ। भैयाजी, मैं हिन्दू और मुसल्मान मे कोई भेद नहीं करता। मैने देखा है कि प्रेम ही इस दुनिया में सार है, और सब असार है।"

उस अज्ञात मुसल्मान साधु का दर्शन कर मैंने अपने को कृत-कृत्य माना। बरबस मुनौअर खां से विदा लेनी पडी। झाँसी का स्टेशन आ गया था।

दूसरा प्रसंग मार्च, १९३६ का है। झाँसी से मैं खडवा जा रहा था। दैलवारा स्टेशन पर मेरे डिब्बे मे मुसीबत की मारी तीन बूढी औरतें चढ आई। रोजी की खोज मे ये मालवा जा रही थीं। पाँच-पाँच, सात-सात सेर जंगली बेरो के सिवाय उनके पास और कुछ भी नहीं था। शरीर पर, बस, एक एक फटा पुराना चीथडा लिपटा था। उनमें एक अन्धी थी। उनके पास टिकट नहीं थे। डर की मारी बेचारी काँप रही थीं। गाडी चलदी, तब कही उनके जी मे जी आया। एक अधेड मुसाफिर के पूछने पर अन्धी बुढिया अपनी बिपता बुन्देलखडी बोली में सुनाने लगी–"मालिक, मजूरी करऊँ हुतै लगत नैयाँ, आठ दिन सें अन्न कौ मौ नई देखो, बेर कूट-कूटकैं पेट भर रये हैं। घर मे न लरका हैं, न बाले। जौ पापी पेट मालिक ." कहते-कहते उसका गला भर आया। तीनों ही जात की चमार थीं।

बुन्देलखड की भयंकर गरीबी का बहुत कम लोगो को पता होगा। ग़रीबी को देखते हुए इधर की रियासतें और दूसरा इलाका प्राय एक-से ही हैं। झाँसी से बीनात क हर स्टेशन पर आपको इन दिनो बेकार स्त्री-पुरुषों के हजारों अस्थि-ककाल दिखाई देंगे। औरतों के तन पर सौ-सौ छिद्रो के चीथडे, सिर पर जगली बेरों की पोटली, गोद में नग-धडग दुबले-सूखे बालक। ये लोग जगह-जगह जीविका की खोज में मालवा की तरफ़ बिना टिकट जाने का प्रयत्न करते हुए आपको

मिलेंगे। सत्तर-सत्तर साल की अधी और लूली-लँगडी बुढियाँ गाडी के डिब्बो में घुसने की कोशिश करती हैं, मार खाती है और पेट की खातिर सभी तरह का अपमान सहन करती है।

उन तीनों की अत्यन्त दयनीय दशा देखकर भी हममें से किसीको उनपर कोई खास दया नहीं आई। थोडी देर में तेरह-चौदह वर्ष का एक मुसलमान लडका धीरे से उठा, अपने रुमाल से आठ रोटियाँ खोलकर निकालीं, और सारी-की सारी उन बुढियो के हाथ पर रखदीं। अपने लिए उसने एक टुकडा भी न रखा। गरीब औरतें उसे बार-बार आशीष देने लगीं। उस दयालु बालक की भोली आँखों में रहम के आँसू भर आये। 'भाई, तुम किसके लडके हो, और कहाँ जा रहे हो ?' मैंने उस दयालु बालक से पूछा।

उस सुशील लडके ने बड़ी नम्रता से जवाब दिया —'मेरा बाप बीना में एक बाबू के यहाँ नौकर है। ८) तनख्वाह उसे मिलती है। हम दो भाई और एक बहिन हैं। मैं अभी झाँसी से अपने मामू के यहाँ से आ रहा हूँ। बीना जाऊँगा।'

उसके सिर पर हाथ रखकर मैंने कहा—'तुम्हारी यह दशा देखकर बडी खुशी हुई बच्चा! मालिक तुम्हें खुश रखे।'

नम्रता से उसने सिर नीचा कर लिया।

तीसरा सस्मरण बुरहानपुर की आदिलशाही मसजिद का है। आज इस गिरावट के ज़माने में जब भाषा और संस्कृति के प्रश्नोंतक को राष्ट्र-विघातिनी साप्रदायिकता ने अपनी काली चादर से ढक लिया है, इस ऐतिहासिक मसजिद का सुनहरा चित्र हमारी आँखों के सामने

आकर हमें एक पवित्र सन्देश सुना जाता है।

इस मसजिद को मैने सन् १९३९ मे देखा था। बुरहानपुर की हरिजन-बस्तियाँ देखने हम लोग जा रहे थे। मसजिद हमारे रास्ते मे पडती थी। इसके सम्बन्ध मे मैं पहले सुन चुका था। पैर धोकर हम लोग अन्दर दाखिल हुए। अन्दर एक शिला-लेख देखा, जिसपर फारसी के साथ-साथ सस्कृत में भी ईश्वर-स्तुति, निर्माता का नाम और रचना-काल खुदे हुए थे। सस्कृत मे लिखा था.

"श्रीसृष्टिकर्त्रे नम ।

अव्यक्तं व्यापकं नित्यं
गुणातीत चिदात्मकम् ।
व्यक्तस्य कारण वन्दे
व्यक्ताव्यक्त तमीश्वरम् ॥

इसके नीचे तिथि, वार, नक्षत्र सहित मसजिद का रचना-काल दिया गया है --

"स्वस्ति श्री संवत् १६४६ वर्षे शाके १५११ विरोधि सवत्सरे पौष मासे शुक्ल पक्षे १० घटी २२ सहैकादश्या तिथौ सोमे कृत्तिका घटी ३३ सह रोहिण्यां शुभ घटी ४२ योगे वणिजकरणेऽस्मिन्दिने रात्रिगत घटो ११ समये कन्यालग्ने श्री मुबारकशाह सुत श्री एदलशाह राज्ञा मसीतिरिय निर्मिता स्वधर्मपालनार्थम् ॥"

सस्कृत भाषा और नागरी लिपि ने तब 'स्वधर्म-पालन' के मार्ग में कोई वाधा उपस्थित नहीं की थी। पं० चन्द्रवली पाडे ने यह बिल्कुल ठीक लिखा है कि "धर्म किसी भाषा एव लिपि में लपेटकर कहीं लट-

काया वो जाता नहीं। वह तो मानव-हृदय में रमता और रोम-रोम से न जाने किस-किस भाषा में भाषण करता रहता है। नागरी और सस्कृत में भी उसका स्वर उसी प्रकार सुनाई देता है, जिस प्रकार अरबी-फारसी में।"

अकेले ऊपर के श्लोक में ही अल्लाह की वन्दना इस प्रकार नहीं की गई है, दमोह जिले के बटिहाडिमपुर के दर्शनीय 'गोमठ' में भी ऐसा ही एक श्लोक खुदा हुआ है –

"सर्वलोकस्य कर्त्तारमिच्छाशक्तिमनन्तकम्।
अनादिनिधन वन्दे गुणवर्णविवर्जितम्॥

इस गोमठ का निर्माता कोई हिन्दू नहीं, किन्तु एक धार्मिक मुसलमान था। किन्तु देश के दुर्भाग्य से आज वह सुनहरा रग उड गया है। आज सभी जगह हमारे दुर्भाग्य ने जैसे कालिख पोत दी है। अब तो भारतीय सस्कृति के प्रतीक श्री' और 'कमल' भी मुसलमानों के दिलों में चिढ पैदा करने के कारण बन गये और उन्हे मिटा देने में ही उन्होंने अपने दीन की रक्षा समझी। आज तो पार्थिक देश के ही नहीं, हमारे हृदयों के भी टुकडे-टुकडे हो गये है।

: ४४ :

उद्योगशाला

(१)

हमारे संघ के अध्यक्ष श्रीघनश्यामदासजी बिडला की कल्पना के अनुसार आचार्य नारायणदास मलकानी ने सन् १९३९ के मार्च मे हरि-जन-उद्योगशाला का कार्य आरंभ कर दिया। शुरू मे सिर्फ आठ विद्यार्थी आये। प्रारम्भ में केवल दो उद्योगो के सिखाने की व्यवस्था की गई, एक छात्रावास के एक कमरे मे चमडा-विभाग खोला गया और दूसरे मे बढ़ई-विभाग। उद्योगशाला का मुख्य भवन तब बन ही रहा था। छात्रावास शुरू में हमने तीन-तीन कमरो के दो ही बनाये थे, जो तीस-पैंतीस लडकों के लिए पर्याप्त थे। पचास से ऊपर संख्या ले जाने का हमारा तब विचार भी नहीं था। पीछे तो छात्र-संख्या बढ़ते-बढ़ते १२० तक पहुँची, पर घनश्यामदासजी को तब भी सन्तोष नहीं हुआ वे तो ४०० लड़के उद्योगशाला मे देखना चाहते थे। लेकिन मैं तो इतनी बडी संख्या की कल्पना से ही काँपने लगा।

गांधीजी की परमभक्त अमतुस्सलाम बहिन एक-दो महीने पहले से हरिजन-निवास मे आकर रहने लगी थीं। दोनों समय प्राथंना कराने

का सिलसिला उन्होंने शुरू कराया था। रसोई और भंडार की व्यवस्था भी उन्होंने अपने हाथ में लेली। बडी मेहनत व लगन से काम करती थीं। स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। स्व० डा० अन्सारी ने मना कर रखा था, फिर भी जेठ-बैसाख की कडी गर्मी में चूल्हे के पास बैठकर रसोइये को मदद देती थीं। विद्यार्थियों के कपडे भी वही सीती थीं। रसोई की व्यवस्था में अमतुस्सलाम बहिन ने मुझे भी खींच लिया, और मैं उनका हाथ बटाने लगा। मैंने उन्हे अपनी छोटी बहिन मान लिया। जिस गहरी धर्म भावना से वे नमाज़ पढ़ती थी, उसी भावना से आश्रम की प्रार्थना भी करती थीं। रोज़े रखतीं और कृष्ण जन्माष्टमी का व्रत भी।

लडकों को एक-दो घंटे मैं हिन्दी भी पढ़ाता था। कोई पाठ्यक्रम अभी तैयार नहीं हुआ था। लडके कुछ तो बिल्कुल निरक्षर आते थे, और कुछ उर्दू पढ़े हुए। मलकानीजी भी सप्ताह में तीन घंटे सफ़ाई और व्यावहारिक सभ्यता पर व्याख्यान दिया करते थे। फिर भी पढ़ाई बिल्कुल गौण थी। मुख्य ध्यान तो हमारा उद्योग-शिक्षण पर था, और वह आज भी है। पर साहित्य-शिक्षण तीन साल बाद एक निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार होने लगा।

उद्योगशाला का धीरे-धीरे खासा विकास और विस्तार हो गया। परन्तु आचार्य मलकानी ने शुरू में व्यवस्था और शिक्षण का जो क्रम निश्चित किया था, उसमे कोई खास बडा परिवर्तन नहीं हुआ। मूलतः एक अच्छे शिक्षा-शास्त्री और साहित्यकार होते हुए भी मलकानीजी ने व्यवस्था-कार्य भी खासा अच्छा किया। लडकों के साथ खुद घास

छीलते थे, मिट्टी खोदते, और चक्की भी चलाते थे। लडको से वे बडे प्रेम से काम लेते थे। अपने विनोदी स्वभाव से आलसी लडकों को भी काम मे खींच लेते थे। लडके भी अपने श्रद्धेय आचार्य को 'पिताजी' कहा करते थे।

किंतु मलकानीजी अपने लगाये पौदे को दो वर्ष ही सींच पाये। अपने एक मित्र के आग्रह से उन्हे इंगलैंड जाना पडा, और उद्योग-शाला को उनकी स्नेहपूर्ण सेवाओ से वंचित होना पडा। हम लोगों ने मलकानीजी को हरिजन-निवास से ३१ मार्च, १९३८ को भीगी आँखों और भरे हुए गले से बिदा किया। दूसरे सुयोग्य व्यवस्थापक के अभाव में पूज्य बापा ने उद्योगशाला का व्यवस्था-कार्य मुझे ही सौंप दिया। अपनी अयोग्यता और कच्चे अनुभव की ओर देखते हुए इतनी बड़ी जिम्मेदारी का काम मुझे बहुत भारी मालूम दिया। उसे सँभालते हुए मेरे दुर्बल हाथ काँपने लगे। मलकानीजी की जैसी व्यवस्था-कुशलता और व्यावहारिक बुद्धि कहाँ से लाऊँगा, वे तो शाला के लिए धन-संग्रह भी करते थे, मुझे तो कोई एक पाई भी नहीं देगा, उनका बडे-बडे आदमियों से काफ़ी परिचय था, दो-चार मित्रो को छोड़कर दिल्ली मे मैं किसीको जानता भी नहीं। फिर उद्योगो के विषय की भी मुझे कोई जानकारी नहीं थी। समय भी कम मिलता था। मुख्य तो 'हरिजन-सेवक' का संपादन-कार्य था, उसे छोड नहीं सकता था। यह सब होते हुए भी मलकानीजी के प्रेमपूर्वक अनुरोध और बापा की अनुल्लघनीय आज्ञा से उद्योगशाला की जिम्मेदारी मैंने अपने निर्बल कन्धों पर लेली। पर वास्तविक व्यवस्थापक और संचालक तो मैंने सदा पूज्य बापा को

ही माना। बापा ने हरेक काम में मुझे प्रोत्साहन दिया, और मेरी त्रुटियों और भूलों को सदा क्षमा किया।

मलकानीजी जब विलायत से वापस आये और उन्होंने अपनी प्यारी संस्था को देखा, तो नाराज़ नहीं हुए। अपने लगाये पौदे को देखकर उन्हें हर्ष ही हुआ, और मुझे बड़े प्रेम से प्रोत्साहित भी किया।

विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाने पर बिड़लाजी और बापाजी जोर देते चले आ रहे थे। फलत छात्र-संख्या बढ़ा दी गई। पर एक-एक लड़के पर जितना व्यक्तिगत ध्यान पहले दिया जा सकता था, संख्या बढ़ जाने पर उतना ध्यान देना अब कठिन होगया। साथ-साथ दूसरी भी कठिनाइयाँ बढ़ीं। अनेक प्रान्तों के विभिन्न भाषाभाषी और हर तरह के लड़के आने लगे। व्यवस्था में इससे नई-नई उलझनें पैदा हुईं। जिम्मेदारी ज्यादा बढ़ गई। बहुत चाहा कि एक-एक विद्यार्थी के सपर्क में आने का यत्न करूँ, पर ऐसा करना शक्य-सा नहीं लगा। इसके लिए समय और व्यवस्थित चित्त चाहिए। जितना चाहा उतना मैं उन्हें समय नहीं दे पाया। और वे भी मुझे ठीक ठीक नहीं समझ पाये। न चाहते हुए भी हम दोनों एक दूसरे से जैसे कुछ दूर से रहने लगे। यह स्थिति मेरे लिए सह्य नहीं हुई। पर इस अवाञ्छनीय स्थिति की ओर से मैंने कभी आँखें बन्द नहीं की। बराबर प्रयत्न में रहा कि प्रत्येक बालक के सपर्क में आऊँ, और जहाँतक बन पड़े उसे सपूर्ण स्नेह देकर अपने आपको अधिक से-अधिक समझूँ। पर मैं स्वीकार करता हूँ कि इस प्रयत्न में मुझे कोई खास सफलता नहीं मिली। परिणाम यह

हुआ कि चित्त मे स्वाभाविक उत्साह या प्रसन्नता नही पाई, फिर भी पूरा हताश नहीं हुआ। निवृत्तिमार्गी होते हुए भी इस प्रवृत्ति को मैने कभी भार-स्वरूप अनुभव नही किया।

बाद को हाथ-कागज विभाग, बुनाई-विभाग, लोहारगिरी-विभाग और छापाखाना ये चार उद्योग विभाग और धीरे धीरे बढाये गये। कताई सबके लिए अनिवार्य कर दी गई। साहित्यकशिक्षण का स्वतन्त्र पाठ्यक्रम तैयार किया गया। ललितकला, सगीत और साधारण अंग्रेजी, और बाद को अग्रेजी के स्थान पर संस्कृत विषय भी रखे गये। प्रवेश-नियम भी बनाये गये। छात्र-सख्या बढ जाने पर सात छात्रावास और बनाने पडे, और उद्योग-भवन भी बढ़ाया गया।

सन् १६३६ में गाधीजी की अध्यक्षता में उद्योगशाला का पहला दीक्षान्त-समारम्भ हुआ। आशीर्वादात्मक भाषण में गांधीजी ने कहा कि उद्योग-शिक्षा को स्वावलम्बी होना ही चाहिए और स्नातक होने के बाद विद्यार्थी को बेकार नहीं रहना चाहिए। स्नातकों को समाज तथा राष्ट्र की सेवा करने के लिए भी उन्होने प्रेरित किया। दूसरे दीक्षान्त-समारम्भ पर गाधीजी ने अपने सन्देश मे कहा कि, उद्योगशाला को हर साल कुछ-न-कुछ प्रगति करनी ही चाहिए। यह कामना भी प्रकट की गई कि 'हरिजन-निवास से ऐसे लड़के तैयार होकर जाये, जो अस्पृश्यता का जड़मूल से नाश करदें।'

यह नही कहा जा सकता कि उद्योगशाला ने पिछले वर्षों मे वस्तुत. क्या प्रगति की, और गाधीजी द्वारा व्यक्त इच्छा या कामना की उसने कहाँतक पूर्ति की या कर सकती है। छात्र-सख्या अथवा कार्य

के विस्तार को देखते हुए यह कहने को जी नहीं करता कि उद्योगशाला ने कोई ऐसी प्रगति की, जिसका नम्रतापूर्वक बखान किया जा सके। केवल उद्योग शिक्षण ७२ प्रतिशत और व्यवस्था सहित समग्र शिक्षण मुश्किल से ४० प्रतिशत स्वावलम्बी हो सका। लड़कों ने जो चीज़ें तैयार कीं, ग्राहकों की दृष्टि में वे बुरी साबित नहीं हुईं, और बिक भी गईं। अधिकांश स्नातक बेकार भी नहीं रहे। कुछ ने तो अपने उद्योग द्वारा कुछ कमाया भी। रहन-सहन में भी फर्क पड़ा। साथ ही, शहरी सभ्यता ने भी काफी असर डाला, जो स्वाभाविक है।

किन्तु सच्ची प्रगति या सफलता की कसौटी तो दूसरी ही है। कुछ प्रश्न हैं, जिनके उत्तरों पर हमारी सफलता या असफलता निर्भर करती है। प्रश्न ये हैं उद्योग-शिक्षण पर क्या हमारे विद्यार्थियों और स्नातकों की श्रद्धा स्थिर रही? शरीर-श्रम को वे अपने जीवन में ज्ञान-पूर्वक ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार हुए या नहीं? उद्योगशाला में तीन वर्ष रहकर सविनय स्वाभिमान की भावना उनमें कहाँतक पैदा हुई? संस्था के उद्देशों को हमारे कार्यकर्त्ताओं ने स्वयं किस दृष्टि से देखा? अस्पृश्यता-निवारण को उन्होंने अपने जीवन का एक ऊँचा ध्येय माना या नहीं? जीवन का लक्ष्य उन्होंने किसे माना—भोग को या त्याग को? अथवा, संस्था में आने का उनका क्या हेतु रहा?

विद्यार्थियों तथा स्नातकों के थोड़े-बहुत सम्पर्क में आकर मुझे जो अनुभव हुए उनके आधार पर मैं यह कहूँगा कि उद्योग-शिक्षण के प्रति अधिकांश की दृष्टि कुछ-कुछ शंका की ही रही। इसके कारण हैं। स्कूल-कालिजों की शिक्षा-प्रणाली को सार्वत्रिक रूप से सही या गलत जो

अत्यधिक महत्त्व मिला हुआ है, उसके मुक़ाबिले उद्योग-शिक्षण का मूल्य बहुत कम आँका जाता है। शिक्षा को ज्ञानोपार्जन का साधन न मानकर नौकरी का साधन मान लिया गया है। नौकरी को 'निकृष्ट' कहा गया था, पर आज हमारी दृष्टि में नौकरी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। पढे-लिखे बेकारो की सख्या हज़ारो-लाखो की देखने मे आती है, फिर भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के प्रति हमारा जो अतिमोह है, उसमे कोई कमी नही आ रही। जहाँतक उद्योग-शिक्षा की उपयोगिता का प्रश्न है वह स्वयसिद्ध है। पर वर्तमान परिस्थितियों मे प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के मुक़ाबिले यदि हमारे विद्यार्थियो को वह हलकी जॅचती हो, तो इसमे उनका क्या दोष है ? उद्योग-शिक्षा के प्रति उनमे या तो तब प्रेम उत्पन्न हो सकता है, जब हमारी सरकार उसे अपने शिक्षा-क्रम मे प्रतिष्ठा का स्थान देदे, अथवा बुकर टी वाशिगटन के जैसा कोई क्रान्तिदर्शी शिक्षा-शास्त्री दलित समाज के उद्धार के लिए पैदा हो जाये, जो शिक्षा का सच्चा रूप और आदर्श उनके सामने रख-दे। हमारे विद्यार्थियों ने हम कार्यकर्त्ताओ को तो प्राय शका की ही दृष्टि से देखा। उन्हे यह समझने में हैरानी हुई कि जो लोग बुनियादी तालीम या उद्योग-शिक्षा का इतना अधिक गुण-गान करते है, वे खुद अपने बच्चो को क्यों इन विद्यालयो मे दाखिल नही कराते ? मुझे एक प्रसग याद आगया है। कोई छह-सात साल की बात है। काका कालेलकर बुनियादी तालीम की कान्फ्रेन्स के बारे मे हमारे विद्यार्थियो के साथ चर्चा कर रहे थे। एक विद्यार्थी ज़रा अविनय के साथ उनसे पूछ बैठा—"काका साहब, क्या आपका यह सारा उपदेश हमारे ही

लिए है ? मैंने सुना है कि आपका लड़का अमेरिका में पढ़ रहा है, और उसकी पढ़ाई पर हजारों रुपये खर्च हो चुके है ? क्या यह सही है ?" "यह मेरा दुर्भाग्य है ", उत्तर में उन्होंने इतना ही कहा।

शरीर-श्रम का तो उनके जीवन में स्थान रहा ही है। किन्तु 'ज्ञानपूर्वक' नहीं। यदि शरीर-श्रम को यहाँ आकर वे हलका समझने लग जायें, तो इसमें भी हमारा ही दोष है। हमारी देखा-देखी ही वे ऐसा करने लग जाते हैं। स्वभावत हम गलत चीज़ का अनुकरण करते है। मैंने देखा कि शरीर श्रम के जिन कामों को वे अपने घरों में प्रसन्नता पूर्वक करते थे, उद्योगशाला में आकर उनसे जी चुराने लग गये। क्योंकि उन्होंने देखा कि यहाँ पर उन्ही लोगों का आदर होती है, जो शारीरिक श्रम के कामों से दूर रहते है। पर जब कोई शिक्षक उनके साथ काम करने बैठ जाता तो उस काम को वे हँसते-हँसते कर डालते, साथ ही, शरीर श्रम का सच्चा महत्त्व भी उनकी समझ में आ जाता।

यह सन्तोष की बात है कि उनके अन्दर स्वाभिमान जागा, यद्यपि कभी-कभी उसके साथ अविनय भी देखने में आया। पर जो बेचारे सदियों से दबे पड़े हैं, उनके स्वाभिमान मे यदि थोड़ा अविनय भी देखने में आये, तो उसपर विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रेम से उन्हें उनकी भूल समझा दी जाये, तो वे समझ जाते है और उसे स्वीकार भी कर लेते हैं।

अब रहे कार्यकर्त्ताओं से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न। उनके गुण-दोषों की आलोचना करना स्वय अपनी आलोचना करना है। मैं अपने आप को उनसे अलग नहीं कर सकता। हमारे लिए इतना कहना ही पर्याप्त

है कि हमें आत्म प्रवचन से सदा बचना चाहिए। यदि संस्था के उद्देशों पर, हमारी हार्दिक श्रद्धा नहीं, तो हमारे लिए सस्था मे स्थान नहीं हो सकता। हमारे जीवन का सबसे बड़ा ध्येय अस्पृश्यता-निवारण ही है! यह निश्चय करके ही, मेरा ख़याल है, हम लोग हरिजन-सेवक सघ में आये है। यदि इससे अन्यथा हेतु हो तो स्पष्ट ही हमारे लिए वह आत्मघात के समान है। ऐहिक भोग भले ही दूसरों के जीवन का लक्ष्य हो, पर हम सघवालों का नही हो सकता। भोग को हमे गौण स्थान देना होगा। त्याग की ओर खिचकर ही तो हमने धर्म को जीवन का लक्ष्य बनाया है। धर्म के महान् उद्देश्य से प्रेरणा पाकर ही हम इस पवित्र सस्था में आये है। यदि हमारा अत करण ऐसा नही मानता, तो फिर संस्था से अलग हो जाने मे ही हमारा गौरव है। त्याग का मार्ग बलात्कार से ग्रहण नही किया जा सकता। वह तो स्वेच्छा से और विवेक से अपनाने का मार्ग है। यदि कोई लाखों-करोड़ों की तरह अपने लिए भोग का मार्ग चुनता है, तो उसमे कोई लज्जा की बात नहीं। पर ऐसा 'करने के लिए सार्वजनिक सस्थाएँ उपयुक्त स्थानन ही हैं।

ऊपर के इन प्रश्नो के उत्तर में ही हमारी सारी सफलता या असफलता समाई हुई है।

: ४५ :

उद्योगशाला

(२)

आठ वर्ष के दर्म्यान उद्योगशाला में आग्रहपूर्वक मैंने जो दो चार प्रयोग किये उनके विषय में इस प्रकरण में अपने कच्चे पक्के अनुभवों को लिखना चाहता हूँ।

सबसे पहले यह कहदूँ कि मेरा एक भी प्रयोग नया नहीं था। जिन प्रयोगों या प्रयत्नों में दूसरों को सफलता बहुत कम, बल्कि नाम-मात्र की मिली' और विफलता अधिक, उन्हींको बगैर ठीक तरह से समझे-बूझे मैंने भी हाथ में लिया और स्वभावत लगभग उन्हीं परिणामों पर पहुँचा, जिनपर दूसरे प्रयोगकर्त्ता पहुँचे थे। गांधीजी से चार-पाँच साल पहले मैंने सुबह की प्रार्थना के सम्बन्ध में पूछा था कि हमारे कितने ही विद्यार्थी प्रार्थना की घण्टी सुनकर भी बिस्तरे नहीं छोड़ते, उन्हें रोज-रोज जगाना पड़ता है। और प्रार्थना-मन्दिर में आते हैं, तो रोनी-सी सूरत लेकर बैठ जाते हैं, या फिर ऊँघते रहते हैं। ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिए? गांधीजी ने जवाब में कहा, "जिस रास्ते पर तुमने अभी पैर रखा है उसपर मैं बहुत पहले चल

चुका हूँ साबरमती-आश्रम में कुछ दिनोंतक तो मैंने अपने साथियों को जगाने का खुद जिम्मा लिया था । पर कुछ को तो लम्बा प्रयत्न करने के बाद 'मुक्ति-पत्र' ही देना पडा । लडको को 'मुक्ति-पत्र' देने की मैं तुम्हे सलाह नहीं देता । प्रयत्न तुम अपना जारी रखो । प्रार्थना में रस पैदा करो । यत्न करने पर भी जो लडके न आये उनके लिए दुखी या क्षुब्ध होना ठीक नहीं । पर तुम कार्यकर्त्ताओं को तो प्रार्थना में नित्य जाना ही चाहिए । लडके तुम लोगों का ही तो भला या बुरा अनुकरण करेगे ।''

फिर भी मैंने लडको को ही सदा दोषी ठहराया । एक-दो बार प्रार्थना मे अनुपस्थित रहनेवाले लडकों का दूध भी बन्द कर दिया था । उन्हे डाँटा भी । पर इन उपायो ने काम नही दिया । मैं समझता हूँ कि प्रार्थना को भक्ति-भाव से करनेवाले तो बहुत थोडे होते हैं । सामूहिक प्रार्थना में मेरा खुद का भी वैसा गहरा विश्वास नही है । सामूहिक प्रार्थना मे मुख्य तो अनुशासन का शिक्षण है । पर यह हम भूल जाते है कि हमारे राष्ट्रीय स्वभाव, और हिन्दू-समाज की प्रकृति में तो और भी अधिक अनुशासन की बहुत कमी है । हम स्वभाव से व्यक्तिवादी हैं । मालूम होता है कि सामूहिकता हमारी प्रकृति में ही नहीं है । सैनिक शासन की बात जुदा है । भय से न कि मन से, हमसे कुछ भी कराया जा सकता है । पर क्या प्रार्थना सैनिक शासन की सीमा के भीतर आती है ? बहुत दिनों बाद मैं यह मत बना सका कि नहीं आनी चाहिए । प्रार्थना को सैनिक शासन के बल पर कराना उसके महत्त्व और रस को नष्ट कर देना है । प्रार्थना को फौजी कवायद नहीं बनाया

जा सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सबको स्वच्छन्दतापूर्वक मुक्ति-पत्र दे दिया जाये। प्रार्थना के लिए नित्य सवेरे उठाने का क्रम तो वैसा ही जारी रखा। समय-समय पर प्रार्थना का महत्त्व भी समझाता रहा। पर वैसी सख्ती से काम लेना छोड़ दिया। कुछ लड़के तो आलस्य कर जाते, और कुछ ऐसा सोचते होंगे कि हमारे अनेक गुरुजन तथा सघ के अनेक कार्यकर्त्ता भी जब प्रार्थना में सम्मिलित नहीं होते तब हमें ही क्यों बाध्य किया जाता है? भले ही उनकी इस शिकायत में कुछ अविनय रही हो, पर वह अनुचित नही कही जा सकती।

हमारे अधिकतर लड़के देहात से आते। शहरी लड़कों की सख्या तो बहुत कम होती। रहन सहन सबका सादा ही रहता। फिर भी कुछ-न-कुछ असर तो शहर के वातावरण का पड़ना ही चाहिए। देहात से यहाँ आकर दूसरो की देखा-देखी लड़के और नहीं तो अग्रेजी काट के बाल तो रख ही लेते हैं। फैशनवाले बालों से मुझे स्वभावत. कुछ चिढ-सी रही है। इस चीज़ को लेकर विद्यार्थियों के साथ मैंने बड़ी ज्यादत्ती की। समझाया, कितनी ही दलीलें दीं, और कई बार बुरी तरह डाँटा भी। मेरी आँखों के सामने तो विद्यार्थियों का वही प्राचीन काल का चित्र रहा। मैं उन्हें समझाया करता, "तुम्हारा यह बालों का वाहियात शौक़ तुम्हें धीरे-धीरे विलास अर्थात् पतन की ओर ले जायेगा। विद्यार्थी-अवस्था में शरीर का यह शृङ्गार अच्छा नहीं। यह त्याज्य वस्तु है। तुम्हारे चरित्र-निर्माण में यह चीज़ बाधक बन जायेगी" इत्यादि। अत में तेल देना भी बद कर दिया गया। पर मैं जो चाहता था वह न हुआ। उन्होंने अब अपने पैसों से तेल खरीदना

रू कर दिया। सुगंधित तेल की शीशी भी किसी-किसीकी आलमरीाशु में दिखाई देने लगी। शीशे और बढिया कघे भी कइयो के पास देखे गये। काफ़ी प्रतिक्रिया हुई। मेरे प्रति अश्रद्धा भी बढ़ी। दस-पाँच ही ऐसे लडके पाये, जिन्हें बाल रखने का शौक़ नहीं लगा। मुझ खुश्क ज़ाहिद का साथ सिर्फ उन्होंने ही दिया। मुझे अपनी ग़लती बहुत बाद को मालूम दी। लेकिन यह बात नहीं कि मैंने अपना मत बदल दिया। लडकों की यह फ़ैशनपरस्ती मुझे सदा खटकती रही। मैं इस चीज़ को अच्छा नहीं समझता। ग़लती तो यहाँ मालूम हुई कि मुझे इस हदतक नहीं जाना चाहिए था। उन्हें समझाने और डाँटने में भी मेरा स्नेह-भाव तो रहता ही था। पर ज्यादती मैंने ज़रूर की। वातावरण का ध्यान नहीं रखा। मैं भूल गया कि हम शहर के वातावरण में रह रहे हैं, जिसके विषैले कीटाणु दौड़कर चिपटते हैं। जिसे मैं एक हौवा समझ रहा था वह तो वडी मामूली चीज़ थी। वालो का यह फ़ैशन तो आज सभ्य विद्यार्थियों का एक सुलक्षण माना जाता है। लडके हैरान थे कि यह प्रतिबन्ध केवल उन्हींपर क्यो लगाया जाता है, या उन्हींको जबर्दस्ती क्यों 'जगली' बनाया जाता है, जब कि उनके कई शिक्षक और अन्य कार्यकर्त्ता भी अंग्रेज़ी काट के बाल रखते हैं। केवल एक ही संस्था ऐसी है, जहाँ विद्यार्थियों को ऐसे वाल रखने की आज्ञा नहीं, वह गुरुकुल है। पर गुरुकुल के ब्रह्मचारी भी जब स्नातक होकर वहाँ से निकलते हैं, तब उनमे भी खूब प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया का होना मुझे स्वाभाविक-सा लगा। मैं समझ गया कि मेरे 'प्रवचनों' पर लडके क्यों इतना अधिक चिढते हैं। फलत: जिस प्रतिबन्ध को

लड़के पहले ही तोड़ चुके थे इसे उठा लिया गया। लड़के अपनी जीत पर बड़े खुश हुए, और मुझे भी अपनी इस हार पर नाखुशी नहीं हुई।

इसी तरह सिनेमा देखने का भी मैं एक ज़माने से विरोध करता आ रहा हूँ। जीवन में केवल पाँच या छह बार मैंने सिनेमा देखा होगा, और वह भी तब के अनबोल चित्रपट। १९२८ से देखना छोड़ रखा है। तब यह 'बोल-चित्रपट' नहीं चले थे। लेकिन उनमें कितनी गंदगी भरी रहती है इसका पता मुझे या तो रेडियो में आनेवाले फ़िल्मी गानों से चला या ग्रामोफोन की किसी दूकान के सामने से गुज़रते हुए उनकी घोर वीभत्सता का अनुभव हुआ है। अधिकांश में ये फिल्मी गाने क्या हैं, दुर्गन्धपूर्ण वासनाओं को उगलनेवाले गन्दे नाले हैं। सिनेमा के पक्ष मे लोग बड़ी-बड़ी दलीलें देते है, पर मेरे गले तो एक भी दलील नहीं उतरी। सिनेमा का शिक्षा तथा नीति सम्बन्धी जो मूल्य बतलाया जाता है, वह असल में उसकी वीभत्सता को ढकने का काम करता है। मेरे कई मित्र इस धारणा को मेरी निरी हिमाक़त समझते हैं। अपनी इस हिमाक़त का प्रयोग मैंने अपने विद्यार्थियों पर भी करना चाहा। पर यहाँ भी मैं हारा। मेरे सिनेमा-विरोधी व्याख्यानों का कुछ भी असर न पड़ा। मैंने यहाँतक कहा कि सिनेमा तो शराब से भी अधिक घातक और व्यापक विष है। सिनेमा-सम्बन्धी विज्ञापन और पत्रों में सामयिक साहित्य देखकर मेरी विरोधात्मक धारणा और भी दृढ़ होगई। लेकिन लड़के कहाँ माननेवाले थे? स्कूल-कालेजों के सभी विद्यार्थी सिनेमा देखते हैं, बड़े-बड़े विद्वान और लोक-नेता तथा आश्रमवासी भी सिनेमा देखने जाते हैं। मेरे अपने लड़के और परिवार

के लोग भी साल में आठ-दस बार कोई न-कोई खेल देख आते हैं। सिनेमा के घातक परिणामों पर शायद उनका ध्यान नहीं जाता। मैं सोचता रहता हूँ कि सिनेमा तो 'एटम बम' से भी अधिक नाशकारी आविष्कार है। एटम बम तो दस-पाँच पार्थिव नगरो का ही नाश कर सकता है, पर इस आततायी सिनेमा ने तो लाखों-करोड़ों 'मानस-नगरों' का विध्वस किया है, उनका पुनर्निर्माण असम्भव है। पर मेरे इस अरण्यरोदन को कौन सुनता है? तब बेचारे लड़को पर ही यह प्रतिबन्ध क्यो लगाया जाये? चोरी से तो वे देखते ही थे। छुट्टी के दिन उन्हे बाँधकर तो रखा नहीं जा सकता था। यद्यपि अपने पास पैसा रखने का नियम नही था, फिर भी सिनेमा देखने के लिए उन्हे कहीं-न-कहीं से पैसा मिल ही जाता था। जिस वस्तु को मैं त्याज्य समझता हूँ, उसे दूसरे भी मेरी ही तरह त्याज्य समझें इस आग्रह-वृत्ति मे मुझे कुछ भूल मालूम हुई। मैंने देखा कि असत्य-भाषण और चोरी को मै परोक्ष रीति से प्रोत्साहन दे रहा हूँ। अत अपने आग्रह को मैने ढीला कर दिया। दो शर्तों पर उन्हे सिनेमा देखने की छुट्टी देदी—दफ्तर से, अपने निजी खाते से, टिकट का पैसा लेकर जायें, और जो खेल अपेक्षाकृत कुछ अच्छा या कम हानिकारक समझा जाता हो केवल उसीको देखें। इस तरह इस ज़हर की गोली को, हार मानकर, निगलना पड़ा। मुझे इन शर्तों के पालन होने में सन्देह रहा। मगर सिनेमा के प्रति मेरी जो अपनी दृष्टि है उसमें इस छूट से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दूसरों पर अपने चाहे जिस विचार को लादने का मैंने केवल आग्रहभर छोड़ा।

विदेशी खेलों के बारे में भी कई बरसोंतक मेरा ऐसा ही भिन्न मत रहा, और वह आज भी बना हुआ है। भरसक लड़कों को मैंने फुटबाल या वालीबाल खेलने का प्रोत्साहन नहीं दिया। हाकी या क्रिकेट तो बेचारे कभी खेले ही नहीं। खेलों के मैंने तीन विभाग कर रखे हैं, जिन्हें क्रम से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट मानता हूँ, अर्थात्, उत्पादक, अनुत्पादक और अर्थनाशक। उत्पादक, जैसे बाग़बानी। इसमें मेहनत भी बड़ी अच्छी हो जाती है, और साथ साथ मनोरंजन भी होता है। बालकों से लेकर बुड्ढेतक इस सुन्दर सात्त्विक खेल में हिस्सा ले सकते हैं। अनुत्पादक तो पचासों देशी खेल हैं। कबड्डी ऐसे खेलों में बड़ा अच्छा खेल है। इन खेलों पर एक पाई भी खर्च नहीं होती, और कसरत भी बहुत अच्छी हो जाती है। इनके लिए साधन सामग्री की भी कोई आवश्यकता नहीं। हाकी, क्रिकेट, फुटबाल आदि विदेशी खेल सारे ही अर्थनाशक हैं। इन खेलों पर हमारे दरिद्र देश का लाखों रुपया हर साल खर्च होता है। इन खेलों के साथ और भी कई फिजूल शौक़ लग जाते हैं। इन खेलों के बारे में स्व० आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का मत जब मैंने एक दैनिक पत्र में पढ़ा, तब से मेरा विरोध और भी दृढ़ हो गया। मैंने अपने विद्यार्थियों को इन विदेशी खेलों से अलग रखना चाहा। पर मैं अपने मत का अकेला ही था। पूज्य बापातक से मुझे समर्थन न मिल सका। लड़के तो रुष्ट रहते ही थे। मुझे भी लगता था कि मैं ज्यादती कर रहा हूँ। प्रकृति और काल के प्रवाह के विरुद्ध मैं नहीं जा सका। अपनी हार स्वीकार करली। असन्तुष्ट लड़कों को फुटबाल और वालीबाल खेलने की छुट्टी देदी।

इन अर्थनाशक खेलों के प्रीत्यर्थ बजट में हर साल अब एक नियत रकम भी रखी जाने लगी।

इन सारे प्रयोगो व आग्रहों को मेरे विद्यार्थियो और अनेक कार्य-कर्त्ताओ ने कभी कुछ बहुत अच्छा नहीं समझा। फिर भी अपने रोष या असन्तोष को उन्होंने बहुत-कुछ सयत रखा, और मेरी आग्रह-वृत्ति को सहन भी काफ़ी किया। मेरे असामयिक विचारो को कुछेक विद्यार्थियों ने स्वेच्छा से अपनाया भी।

ऐसे कितने ही प्रसग आये, जब व्यवस्थापक के नाते ऐसा व्यवहार भी करना पडा, जिसे मैं करना नहीं चाहता था। अनुशासन रखने के लिए कभी-कभो काफ़ी सख्त होना पडा। शरारती और उद्दण्ड लडकों को दण्ड देने के पक्ष में मेरे कुछ सहकारियो ने कितनी ही लुभावनी दलीलें दी। पर मैं कभो उनकी इस बात पर राज़ी नहीं हुआ कि लडकों को शारीरिक दण्ड दिया जाये। शिक्षकों की कठिनाइयों को अनुभव करते हुए भी मै उनके साथ सहमत न हो सका। पर मैं खुद कई बार चूका और बुरी तरह चूका। किसी शरारती लडके की कोई गम्भीर शिकायत सामने आई तो उसे मैंने माफ़ नहीं किया—उसे काफ़ी डाँटा, और एक-दो थप्पड भी लगा दिये। पर मन ने इस चीज़ का कभी समर्थन नहीं किया। बाद को पछताया भी, रोया भी। किन्तु क्रोध में भी अपराधी के प्रति स्नेह-भाव मेरा कम नहीं हुआ।

कुछ लडकों ने समझा कि मैं सख़्त हूँ, और कुछ ने मान लिया कि नरम हूँ। मेरे सहकारियों का भी ख़याल रहा कि लडकों पर मैंने कड़ी नज़र नहीं रखी और यही कारण है कि उन्होने प्राय अनुशासन को

नहीं माना। किसीके भी सम्बन्ध में एकमत होना बड़ा कठिन है, आवश्यक भी नहीं। सख्त रहा या नरम इस प्रश्न के निर्णय में न पड़कर मैंने सदा यह देखा और प्रयत्न भी किया कि लड़कों का पितृस्थान मैं कहाँतक ले सका हूँ। इस बात की कसौटी यह नहीं होगी कि उनकी मेरे ऊपर श्रद्धा रही या अश्रद्धा, बल्कि यह होगी कि सहज स्नेह से मैं कहाँतक उनका हितचिन्तन कर सका। मानता हूँ कि यह कसोटी बड़ी कड़ी है। प्रयत्न भी महा कठिन है। यह निरा दिवास्वप्न भी हो सकता है। मुझे खास सफलता भी नहीं मिली। पर मेरा उद्योगशाला से सम्बन्ध जोड़ने का एकमात्र उद्देश यही रहा।

अन्त में, दो शब्द अपने स्नातकों के विषय में भी। आधे से ऊपर स्नातकों ने अपने उद्योगों द्वारा जीविका चलाई है। कई स्नातकों में खासी संस्कारिता और राष्ट्रीय भावना भी पाई। जो बेकार बैठे रहे, वे सारे ही आलसी या निकम्मे नहीं थे। परिस्थितियाँ उन्होंने अपने अनुकूल नहीं पाईं, औजार और दूसरे साधन वे जुटा नहीं सके। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने उनकी कुछ मदद नहीं की। हम लोग रचनात्मक कार्यक्रम में केवल मौखिक या लिखित विश्वास प्रकट करना जानते हैं; इससे आगे नहीं जाते। देहातों में जाकर हमारे लड़कों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। कइयों की आर्थिक अवस्था इतनी खराब रही कि वे ज़रूरी औजारतक नहीं खरीद सके। फिर पुश्तैनी कारीगरों का भी उन्हें मुक़ाबला करना पड़ता है। उनकी प्रगति में छूआछूत भी बाधक बनता है। हमारे लोक-सेवक बल नहीं लगाते कि वे कुछ आगे बढ़ें। ऐसी हालत में अपने ही पैरों पर वे खड़े हुए और अपने ही बल से आगे बढ़े

: ४६ :

चौबीस बरस बाद

छतरपुर का—अपने प्रिय जन्मस्थान का पुनर्दर्शन मैंने १६४४ के अन्त मे, लगभग चौबीस बरस बाद, किया ! पन्ना से छतरपुर यद्यपि ४२ मील के ही अन्तर पर है, तो भी पन्ना-निवास के उन छह-सात सालों के बीच छतरपुर जाने का कभी संयोग नहीं आया। पूज्य धर्म-माता के स्वर्गवास के पश्चात् स्वेच्छा से मैंने निर्वासन-सा स्वीकार कर लिया था। पन्ना से नौगाँव या झासी जाते-आते छतरपुर यद्यपि रास्ते में पडता था, तोभी कभी वहाँ उतरा नहीं। बचपन के उस स्वर्गकल्प जन्मस्थान ने मेरे शुष्क हृदय को फिर खींचा नहीं !

वहाँ, पूरे दो युगो के बाद, फिर एक बार जाने का प्रसंग तो यों आया। पाँच-छह साल के बाद माँ तथा दूसरे कुटुंबी डेढ़ महीने के लिए 'देश' गये हुए थे। मेरा बडा लडका चि० भगवद्दत्त भी मेरी माँ के साथ गया था। बुन्देलखण्ड के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यो के चित्ता-कर्षक वर्णन उसने अनेक वार मुझसे सुने थे। उसने कवि का हृदय पाया है, अत· वहाँ के मनोरम दृश्य देखने के लिए अधीर-सा हो रहा था। बाद को, कोई पन्द्रह दिन बाद, छोटे लडके चि० मोतीलाल को

भी मैंने अपने ममेरे भाई के साथ भेज दिया। छतरपुर वह भी देखना चाहता था। ये दोनों लड़के, भगवत और मोती, मेरे स्वीकृत पुत्र हैं।

मामा का विशेष अनुरोध और आग्रह था, और मेरा भी कुछ-कुछ मन हुआ कि क्यों न एक बार छतरपुर हो आऊँ। जाने का निश्चय कर लिया। पर ठहर पाया वहाँ केवल पाँच ही दिन। 'अतिथि' के रूप में अपने घर पहुँच गया। इतने बरसों बाद अपना सुन्दर नगर देखा, पर न जाने क्यों, चित्त वैसा भक्ति भाव से प्रफुल्लित नहीं हुआ। बाज़ार और दूसरे भाग तो वैसे ही बल्कि कुछ उन्नत थे, पर हमारा मोहल्ला सारा ऊजड-सा दिखाई दिया। सर्वत्र सूनापन। अपने अध्ययन के जिस कोठे को मैंने 'प्रेम-निकेतन' का सुन्दर नाम दे रखा था, उसे भयावने खंडहर के रूप में पाया। रहने का हमारा वह कच्चा घर भी जराजीर्ण हो चुका था, जैसे रोज-रोज के अभाव को बेचारा सँभाल नहीं पारहा था। और यही दशा मेरे पड़ोस के अनेक घरों की भी थी। सामने के खारे कुएँ पर पनिहारिनो की वह पहले की चख-चख नज़र नहीं आई। न हमारे शिवाले पर जल तथा बिल्वपत्र चढ़ानेवाले भक्तों की वह भीड़ ही दिखाई दी। लगा कि मैं आज कहाँ आ गया! सबका सब वह क्या हुआ! जहाँ भी दृष्टि दौड़ता हूँ, वहीं सूनापन और अभाव दिखाई देता है। काल के प्रखर प्रवाह ने यह क्या-से-क्या कर डाला!

दो तीन दिनोंके अन्दर ही मैं सब कुछ देख लेना चाहता था। सोई हुई मेरी एक-एक स्मृति जागने लगी। उन जागृत स्मृतियों ने जैसे मेरे मन को झकझोर डाला। देखा यह वही झोंपड़ा है, वही यह आँगन है, वही यह चौतरा है, जहाँ मैं खेलता-कूदता था, पढ़ता-लिखता

था, और उठता-बैठता था। गोसाइयों की वह गढी धराशायी हो चुकी थी, पर उसके सामने का वीरान बगीचा रह-रहकर पुरानी याद दिला रहा था कि दिन मे तो लडकों के साथ तुम यहाँ खेलने चले आते थे, पर रात को मारे डर के इधर कभी झाँकते भी नहीं थे। मन्दिर के पिछवाडे इमली के ऊँचे-ऊँचे दरख्त उसी तरह आज भी खडे हुए थे। फिर नाना और नानी के लाड-प्यार की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ आँखों के सामने नाच उठीं। छतरपुर छोड़ने के बाद मामी को तो फिर चौबीस बरसों में कभी नहीं देखा। कई बरस पहले वह चल बसी थीं। हमारे पड़ोसी माधव गोसाईं और लाला चिंताहरण भी खूब याद आये। माधव गोसाईं और नाना के बीच एक बार कुछ झगड़ा होगया था। बरसों दोनों का बोलचालतक बन्द रहा, पर हृदय से प्रेम-भाव नहीं गया। कई बरस बाद जब दोनो पडोसी गले मिले उस दिन का वह स्नेह-करुण दृश्य भला कभी भूल सकता हूँ? वैसा सरल प्रेमभाव आज बहुत कम दीखता है। द्वेष की लू मे हृदय की हरियाली झुलसती चली जा रही है। लाला चिंताहरण कापियाँ बनाने के बादामी काग़ज़ हो नहीं दिया करते थे, मेरी तब की तुकबन्दियो पर दाद भी खूब देते थे। तीस-पैंतीस साल पहले का उनका वह 'महिम्नस्तोत्र' का मधुर पाठ भी कानो में गूँज उठा। मेरे सहृदय मित्र स्व० छक्कोलालजी भी खूब याद आये। उनके घर पर हमारी साहित्यिक बैठक जमा करती थी! अहा! हमारा मोहल्ला तब कैसा हरा भरा था, कैसी चहल पहल रहती थी। जन्माष्टमी की झाँकी व जल-विहार का मेला भी याद आगये। रामलीला और दीवाली-

होली के उत्सव भी मुझे बचपन की उस धुँधली-सी छाया की ओर खींच ले गये। गवाही देनेवाले, बस, इतने ही तो कुछ बचे थे—वह खारा कुआँ, वह शिव मंदिर, वे ऊँचे-ऊँचे पेड़ और कुछ वीरान और कुछ आबाद घर। किन्तु 'क्षणिकवाद का आश्रय लेलूँ', तब तो यह कहना भी कठिन होगा कि मेरे स्मृति-चित्रों की गवाही देनेवाले ये सब वे ही थे या परिवर्तित रूप में कोई दूसरे। तब तो, तब का मन भी यह नहीं, और मेरा तन भी यह नहीं। काल के अनंत प्रवाह के लेखे में किसे तो अतीत कहा जाये और किसे वर्तमान! भविष्य की तो चर्चा ही क्या? फिर भी अविभाज्य असीम काल को हम बुद्धिमानों ने तीन भागों में विभक्त और सीमित कर रखा है, और सर्वत्र कल्पना ही कल्पना से काम ले रहे हैं। उठती-गिरती कल्पनाओं का यह मोह कितना सुन्दर और कितना वीभत्स है! इस मोह के आगे मनुष्य कितना दीन-हीन बन गया है! औरों की मैं नहीं कहता, पर स्वयं अपनी कहता हूँ कि शान्तिप्रद 'शून्यत्व' का मैं क्षणमात्र भी अनुभव नहीं कर पाता।

पर मैं यह सब क्या-क्या कह गया? हाँ, तो उस चलदलधर्मा स्मृति-प्रवाह ने मुझे अस्त-व्यस्त सा कर दिया। फिर भी वैसा व्याकुल या व्यथित नहीं हुआ। सामान्य प्रवासी की भाँति छतरपुर मेरे लिए आज छूटा हुआ 'वतन' नहीं था। और मेरा भावुक कवि तो, मेरी खुशनसीबी से, मुझसे पहले ही विदा ले चुका था। कुछ हलका तूफान सा हृदय तल पर एक बार उठा और अपने आप वहीं-का-वहीं बैठ भी गया।

उस दिन, जब मैं पहुँचा, शाम को ताजिये निकलनेवाले थे।

छतरपुर के ताज़िये उधर दूर-दूरतक मशहूर हैं। ऊदलसिंह का अबरक का ताज़िया तो कारीगरी में अपनी सानी नहीं रखता था। पर अब वह बात नहीं थी। फिर भी दिल्ली के ताज़ियों के मुकाबिले छतरपुर के ताज़िये काफ़ी सुन्दर थे। मुसल्मानो के साथ हिन्दू भी उमग और प्रेम से ताज़ियों के जुलूस में हमेशा की तरह उस साल भी शरीक हुए थे। मैं भी देखने चला गया। जुलूस हमारे मोहल्ले मे से ही गुज़रता है। रात को पुराने मिलने-जुलनेवालो से वहाँ अनायास ही भेट-मुलाक़ात हो गई। मेरे कुछ मित्र और बुज़ुर्ग तो बडे ही प्रेम व स्नेह से मिले।

जितने दिन वहाँ रहा, मिलनेवालो का ताँता सा लगा रहा। कोई काव्य चर्चा करने आते थे, और कोई दिल्ली की बातें व लडाई की खबरें पूछने। एक दो सज्जनों ने धर्म और अध्यात्म के भी प्रसग छेड दिये। पर मेरे मुँह से अस्पृश्यता-निवारण की बात सुनकर उनके मन को जैसे ठेस पहुँची, फिर भी प्रकट में कुछ न कहा। मेरी साहित्यिक रुखाई और धर्म-भ्रष्टता देखकर कई मित्रों को निराशा ही हुई। मैं तो उनसे राज्य की असली हालत जानना चाहता था। पर मेरे पूछने पर राज्य की उचित आलोचना भी किसीने नहीं की। राजनीतिक जागृति बहुत कम देखी। दूसरी रियासतों की तरह छतरपुर की भी प्रजा को मैंने दुखी और दुर्बल पाया। मगर किसीको मुँह खोलने की हिम्मत नहीं होती थी, कुछ तो अधिकारियों के दबाव व डर से, और कुछ आदतन 'सतोषी' बन जाने के कारण। जीवन की ज़रूरी चीज़ें भी मिलने में भारी कठिनाई आरही थी, जैसे कोई व्यवस्था ही न हो। किन्तु मेरे

जैसा चार दिन का मेहमान, सिवा मन मसोसकर रह जाने के, कर ही क्या सकता था ? मेरा सारा समय मिलने-जुलने में ही चला गया। लोगों ने मेरे ऊपर अपना सारा सचित स्नेह उँडेल दिया।

एक दिन नगर-प्रदक्षिणा भी कर डाली। तीस-चालीस साल पहले के कितने ही धुँधले-से दृश्य स्मृति-पटल पर फिर एक-एक करके उतरने लगे। टोरिया पर स्थित हनुमानजी का वह मन्दिर भी देखा, जहाँ से उतरते हुए मैं तीस साल पहले बुरी तरह गिरा था। मेरे पुराने परि-चित महतजी बड़े प्रेम से मिले। सिघाड़ी नदी का वह घाट भी देखने चला गया, जिसे जोतिषी बाबा ने अकेले ही बड़े-बड़े शिलाखण्ड ढो-ढो-कर तैयार किया था। फिर अपने पिछवाड़े के गरीब काछियों की झोंप-ड़ियाँ बाहर से देखीं। नब्बे बरस का मुण्डा काछी, जो गोद में मुझे लेकर खिलाया करता था, सुनकर दौड़ा आया। बेचारा अंधा होगया था। देवी और भूत-प्रेतों का वह पहुँचा हुआ भगत था। औरतें उससे बहुत डरा करती थीं साठिये कुओं में डुबकी मारकर कलसा और लोटा ही नहीं, चाँदी की चूड़ियाँतक ढूँढकर ले आने में मुण्डा काछी एक ही था। अब बड़ा दुखी था। उसकी दीनदशा देखकर गला भर आया। इसी तरह रामायणी बाबा भी लाठी टेकते हुए जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मुझसे मिलने आये थे। इनके पिता और यह राम मन्दिर में नित्य नियम से रामायण की कथा कहा करते थे। पाठ तथा अर्थ करने का उनका बड़ा रोचक ढग था। बाल्यकाल में नाना के साथ मैं भी कभी-कभी रामायण सुनने जाया करता था। मुझे देखकर रामायणी बाबा का हृदय वात्सल्यस्नेह से उमड आया। मुझे भी कथा श्रवण

के वे पुराने दिन याद आ गये।

मेरे अध्यापक श्रीवृन्दावनजी, जिनके घर पर मैं पढ़ने जाया करता था, कई बरस पहले स्वर्गस्थ होचुके थे। अध्यापकों में अब केवल मास्टर दिल्लीपत थे, जिनसे मिलने की बडी इच्छा थी। दिन छिपने से कुछ पहले उनके घर पर मैं अचानक ही पहुँचा। जाकर श्रद्धापूर्वक मास्टर दिल्लीपत को प्रणाम किया। अपने पुराने विद्यार्थी से वे बडे स्नेह से मिले। घर खूब स्वच्छ था। चटाई पर बैठे थे। हाथ मे तुलसी की माला थी और हरि-भजन कर रहे थे। इतने बरसो के बाद भी मैंने अपने आपको मास्टर साहब के सामने एक विनम्र 'विद्यार्थी' ही अनुभव किया। अध्ययन-काल में गुरुजनों से जो सहजशील की दीक्षा पाई थी उस अनमोल निधि को क्यो हाथ से जाने दूँ? मेरे जीवन मे वह सचमुच एक पवित्र घडी थी। आचार्य से मिलकर बहुत आनन्द-लाभ हुआ।

इससे पहले राज्य के दीवान साहब से उनके बंगले पर मिलने गया था। मुझे उन्होंने याद किया था। पहले का मेरा उनसे परिचय नहीं था, फिर भी बहुत अच्छी तरह मिले। साधारणतया इधर-उधर की कुछ बातें हुईं। अपनी समझ से उन्होंने राज्य में जो सुधार (?) किये थे, उनकी भी कुछ चर्चा की। कुल मिलाकर मुझे वे एक मिलन-सार व चतुर हाकिम मालूम दिये, साथ ही अंग्रेज़ सरकार के अच्छे वफ़ादार भी। रियासती राजनीति की गहराई में नहीं उतरे, मुझसे ज़रा बच-बचकर बातें कीं। मगर मुझसे क्या छिपा था! दीवान साहब को तो रियासत में आये मुश्किल से तीन या चार साल हुए थे, जब

कि मेरा वहाँ जन्म हुआ था, वहीं बड़ा हुआ था, और रियासती राग के 'स्वर-ताल' से भी पूर्णतया परिचित था।

मेरी इस मुलाकात का पेशकार व दूसरे अहलकारों पर काफ़ी असर पड़ा। उनकी दृष्टि में मैं कितना बड़ा भाग्यशाली था, जो हुजूर दीवान साहब कमरे से निकलकर मुझे बरामदेतक खुद भेजने आये थे! और बग्घी के कोचवान ने, जब मैं उतरने लगा, मुझसे बख्शीश माँगी—यह समझकर कि दीवान साहब ने शायद मुझे किसी बड़े ओहदे पर नियुक्त कर दिया है!

: ४७ :

खजुराहे के मन्दिर

अब, बस, खजुराहे के भारत-प्रसिद्ध मन्दिर ही देखने, अथवा मोती को एक बार दिखाने थे। भगवत देखकर लौटा ही था, और उसने अपने छोटे भाई की उत्कण्ठा को और भी तीव्र कर दिया था। बुन्देल-खण्ड का कौन ऐसा अभागा यात्री होगा, जो वहाँ जाकर इन अनूठे मन्दिरों के देखने की इच्छा प्रकट न करेगा ? खजुराहे की अद्भुत शिल्प कला की प्रशंसा तो मुक्तकण्ठ से विदेशी यात्रियों और प्रख्यात पुरातत्त्व-शोधकों ने भी की है।

छतरपुर से यह लगभग ३० मील दूर है। बचपन में तो मैं यहाँ नाना के साथ प्राय. हर साल ही आया करता था। यहाँ का शिवरात्रि का मेला सारे बुन्देल-खण्ड में प्रसिद्ध था, और शायद अब भी है। मेला यहाँ एक या डेढ़ महीनेतक खूब भरा रहता था। दूर दूर से हर प्रकार के दूकानदार आते थे। मथुरा के पेडों की तरह यहाँ का 'सिघाडपाग' (सिघाडे व मावे के मीठे सेव) मशहूर था। मतंगेश्वर (मृत्युञ्जय) महादेव पर जल चढ़ाने कई हज़ार तीर्थ-यात्री यहाँ शिवरात्रि पर आते हैं। इस विशाल शिवलिंग की महिमा पुराण-प्रसिद्ध 'ज्योतिर्लिंगों' की

जैसी ही है। रेल से ६५ मील दूर होने के कारण दूर दूर के यात्री यहाँ पहुँच नहीं पाते, नहीं तो यह खजुराहा भी आज एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान बन गया होता।

हम लोग तब महाराजा प्रतापसिंह के 'मुकरबे' में ('मकबरे' का अपभ्रंश—असल में समाधि मन्दिर) ठहरा करते थे। इसके पास ही एक छोटा-सा राज-भवन है। वहीं 'शिवसागर' तालाब है। इस सारे स्थान को, जहाँ मन्दिर-ही-मन्दिर हैं, 'पुरी' कहते हैं। खजुराहा गाँव यहाँ से कोई सवा-डेढ़ मील है। हम लोग तब पुरी में ही मेले के दिनों में, रहते थे। अपना तब का डेरा देखकर बचपन के वे सुनहरे दिन बरबस याद आ गये। इसी मेले में रामायण का एक सुन्दर गुटका मैंने जिद करके खरीदा था और एक छोटी सी सितारी भी ली थी। इन खिलानों को लेकर मुझे उस दिन कितनी खुशी हुई थी! तब मैं आठ या नौ बरस का था। एक-दो साथियों की धुँधली सी सूरत भी ध्यान में आई, पर उनके नाम याद नहीं आरहे थे। शायद मेरे एक हेती (मित्र या साथी) का नाम रामाधार था। हम दोनों यहाँ खूब खेला कूदा करते थे। जहाँतक याद है, आपस में कभी मार-पीट नहीं की थी। हम लोग होली भी यहीं खेलते थे। बसन्ती रंग टेसू के फूलों का खूब बना लेते थे। रंग बिरंगे गुलाल से भरे कुमकुमे (चपड़े की गेंदें) एक दूसरे के मुँहपर ताककर मारते थे। गाँव के लोग रात रातभर गला फाड़-फाड़कर फाग गाते थे। उधर राज-भवन में फागोत्सव की रास लीला अलग हुआ करती थी। मेरे नाना ढप पर ब्रज के धमार गाया करते थे। उन्हें सन्तमार्गी कई निर्गुण धमार भी याद थे। रंग-पचमीतक सारी

रंग और उत्सव रहता था। इसके बाद हम लोग राजनगर चले जाते और वहाँ भी तीन-चार सप्ताह रहते थे। सचमुच वे मेरे बालपन के सुनहरे दिन थे। हाईस्कूल मे नाम लिखाने के बाद फिर खजुराहा और राजनगर जाना छूटा-सो-छूटा। पन्ना से, अलबत्ता, दो बार खजुराहा देखने गया था; एक बार तो श्रद्धास्पद स्व० पंडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा को साथ लेकर और दूसरी बार शायद राज-परिवार के साथ। पर राजनगर को तो मैंने पूरे ३७ साल बाद फिर से देखा।

छतरपुर से हम लोग पहले सीधे राजनगर ही गये थे। खजुराहे से राजनगर ढाई-तीन मील है। यहाँ तहसील का सदर मुकाम है। खासा अच्छा कस्बा है। बाजार और मिडिल स्कूल के अलावा एक अस्पताल भी है। यहाँ पर थोडी जन-जाग्रति भी पाई। कुछ आर्यसमाज का भी प्रभाव देखने मे आया। यहाँ के डाकबाबू श्रीरामप्रताप ने बड़े प्रेम से हमारा आतिथ्य किया। परिचय इनसे मेरा केवल पत्र-व्यवहार का था। ग़रीब होते हुए भी आतिथ्य इस प्रदेश के लोग हृदय से करते हैं। मेरा नाम सुनकर कई लोग मिलने आये, यद्यपि पहचानता मै केवल एक-दो सज्जनों को ही था। उस साँझ को हम लोग गाँवके बाहर काफ़ी दूरतक घूमने निकल गये। चारो ओर हरे-हरे खेत देखकर चित्त प्रफुल्लित हो गया। एक कुएँ पर, जहाँ लकडी व मिट्टी की घडियों का रहँट चल रहा था, हाथ-पैर धोये। लोहे के कीमती रहँट से गाँव का यह रहँट इधर काफ़ी अच्छा और सस्ता होता है। गाँव का बढई मेंढ पर के किसी पेड़ को काटकर रहँट तैयार कर देता है। कुम्हार घडियाँ बना देता हैं। किसान खुद रस्सी बटकर घडियों को बाँध लेता है। न

कोई कल-पुर्ज़ा, न कुछ झंझट। खेत के बुड्ढे काछी ने बुन्देलखण्डी बोली में हमारी आव-भगत की, मेंड़ के पेड़ से तोड़-तोड़कर खट-मीठे बेर खिलाये और बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। दूसरे दिन सबेरे हम लोगों ने एक स्वच्छ कुइयाँ पर नहाया। उसके पास एक दालान भी था। राजनगर के एक सेवा भावी वृद्ध सुनार ने इस सुरम्य स्थान को बनवाया है। रोज सबेरे जाकर अपने हाथ से वह खुद झाड़ू लगाता, और सारी जगह साफ रखता था। सचमुच नहाने-धोने के लिए यह बड़ा सुन्दर स्थान है।

राधा-माधव और जानकी-रमण के मन्दिरों की मुझे कुछ कुछ धुँधली-सी याद थी। मन्दिरों की अब वह श्री-शोभा नहीं रही थी। गढ़ी को बाहर से देखते हुए हम खजुराहे के मन्दिर देखने के लिए राजनगर से पैदल ही चल पड़े। वहाँ के एक सज्जन भी हमारे साथ हो लिये।

समय बहुत कम था। उसी रात को हमें छतरपुर वापस जाना था। चार घंटे में ही शिव-पुरी के तथा खजुराहे गाँव के जैन मन्दिरों को हमने जल्दी-जल्दी देखा। सबसे ऊँचा और सुविशाल मन्दिर यहाँ खड़ारिया (कन्दरीय) महादेव का है। यह ७२ हाथ लम्बा, ८६ हाथ चौड़ा और लगभग ७८ हाथ ऊँचा है। मन्दिर के पाँच भाग हैं— सबसे पहले अर्द्धमण्डप, उसके बाद मण्डप, उसके आगे महामण्डप, उसके बाद अन्तराल और फिर गर्भगृह। स्थापत्य और मूर्तिकला इस की विशेष सुन्दर है। किन्तु इससे भी ऊँचा शिल्प नैपुण्य लक्ष्मीजी के मन्दिर का है, जो खड़ारिया मन्दिर के उत्तर में स्थित है। यह

मन्दिर भी विशाल है। सम्भवत पहले यह विष्णु-मन्दिर रहा हो, क्योंकि इसके गर्भगृह के द्वार पर मध्य मे विष्णु तथा दोनो पार्श्वों मे शिव और ब्रह्मा की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। विश्वनाथ का मन्दिर भी शिल्प-कला की दृष्टि से खसा सुन्दर है। इसके शिला-लेखो मे १०५६ और १०५८ ये दो सवत् खुदे हुए है। एक लेख मे चदेलवशी राजा धंग और उसके पुत्र गडदेव के नामो का उल्लेख मिलता है। पर इसमे भी प्राचीन 'चतुर्भुज, का मन्दिर है। आकार मे यह विश्वनाथ के मन्दिर के जैसा ही है। किन्तु मूर्तियाँ इसकी अत्यन्त सुन्दर हैं। इस मन्दिर को चदेलवशी राजा यशोवर्मन और उसके पुत्र धगदेव ने सवत् १०११ मे बनवाया था। मन्दिर के शिला-लेख मे चदेल राजाओ की वशावली भी खुदी हुई है। चतुर्भुज-मन्दिर के पूर्व मे वाराह-मन्दिर है। वाराह की सुन्दर विशाल मूर्ति दर्शनीय है। इसके शरीर पर अगणित मानव मूर्तियाँ खुदी हुई है। चतुर्भुज मन्दिर से दक्षिण दिशा मे मतगेश्वर (मृत्युञ्जय) महादेव का मन्दिर है। यह मन्दिर प्राचीन नहीं है, यद्यपि मतगेश्वर की प्रतिमा प्राचीन मालूम देती है। इस मन्दिर मे ऐसा कोई विशेष शिल्प-नैपुण्य भी नही है। सूर्य-मन्दिर के उत्तर की ओर हमने एक भग्न स्तूप देखा। आसपास और भी कई टूटे फूटे स्तूप यहाँ दिखते हैं। सम्भवत ये बौद्ध मठो के भग्नावशेष हो, जिनका वर्णन चीन के प्रसिद्ध यात्री यूअन चुयांड ने किया है।

बहुत सी भग्न मूर्तियो और अवशेषो का राज्य ने एक सग्रहालय बना दिया है। उसे भी हमने सरसरी नज़र से देखा। खुदाई और शोध का काम यहाँ कम ही हुआ है। मन्दिरो की मरम्मत का काम

भी अधिक सन्तोषजनक नहीं हुआ । नया काम पुराने से मेल नहीं खा सका, साफ़ अलग दिखता है । विन्ध्य प्रदेश को तथा भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग को इस उपेक्षित ऐतिहासिक स्थान के पुनरुद्धार का पूरा प्रयत्न और आयोजन करना चाहिए ।

पुरी से हम लोग खजुराहा गाँव गये । यहाँ कई जैन मन्दिर हैं । पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्त्ति बड़ी भव्य है । छठी-सातवीं शताब्दियों के बौद्ध भग्नावशेष भी यहाँ मिले हैं । मालूम होता है कि एक बौद्ध मन्दिर पर शायद बाद को जैनों ने अधिकार कर लिया था । आदिनाथ का मन्दिर बाहर से ही देखा । पुजारीजी ताला बन्द करके कहीं घूमने चले गये थे ।

खजुराहे में बौद्ध, जैन तथा ब्राह्मण धर्म के मन्दिर पास-पास बने हुए हैं । इससे हमें इन धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता का परिचय मिलता है । महाप्रतापी चन्देल राजाओं ने जेजाकभुक्ति के इस प्राचीन नगर को सचमुच उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था । वे कितने ऊँचे कलाप्रिय रहे होंगे, इसकी साक्षी आज भी ये अनेक प्राचीन मन्दिर दे रहे हैं ।

चित्त जहाँ यह सब स्थापत्य और मूर्त्ति-कला देखकर हर्षित हुआ, वहाँ एक दृश्य देखकर कुछ खिन्न भी हुआ । कतिपय मन्दिरों में, खासकर कुँडारिया महादेव के मन्दिर में, प्रस्तर खण्डों पर खुदे हुए कुछ चित्रों को देखकर क्षोभ हुआ । ये रतिकला विषय के अश्लील चित्र थे । उड़ीसा के प्रसिद्ध मन्दिरों पर भी इस भ्रष्टता का प्रदर्शन देखने में आता है । यथार्थवादियों ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर इस अश्लील कला के पक्ष का अद्भुत तर्कों से समर्थन भी किया है । पर मैं तो ऐसे

कला प्रदर्शन को, चाहे वह कितना ही सुन्दर हो, 'नारकीय' ही कहूँगा। हमारी अनुपम शिल्पकला की उज्ज्वल कीर्त्ति पर निश्चय ही यह एक कलक रेखा है। ऐसे तमाम वीभत्स चित्रो को तोडकर उनके स्थान पर सुन्दर शील-सम्पन्न चित्र क्यो न खुदवा दिये जायें।

दूसरे दिन, जिस दिन मै छतरपुर से दिल्ली के लिए रवाना होने-वाला था, कुछ मित्रो ने छतरपुर के जैन पुस्तकालय मे मेरा स्वागत-सत्कार किया। जाग्रत जैनबन्धुओ की यह एक खासी अच्छी संस्था है। जैनधर्म पर मैने वहाँ एक भाषण भी किया।

पर, वहीं सामने, 'सरस्वती-सदन' पुस्तकालय की दुर्गति देखकर व्यथा भी हुई। प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ स्व० लाला भगवानदीनजी की प्रेरणा से यह पुस्तकालय स्थापित हुआ था। यहाँ के तत्कालीन साहित्य-सेवियो का यह प्रिय स्थान था। देखा कि न तो सरकार का इसे सहारा मिल रहा है, न जनता का। पुस्तकें इधर उधर अस्त व्यस्त पडी थी और उन्हे दीमक खारही थी। मकान भी बेमरम्मत पडा था। देखकर क्लेश हुआ।

यही चौबीस बरसों के बाद की मेरी जन्मभूमि की आकस्मिक यात्रा थी। अनेक चलस्वप्नों के बीच आखिर पाँच दिन का यह भी एक स्वप्न-दर्शन ही था। देखकर सुख भी हुआ, दु ख भी हुआ, और सुख-दु ख दोनों आये, और वायु वेग से दोनों गुज़र भी गये। घर के लोगों ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा किया जो इतने बरसों बाद तुम एक बार 'देश' हो आये।" मैने मन मे कहा—"पर मैं 'परदेश' में कब था? जहाँ कहीं भी रहा, देश में ही तो रहा।

मुझे तो सभी भूमियों ने जन्मभूमि की ही भाँति स्नेह से अपने अंक में रखा। 'कच्छप' जातक की एक गाथा याद आ रही है—

गामे वा यदि वा रञ्ञे सुखं यत्राधिगच्छति।
तं जनित्तं च भवित्तं पुरिसस्स पजानतो॥

अर्थात्, ग्राम या वन में जहाँ भी मनुष्य को सुख मिले, वहीं उसकी जन्मभूमि है, वहीं उसके पालन की जगह है।

अंत में तो सदा से वतन में ही रहा हूँ। मगर फिर भी न जाने क्यों कभी-कभी अपने आपसे कह बैठता हूँ—"असल वतन क्यों छोड़ दिया?"

: ४८ :

सम्मेलन ने फिर खींच लिया

१६४६ के अन्त मे ऐसा ही एक और आकस्मिक प्रसंग आगया। सहृदय हिन्दी-ससार ने मुझे, मेरी पुरानी नगण्य सेवाओं की ओर देखकर, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद पर बिठाने का निर्णय कर डाला। मुझे इसका पता ग्वालियर की टेनरी (चर्मालय) मे चला, जहाँ मैं मुर्दार चमडा देखने व खरीदने के लिए गया था। दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' मे यह खबर छपी थी। मुझे हर्ष नहीं, किन्तु आश्चर्य सा हुआ। सिर पर जैसे एक भारी बोझ आ पडा। पर निर्णय होचुका था। डेढ़-दो महीने पहले मेरे एक-दो सम्मान्य मित्रों ने नाम वापस न लेने के विषय मे मुझे अनुरोधपूर्वक लिखा था। उसके बाद चुनाव के संबंध मे फिर मुझे कुछ पता नही चला। अब गुरुजनो तथा मित्रो की आज्ञा शिरोधार्य करना ही मेरा परमधर्म था।

चित्त उन दिनो, कुछ कारणो से, काफी अस्थिर था। उद्योगशाला के व्यवस्था-कार्य से मन उचट-सा गया था। कुछ भी निश्चय न कर सका। भाषण तैयार करना आवश्यक था, पर सूझ नही रहा था कि लिखूँ तो क्या लिखूँ। फिर भी अधिवेशन आरम्भ होने से दस-बारह

दिन पहले बेमन से जैसे-तैसे कुछ तो स्वयं लिखा और कुछ बोलकर लिखाया। भाषा और साहित्य के विषय में मेरे जो इतने वर्षों के टूटे-फूटे संचित विचार थे उन्हें, जिस तरह बना, तीन-चार दिन में सत्वर लिखा दिया और उससे मुझे संतोष भी हुआ।

इस बीच में, और बाद को भी, मेरे पास कुछ ऐसे पत्र आए जिनके लेखकों का न्यूनाधिक संबंध दलबन्दियों से था। स्वभावतः मैं ऐसे प्रश्नों में रस नहीं लिया करता। मेरी मोटी बुद्धि उलझी हुई बातों को समझ भी नहीं पाती। मेरा सही या ग़लत कुछ ऐसा मत बन गया है कि अधिकांश टीका-टिप्पणी प्रायः ऐसे ही लोग किया करते हैं, जो श्रमसाध्य रचनात्मक कार्यों से अलग रहते हैं। दुर्भाग्य से हमें साहित्य और संस्कृति के पुण्य क्षेत्रों में भी या तो राजनीतिक 'साँचे' में ढले, या फिर हलके फुलके 'टाइप' के लोग अधिकतर दिखाई देते हैं। फिर स्वार्थों ने जैसे इन पवित्र क्षेत्रों में भी प्रवेश पा लिया है। परिणामतः जहाँ-तहाँ परस्पर की टीका-टिप्पणी प्रायः सुनाई देती है। किन्तु अपेक्षाकृत मुझे तो स्वच्छ वातावरण ही सर्वत्र मिला। दलबंदी उत्तर में आश्रय न पाकर, स्वयं निष्प्राण हो जाती है। मुझे तो सचमुच सभी ने सदा स्नेह-रस से ही अभिषिक्त किया।

मेरे बहुत-से मित्रों ने आशा प्रकट की कि मैं अपना अधिक-से-अधिक समय सम्मेलन के सेवा-कार्य में दूँगा। उन्हें मैं संतोषकारक उत्तर नहीं दे सका। जिस संस्था में मैं इतने वर्षों से बैठा हूँ उसे, जब तक कि जीवन-रस बिलकुल सूख नहीं गया, कैसे छोड़ दूँ? साथ ही, अपनी शक्तिभर सम्मेलन का भी काम करता रहूँगा, इतना ही विश्वास

मै करा सका। काम तो सम्मेलन के आगे इतना विशाल पडा है कि उसमे सैकडो अनन्य निष्ठावाले सेवक खप सकते है। पर सभी सब काम कहाँ कर सकते हैं? अश ही हमारे हिस्से में आता है। जो अश मेरे भाग में आयेगा उसे मैं श्रद्धा-भक्ति से करूँगा, यही मैंने विनम्र सकल्प किया।

२३ दिसम्बर की रात को मैं कराची के लिए रवाना हुआ। रेल की इस लम्बी यात्रा मे भारी कष्ट अनुभव किया। निचले दरजे की मुसाफिरी आजकल कितनी कष्टकर हो गई है, इसका मुझे इसी यात्रा मे पूरा अनुभव हुआ। दस घंटेतक तो मैं पेशाबतक नहीं कर सका, वहाँतक जाना असभव हो गया। जागरण तो सारी रात हुआ ही। साथ मे मेरे अपने दोनों लडके तथा उद्योगशाला के उत्साही कार्यकर्त्ता आन्ध्र-निवासी श्री चोला विष्णु भी गये थे। दिल्ली और लाहौर के भी कई साहित्यकार मित्र उसी डिब्बे मे, कराचीतक गये। उनके विनोदी स्वभाव ने मेरी सारी थकान दूर करदी। अधिवेशन के बाद सिध का दौरा करने का मलकानीजी ने मुझे हैदराबाद से वही गाड़ी मे निमंत्रण दे दिया। उनके प्रेमपूर्ण आग्रह को कैसे टाल सकता था?

पूज्य टंडनजी को कराची के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी श्रीलालजी मेहरोत्रा के यहाँ ठहराया गया, और मुझे वहीं मेहरोत्राजी के मकान के सामने श्रीबालमुकुन्द खन्ना के घर पर। खन्नाजी की पत्नी श्रीशान्ति देवी ने जिस निश्छल स्नेह से हमारा आतिथ्य किया वह भुलाया नही जा सकता। शान्ति दो-तीन दिन में ही मेरी छोटी बहिन बन गई। बहुत अपनापन दिखाया। शान्ति बहिन के ऊँचे सुसंस्कृत

विचारों को जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैं यहाँ सम्मेलन के अधिवेशन का अनावश्यक वर्णन करने नहीं बैठा हूँ। पर दो तीन संस्मरणों का उल्लेख अवश्य करूँगा।

भारतवर्ष के ही नहीं, एशिया के सुविख्यात भाषाशास्त्री श्रीमान् सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या से मिलकर बड़ा आनन्द-लाभ हुआ। इतने भारी विद्वान् को अध्यक्ष बनाकर राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस वर्ष वास्तव में अपने को शोभान्वित किया। सुनीति बाबू की विनयशीलता और मिलनसारी देखकर मैं मुग्ध और आश्चर्यचकित रह गया। उनके भाषण में अगाध पाण्डित्य भरा हुआ था। भाषण में प्रकारान्तर से रोमन-लिपि का समर्थन-सा किया गया था। केवल उसी अंश पर मुझे आश्चर्य हुआ, पर वहाँ भी मेरा श्रद्धा का ही भाव था। मेरे मन में हुआ कि हम लोग कैसे लापर्वाह हैं, जो न तो इस अमरकीर्ति महा-पण्डित से यथार्थ ज्ञानसञ्चय ही कर रहे हैं, और न इसे यथेष्ट श्रद्धा-दान ही दे रहे हैं! यह सामान्य सत्कार भी इस उद्भट विद्वान् को बहुत पीछे मिला।

स्वागत-समिति ने सूफी-समागम तथा सिन्ध की गान-वाद्य-कला के प्रदर्शन का भी आयोजन किया था, जिसमें हिन्दू मुसलमान दोनों ने ही भाग लिया था। शाहलतीफ की चीजों को सुन-सुनकर लोग झूमते थे। यह महान् सूफी सन्त आज भी सिन्धियों के हृदय पर अधि-कार किये हुए है। सिन्ध के राष्ट्र-कवि दुखायल ने भी अपनी कवि-ताएँ खजड़ी पर गाईं। यह कोरे कवि ही नहीं, रचनात्मक कार्य भी करते थे। सिन्ध में दुखायल को मैंने खूब लोकप्रिय पाया। फिर

वाद्य-प्रदर्शन हुआ। एक गुणी मिया ने सिन्धी बीन बजाकर सबको मन्त्र-मुग्ध-सा कर दिया। रात के बारह बजेतक यह कला-प्रदर्शन होता रहा। मैंने देखा कि भट्टी के मुँह पर खडा हुआ भी सिन्ध प्रदेश अपनी ललित कलाओ और भारतीय सस्कृति को बहुत-कुछ बचाये हुए है। प्रेम के इसी कच्चे धागे ने सिन्ध के हिन्दू-मुसलमानों को सदियो से बाँध रखा था। पर अफसोस, वह प्यारा धागा आज बुरी तरह से तोड दिया गया। पाकिस्तानी नेताओ और प्रणेताओ ने वहाँ के प्रेम-सिन्धु के अन्दर हलाहल घोल ही दिया।

कला-प्रिय गुजराती-समाज ने एक दिन प्रसादजी का 'अजातशत्रु' नाटक खेला था, और एक दिन नृत्यकला का प्रदर्शन रखा था। सिनेमा तो मैं कभी देखता ही नही, इधर बरसो से नाटक देखने का भी अवसर नही आया था। कभी मन ही नही होता। पर कराची में उन लोगो का अनुरोध टाल नहीं सका। नाटक भी देखा और नृत्यकला का प्रदर्शन भी। छोटे-छोटे बच्चो का नृत्य मुझे प्यारा लगा। पर बडी लडकियो का नाच देखना मेरे लिए कठिन होगया। वह सब अच्छा नही लगा। दर्शकों की हर्ष-सूचक आवाज़ो का सुनना असह्य-सा होगया। पर वहाँ से उठ भी नही सकता था। जडवत् बैठने का यत्न किया। किन्तु इर्द-गिर्द बैठे हुए कई साहित्य-रसिक नृत्य करनेवाली लडकियो के कलात्मक मूक अभिनय पर मुग्ध होरहे थे। मै मान लेता हूँ कि नृत्य निर्दोष था, किन्तु बारबार मन मे यह भाव तो उठता ही था कि मनोरजन के अधिक निर्दोष साधन सुलभ नहीं हो सकते हैं क्या? और ऐसे-ऐसे प्रदर्शन साहित्य और सस्कृति के क्या वस्तुत: अभिन्न अंग हैं?

मैं जानता हूँ कि अनेक साहित्यशास्त्री मेरे इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही देंगे। फिर भी वे मुझ 'शुष्क ज़ाहिद' का आयत नहीं कर सकेंगे। नींद बुलाने का यत्न करता था, पर आती नहीं थी। नीचो ताल किये अन्यमनस्क सा बैठा रहा। शायद टण्डनजी मेरी मनोदशा को भाँप गये थे। सवेरे के नृत्य के समय उन्होंने मेरी तामसी समाधि को भंग कर दिया। मेरे भी मुँह से निकल पड़ा—'हाँ यह मूक अभिनय अच्छा रहा।' पर समाप्ति पर उठा मैं रंगशाला के सामने से विषाद समेट-कर ही।

कला-प्रदर्शन के बाद तुरन्त ही कवि-सम्मेलन होनेवाला था, यद्यपि रात के बारह बज चुके थे। कवि-सम्मेलनों में भी जाना मुझे पसन्द नहीं। इन सम्मेलनों के विषय में मैं काफी सुन चुका था। पर यह कवि-सम्मेलन सवा-डेढ़ घंटे के अन्दर ही भदन्त आनन्दजी की अध्यक्षता या शासन में सानन्द समाप्त हो गया। कविता-पाठ में शील-मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ। मैंने अपने भाग्य को सराहा।

फँसा तो मैं बहुत बुरी तरह मथुरा में था—साहित्य वाचस्पति सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के जयन्ती-समारोह के अवसर पर मेरे सभापतित्व में उस दिन वसन्तोत्सव मनाया गया था। कार्यक्रम में आयोजकों ने 'पढ़न्त' भी रखदी थी। मैंने स्वयं 'पढ़न्त' का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझा था। स्थानीय कवि-समाज ने स्वरचित तथा प्राचीन कवियों का कविता पाठ शुरू किया। गणेश और सरस्वती की वन्दना के पश्चात् ऋतुराज के रसीले कवित्तों का पाठ प्रारम्भ हुआ। फिर संयोग शृंगार के कवित्त पढ़े जाने लगे। निर्बाध रूप से पाते ही

चले जाते थे। पढ़न्त का यह प्रचंड प्रवाह रुकने का नाम नहीं ले रहा था। मैं तो घबरा गया।

इस प्रकरण से यह न समझा जाये कि ऐसी कविताएँ रीतिकाव्य के रसिक ही पढ़ते या सुनाते हैं। ऐसी बात नही है। आधुनिक युग के भी कई कवियों की ऐसी ही बल्कि इनसे भी अधिक कुरुचिपोषक कविताएँ कवि-सम्मेलनो में पढ़ी जाती हैं, और उन्हे खूब दाद भी दी जाती है। इस शीलघातक कुप्रवृत्ति का अन्त होना ही चाहिए।

: ४९ :

मेरा अभिभाषण

कराची-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से राष्ट्र भाषा और साहित्य के संबध मे मैंने जो विचार व्यक्त किये थे उनके मुख्य मुख्य अंशो को, संक्षिप्त रूप मे, इस प्रकरण में देता हूँ।

राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के संबध मे मेरा मत सम्मेलन के मत से कभी भिन्न नहीं रहा। मै हिन्दी को उसके प्रचलित रूप मे ही राष्ट्र भाषा और नागरी लिपि को राष्ट्र-लिपि मानता हूँ। इसमें मेरा सदा ही शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहा है। उसकी एक शैली उर्दू भी है, जिसका चलन कुछ विशिष्ट जनों में पाया जाता है, और उसे मै आदर की दृष्टि से देखता हूँ। सदा से भारत राष्ट्र की व्यापक भावनाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाली संस्कृत और प्राकृत-मूलक भाषाएँ ही रही है। और हिन्दी ने इस दिशा मे सबसे अधिक काम किया है। राष्ट्रीय चेतना को जगाने और फैलाने में वह सबसे अधिक समर्थ भाषा सिद्ध हुई है।

भाषा के प्रवाह को मैंने सदा सहज या 'अयत्न-साधित' माना है। साथ ही, भाषा और शैली दोनों विषय विशेष का अनुसरण

करती है। विषय की यथेष्ट अभिव्यंजना लेखक या वक्ता के यथार्थ ज्ञान पर निर्भर करती है। कबीर की भाँति गांधीजी की भी हिन्दी स्वभाव-सरल होती थी। मगर उनके 'हरिजन-सेवक' की हिन्दुस्तानी भाषा में यह बात नहीं रही। उसमे हिन्दी-उर्दू का बेमेल गठबन्धन भौंडेपन से किया गया। यह भद्दा परिहास मुझे खला। समन्वयीकरण मे भाषा की मूल प्रकृति का ध्यान न रखने से समन्वय कोई अर्थ नही रखता। समन्वय वैसा, जैसा कि राग मे भिन्न-भिन्न स्वरों का। प्रत्येक राग का, उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार, बँधा हुआ स र-ग-म' होता है। इस स्वर को यहाँ इतना स्थान मिला है, तो उस या उन स्वरो को भी उतना ही मिलना चाहिए,अथवा यह स्वर मध्यम लगाया गया है तो वह भी मध्यम ही लगाना चाहिए,—इस न्याय-नीति को लेकर हम स र ग म की पुनर्रचना करने बैठेंगे, तो उससे कौन-सा राग बनेगा ? इस नीति से कभी सामजस्य सिद्ध होने का नहीं। इससे तो भाषा की प्रकृति का अग भग ही होगा, वह असुन्दर या विरूप ही बनेगी। असली सिर काटकर उसकी जगह बकरे का सिर चिपका देने से दक्ष प्रजापति की जो शकल बनी थी उसे देखकर तो भगवान् रुद्र भी खिलखिलाकर हँस पडे थे। उस विचित्र आकृति को नर और अजा का समन्वय कहने के लिए क्या आप तैयार है ?

इसलिए, मैने कहा मेरी राय मे हिन्दी और उर्दू को अपने अपने रास्ते बढने और फैलने दिया जाये। राष्ट्र के विचारो व भावो को व्यक्त करने की जिसमें जितनी अधिक सामर्थ्य होगी वह उतने ही बडे जनसमूह को स्वयं अपनी ओर खींच लेगी। उद्यान मे हम

सभी फूलों को अपने-अपने रस में महकने दें, एक पेड़ का फूल तोड़कर दूसरे पेड़ की डाली पर न खोंसते फिरें। भ्रमर किन फूलों पर जाकर बैठते हैं और किनपर नहीं, इस व्यर्थ की चिन्ता में न पड़ें—इस पसंदगी को तो आप रसग्राही भ्रमरों पर ही छोड़ दें। प्रकृत रसिकों के आगे कृपया गिने-चुने फूलों के गुलदस्ते सजा-सजाकर न रखें।

मैंने यह भी कहा कि राजनीतिक और साम्प्रदायिक प्रश्न हमारी भाषा पर प्रभाव और दबाव नहीं डाल सकते। उसपर राज-शासन नहीं चल सकता, उलटे राष्ट्र-भाषा के अन्दर राज्य को जमाने और उलट देने की शक्ति विद्यमान है। राष्ट्र की भावनाओं को जगाने और एक छोर से दूसरे छोरतक फैलाने में हिन्दी का सबसे अधिक हाथ रहा है। हिन्दी को किसी खास सम्प्रदाय की भाषा कहने का आज कौन दुस्साहस कर सकता है?

हिन्दी की जिस संस्कृतनिष्ठता पर आज आक्षेप किया जाता है वही तो उसकी लोक-व्यापकता का मूल कारण है। हिन्दी को संस्कृत-निष्ठ कहना ही गलत है। हिन्दी तो हिन्दी है।

अपने भाषण में 'हिन्दुस्तानी' की वर्तमान प्रवृत्ति पर भी मैंने स्पष्टतः अपना मतभेद प्रकट किया। मैंने कहा कि हिन्दी की विशिष्ट शैली उर्दू को जो सीखना चाहें शौक़ से सीखें। उर्दू के लहलहे बाग़ से हम अच्छे खुशबूदार फूल चुन सकते हैं। यदि हमसे बने, तो फारसी साहित्य का भी ज्ञान-लाभ कर सकते हैं। किन्तु संस्कृतमूलक या संस्कृतयुक्त भाषा-भाषियों पर उर्दू को और हिन्दुस्तानी के नाम से परिचित उस क़ौमी ज़बान को, जो उर्दू का ही एक भद्दा रूप है—हठपूर्वक लादा

ओर थोपा नहीं जा सकता।

राष्ट्र-भाषा के संबंध में मैंने इसी प्रकार के विचार अपने अभिभाषण मे प्रकट किये। मेरे कई मित्रों को आश्चर्य हुआ और कुछ ने तो शिकायत भी की—"साफ़ ही तुम्हारे ये विचार गांधीजी के भाषा-विषयक विचारों के विरुद्ध जाते हैं। तुम्हें तो हम आजतक गांधीवादी मानते आ रहे थे। गांधीजी के प्रति तुम्हारी क्या यही श्रद्धा-भक्ति है? अव्वल तो सम्मेलन की अध्यक्षता तुम्हें स्वीकार ही नहीं करनी चाहिए थी, जबकि गांधीजी सम्मेलन का परित्याग कर चुके हैं।"

ये लोग नहीं जानते थे कि गांधीजी के त्यागपत्र का अर्थ सम्मेलन का परित्याग नहीं था। वे तो, उन्हींके शब्दों में, 'सम्मेलन अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए सम्मेलन से निकले थे।' फिर मैंने अपने आपको कभी गांधीवादी कहा भी नहीं। गांधीजी के प्रति मेरी श्रद्धा-भावना अवश्य रही है। उनकी बहुत-सी बातों को सच्चाई से ग्रहण करने का यत्न भी किया है। पर उनकी या किसीकी भी हरेक बात को बिना सोचे-समझे, आँख मूँदकर, मानने को मेरी आदत नहीं रही। गांधीजी ने हमें ऐसा सिखाया भी नहीं। राष्ट्र-भाषा के संबंध में उनसे अपना भिन्न मत रखकर भी मैं उनका एक विनम्र भक्त बना रह सका। उनके प्रति जितने अंशों में मेरी श्रद्धा-भक्ति रही उसे तो स्वयं गांधीजी भी नहीं छीन सके।

एक दो सज्जनों ने तो यहाँतक कह डाला था कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को उसके वर्तमान स्वरूपमे विशुद्ध राष्ट्रीय संस्था कैसे कहा जा सकता है! इस अज्ञानपूर्ण आरोप का मैंने रोषपूर्वक उत्तर दिया, और

रोष आ जाना स्वाभाविक था। यह उत्तर कि, जिस संस्था के प्रधान कर्णधार, उसके जन्म-काल से ही, नख से शिखतक राष्ट्रीय-ही-राष्ट्रीय श्रीटण्डनजी अबतक रहे हों, उसे अराष्ट्रीय कहने का दुःसाहस करना सरल नहीं। हाँ,वह कर्णधार, जिसने एक बार यहाँतक कहा था कि,"यदि मैं देखूँगा कि सम्मेलन राष्ट्र के विरुद्ध जा रहा है, तो उसमें अपने हाथ से आग लगा दूँगा।" राष्ट्रीयता की परिभाषा स्थिर है और रहेगी। वह पग-पग पर पलटनेवाली चीज नहीं है। उसके मूल तत्त्वों पर, जो स्थिर हैं, राजनीतिक दावपेंचों के बल पर होनेवाले सौदों का असर नहीं पड़ना चाहिए।

साहित्य के कला-पक्ष की सूक्ष्म गति-विधियों का स्वल्पतम ज्ञान न होते हुए भी उसपर मैंने अपने कुछ टूटे फूटे विचार व्यक्त किये। मेरी दृष्टि कबीर, तुलसी, सूर तथा जायसी पर ही स्वभावतः पड़ी। देखता हूँ कि इन अमरकीर्ति कवियों के कारण हमारा साहित्य हिमालय की ऊँचाई और सागर की गहराई से होड़ लगा सकता है। इनकी शुभ्र वाणी ने विश्व-मानव को वह अमृत-सन्देश दिया है जिसके बल पर वह दुर्जित आसुरी सैन्य पर आज भी विजय प्राप्त कर सकता है।

संत-वाणी को मैंने 'अवर्ण' माना है। उसका सब कुछ श्वेत-ही-श्वेत है, जो निर्मलता का विशुद्ध प्रतीक है। भाषा इस निर्मल आलोक में अपने को भूल जाती है। यथार्थवाद और आदर्शवाद और सभी प्रकार के वाद इस रसार्णव में विलीन हो जाते हैं। वह हमें उस निर्मल अन्तरिक्ष में, अपने रुपहरे परों पर

बिठाकर, उड़ा ले जाती है, जहाँ हम अपने रस-मानस का निखरा-ही निखरा रूप पाते है। पर आज हम अपने आसपास इस शुभ्ररस को पा नही रहे हैं। हमारी अध्ययन-चिंतन की वह परम्परा मानों भग्न हो गई है। हमने पश्चिम से 'शव-परीक्षा' करना सीख लिया है। 'शिव-दर्शन' हमे नहीं मिल रहा। न हम उतनी ऊँचाई पर उठते हैं, और न उतने गहरे ही उतरते हैं। धीरे-धीरे हमने जैसे साधना की ओर से दृष्टि फेरली है, और वैज्ञानिक शब्दजाल मे उलझ-से गये हैं। राजनीतिक छाया ने भी हमारी दृष्टि को धुँधला-सा कर दिया है।

आगे चलकर मैंने इसपर भी आश्चर्य और क्लेश व्यक्त किया कि शीलघातक रीतिकाल की ही भाँति हमारे कुछ आधुनिक सुकवि भी यथार्थवादिता एव प्रगतिशीलता की ओट मे प्रकारान्तर से उद्दाम वासना को लाक्षणिक रचनाओ द्वारा अनुचित उत्तेजन दे रहे है। ऐसी रचनाओ से उपलब्ध रस क्षणिक और उन्मादक ही होता है। सच्चा आनन्द-रस तो उच्छृंखल चित्तवृत्तियो के निरोध से ही उपलब्ध होता है। 'फिसलन' को हम सहज वृत्ति क्यो कहें? प्रगति तो हमारी ऊँचे चढने मे है। प्रियतम की सहज सेज तो 'गगन-मंडल' में अथवा तो 'सूली' के ऊपर है—किसी गढे मे वह साजन अपनी सेज लगाने नहीं गया। गढे में तो कर्दम-ही-कर्दम है। उत्पत्ति कमल की कर्दम से भले ही हुई हो, पर आनन्द-विकसित तो वह 'ऊपर ही' 'ऊँचे पर' ही हुआ है न? यथार्थ सहज असल में क्या वस्तु है? मेरी दृष्टि मे आत्मा का सहज विकास ही यथार्थ है। मनुष्य के उदात्त भावो को, उसके उत्तमांश को, जिससे व्यष्टि और समष्टि

दोनो का उदय और अभ्युदय होता हो, अनुभूति को भाषा द्वारा हूबहू चित्रित करना ही यथार्थ कलात्मक अभिव्यंजना है। समाज से जैसा पाये वैसे-का-वैसा उसे लौटा देने में कलाकार की कोई विशेष कुशलता नहीं। सखिये को यथा-का-यथा न देकर शुद्ध करके ही देते हैं। मानव मे पशु की अर्चना करने मे यथार्थ कला नहीं, कलाकार का धर्म तो मानव को उसके अपने रूप में, जो निश्चय ही पशु से ऊपर अथवा 'पशुपति' है और असीम सुन्दर है, ज्यों का त्यों चित्रित करना ही है।

कविता मे विभिन्न वादों के प्रवेश पर भी मैंने मनोवेदना प्रकट की। मैंने कहा कि कवि बेचारे को नि:शक्त समझकर जैसे इन विभिन्न वादों ने अपने नागपाश मे जकड रखा है। इसी प्रकार लाक्षणिक अभिव्यंजना को अति ने भी कविता की आत्मा को कुछ ऐसा ढक लिया है कि वह गूढ-से-गूढ बनती जा रही है। रस उसमें तरल रूप में नहीं रहा, बल्कि जम-सा गया है। आन्तरिक भावों की रहस्यात्मक व्यंजना तीन-चार ही अमरकीर्ति कवि कर सके है। उनका भद्दा अनु-करण बहुत अधिक किया जा रहा है।

राष्ट्रीय क्षेत्र भी बहुत हरा-भरा नहीं दिख रहा है। मैथिलीशरण तथा एक-दो सुकवि ही अपवादरूप हैं। हमारे राष्ट्र के कवियो को भावनाओं को क्रियाशीलता से ज्वलंत प्रेरणा नहीं मिली, तो फिर वे राष्ट्र की चेतना और अचेतना के साथ एकाकार हो तो कैसे? समाज के निम्न स्तर के साथ एकाकार हुए बिना वे युग की वाणी के सच्चे प्रवक्ता हो नहीं सकते।

कहानी, उपन्यास, नाटक, इन अगो पर मैंने अधिक नही कहा। कविता की आलोचना के अन्तर्गत ललित-पक्ष के इन अंगो का भी लगभग समावेश हो जाता है। केवल इतना ही कहा कि हमारे कलाकार कृपया यूरोप-अमेरिका के साथ इन क्षेत्रो मे फिलहाल प्रतिस्पर्धा न करे। उन्हे प्रतिभा और लेखनी को अब अन्य दिशाओ में मोडना चाहिए। साहित्य-शरीर के ये अग कुछ फूल-से गये हैं, वैसे स्वस्थ नहीं बन पाये। भ्रष्ट कहानियो की भडकीली पत्रिकाओं और समाज के शील एवं पौरुष को नष्ट करनेवाले निरंकुश चित्रपटो पर भी मैंने जनता और सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। इस विषैले वातावरण में ऊँचे दरजे की कहानियाँ, उपन्यास और नाटक कैसे बढ़ या पनप सकते हैं ? मुझे भय लगता है कि हमारे ऊँचे कलाकारों की कृतियों को यह दिन-दिन फैलता हुआ शैवाल-जाल कही बिल्कुल ढक न दे।

अन्त में, वैज्ञानिक साहित्य-निर्माण, लोक-साहित्य-संरक्षण तथा ऊँचे अनुवादो द्वारा अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान की आवश्यकता की ओर राष्ट्र-भाषा-प्रेमियो का ध्यान खीचा। पत्रकारों और अपने लेखक बन्धुओ से भी दो-दो शब्द कहे। और उपसंहार इन शब्दों में किया—

"सम्मेलन का मार्ग लोक-सेवा का मार्ग है। भारत राष्ट्र की सेवा उसने बिना किसी भेद-भाव के की है। जैसे राष्ट्र, वैसे भाषा भी सबकी। सम्मेलन का किसी भी भाषा से वैर या विरोध नही है,—भाषा के रूप में अंग्रेजी से भी नहीं। विरोध तो उसकी उस दुष्टता से है, जिससे उसने हमारे मानस को बुरी तरह मोहित या आक्रान्त कर

रखा है। हमारे राजकाज में, हमारे आपसी व्यवहार में, हमारी सार्वजनिक संस्थाओं में अंग्रेजी क्यों दखल दे? अंग्रेजों के साथ ही अंग्रेजी को भी हमें पदच्युत करना है यह हमारी प्रतिज्ञा है।'

अभिभाषण पर तरह-तरह की सम्मतियाँ आईं, पर संतोष तो मुझे अपने एक विचारशील मित्र की इस सम्मति से हुआ— यह दूसरी बात है कि तुम्हारे विचारों से कोई सहमत हो या असहमत, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि भाषा और साहित्य के विषय में तुमने स्पष्टता और ईमानदारी से अपने विचार व्यक्त किये हैं।"

: ५० :

सिन्ध-प्रवास

अधिवेशन के बाद राष्ट्रभाषा-प्रचार के उद्देश से सिन्ध के चार-पाँच स्थानों में घूमलेने का वचन मैं अपने मित्र आचार्य मलकानी को दे चुका था। तदनुसार सम्मेलन के प्रधानमन्त्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा तथा भदन्त आनन्द कौसल्यायन के साथ मैं सबसे पहले हैदराबाद गया। मलकानीजी हैदराबाद के निवासी हैं। वहाँ उनकी पत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी से आठ साल बाद मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। राष्ट्रभाषा-प्रेमी भाई प्रताप दियालदास के मकान पर हमे ठहराया गया। इनका परिष्कृत कला-प्रेम देखकर मैं मुग्ध होगया। अत्यन्त मनोरम चित्रों और फारसी की पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकों का इनका सुन्दर संग्रह सचमुच देखनेलायक था। मलकानीजी ने हमें हैदराबाद के कई मशहूर मकबरे तथा शहर के अनेक प्रसिद्ध स्थान दिखाये। शाम को राष्ट्रभाषा के कार्यकर्त्ताओं तथा हिन्दी-प्रेमियों की एक सभा हुई, जिसमें भदन्तजी ने अपने भाषण में राष्ट्रभाषा हिन्दी की बड़े अच्छे ढंग से हिमायत की।

उसी रात हमलोग लरकाना के लिए चल दिये। रास्ते में टंडनजी तथा अन्य कई मित्र साथ हो लिये। लरकाना से मोएनजो दड़ो जाने

का हम लोगों ने कार्यक्रम बनाया था। इस प्राचीनतम मानव-स्थान को देखकर हमने उस दिन अपनी सिन्ध प्रदेश की यात्रा को सफल माना।

पर वहाँ योग्य 'गाइड' का अभाव बहुत खटका। एक मुसलमान गाइड ने हमें वहाँ की एक-एक चीज दिखाई। सबसे पहले वह हमें एक बौद्धस्तूप दिखाने ले गया और हम नासमझों को समझाने लगा—"यह स्तूपा है, बुध धरम के फकीर लोग यहाँ पर खुदा की इबादत किया करते थे।" हमारे भदन्तजी इसपर हँस पड़े—"मेरे भाई, बुध धरम के फकीर तो खुदा तो क्या रूह पर भी यकीन नहीं लाते हैं, फिर इबादत वे किसकी करेंगे।" पर हमारा विद्वान् गाइड तो बारबार अपनी खोजपूर्ण बात को गले उतारने का यत्न कररहा था।

पाँच-छह हजार वर्ष पुरानी स्थापत्य-कला देखकर हम सब आश्चर्यचकित रह गये। इन भग्नावशेषों को देखने से पता चलता है कि मोएन्जो दड़ो नगर में सफाई का जैसा सुन्दर प्रबन्ध था, गंदगी बहाने के लिए जैसी अच्छी नालियाँ बनी हुई थीं, वैसी दक्षिण मेसोपोटामिया के सुप्रसिद्ध नगर उर में भी नहीं थीं। मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यताएँ दुनिया में बहुत प्राचीन मानी जाती हैं, पर इनके साथ यहाँ की तुलना करने पर मालूम होता है कि भारतवर्ष में उनकी अपेक्षा जीवन की सुख-सुविधाओं का कहीं अधिक अच्छा प्रबन्ध था। वहाँ के गेहूँ के दाने भी हमने देखे, जो आजकल के पंजाबी गेहूँ के से ही थे। बहुत-से मकानों में चर्खे की पिंडलियाँ भी मिली हैं, जिनसे पता चलता है कि घर-घर में चर्खा चलता था और बहुत महीन कपड़े बुने जाते थे।

दो-ढाई घण्टे में हमने सरसरी नज़र से घूम-फिरकर सब देख डाला। हमारी दृष्टि सामान्य यात्रा की ही थी। पुरातत्त्व के ज्ञाता की दृष्टि से देखने में एक नहीं दो-या तीन दिन भी लग सकते थे। काश हमारे मित्र डा० वासुदेवशरण अग्रवाल अथवा काका कालेलकर हमारे साथ उस दिन वहाँ होते।

मोएन्जो दड़ो से दिन के तीसरे पहर हमलोग लरकाना वापस आये। यहाँ से टंडनजी सक्खर चले गये और मेरे दोनों लड़के दिल्ली। शाम को हिन्दी-प्रेमियों की सभा हुई, जिसमें मलकानीजी धाराप्रवाह सिंधी में बोले और हम तीनों सरल हिंदी में। दूसरे दिन भी तीन शिक्षण-संस्थाओं में हमारे भाषणों का आयोजन किया गया। शर्माजी के भाषणों का अध्यापकों और विद्यार्थियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

लरकाना की एक चीज़ मुझे हमेशा याद रहेगी। जिस बाग में हम-लोग ठहरे थे, वहाँ बगल की सड़क से सामूहिक गायन की जैसी आवाज़ रात को और सवेरे भी जब कई बार मेरे कानों मे पड़ी, तब मैंने मल-कानीजी से पूछा, "क्या आजकल यहाँ कोई त्यौहार मनाया जा रहा है? गाने की जैसी आवाज़ आती तो नजदीक से ही है, पर कोई शब्द समझ में नहीं आ रहा। यह चे-में चें-में आखिर है क्या?" विनोद-प्रिय मलकानीजी ने तुरन्त हमारी जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कहा—"ये सिंध की बैलगाड़ियाँ हैं, जो मोएनजो दड़ो के ज़माने के गीत गा रही हैं, या फिर स्वर के साथ रो रही हैं।" चार-चार छह-छह बैलगा-ड़ियाँ जब एकसाथ चलती हैं, तब उनके पहियों से एक आवाज़ निक-लती है। इस बारे में देहात के लोग इतने अधिक पुराणप्रिय हैं कि

बैलगाड़ियों में कुछ भी सुधार नहीं करना चाहते। उनकी वह गायन या रसीले रोदन की विचित्र ध्वनि आज भी मेरे कानों में गूँज रही है।

खरकाना से हमलोग सक्खर गये, और वहाँ से शिकारपुर। वहाँ भी वही, वैसा ही कार्यक्रम—कार्यकर्त्ताओं की तथा सार्वजनिक सभाएँ, हमारे भाषणों में वही प्रचारात्मक पिष्टपेषण, वही करतल-ध्वनि, और सर्वत्र फूलमालाओं से वही स्वागत-सत्कार। मैं तो इन दस-बारह सभाओं से ही घबरा गया। और एक वे हैं, जो चुनाव के दिनों में हफ्तों रोज़ दस-दस बारह-बारह सभाओं में गरज-गरजकर बोलने चले जाते हैं, और थकने या ऊबने का नाम भी नहीं लेते। हमारे शर्माजी सक्खर की सार्वजनिक सभा में पौने दो घंटे बोले और ऐसा बोले कि श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। मैं तो पाँच मिनिट ही बोलकर बैठ गया। कुछ सूझ ही नहीं रहा था कि और क्या बोलूँ!

सक्खर-शिकारपुर की एक मजेदार घटना का उल्लेख अवश्य करूँगा। हमारी इस यात्रा में हैदराबाद की लक्ष्मी (लच्छो) नाम की एक सिंधी लड़की भी थी। उसकी भी घूमने की इच्छा थी, इसलिए मलकानीजी उसे अपने साथ ले आये थे। सरल स्वभाववाली इस सिन्धी लड़की की हिन्दी-निष्ठा और राष्ट्र-भक्ति देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। सक्खर की सभा में वह मेरे पास बैठी हुई थी। एकसाथ कई लोगों को वहाँ ऐसा लगा कि यह वियोगी हरि की लड़की है। सभास्थल से उठने पर रास्ते में लच्छो ने मुझसे कहा—"आजसे आप मेरे धर्मपिता हुए। जो बात दो-तीन दिन से मेरे मन में चक्कर काट रही थी, उसे इन लोगों ने आज कह दिया। हमारा यह आकस्मिक सबंध क्या पूर्वसंबद्ध

नहीं है ? आज से आप मुझे अपनी पुत्री मानोगे न ?' बिना किसी हिचकचाहट के मैंने 'हाँ' कह दिया। न जाने कहाँ से मेरे हृदय में स्नेह उमड आया। लच्छो उसी क्षण मेरी लडकी हो गई, जैसे कोई खोई हुई लडकी अकस्मात् मिल गई हो। मैंने मन में कहा—"तू मोह-ममता से दूर-दूर भागता था, पर तेरा पवित्र परिवार, देख, बढ़ता ही जा रहा है। अभीतक तेरी एकमात्र वात्सल्य-भाजन पुत्री दमयन्ती (चि० भगवत की पत्नी) है, जिसे तू स्नेह से 'बिटिया' कहा करता है। अब यह लच्छो भी तेरी पुत्री बनगई। तेरा 'अनिकेत' गृह अभी और भी भरेगा, परिवार और भी बढेगा। प्रभु की जैसी इच्छा।" मैं आशा करता हूँ कि मेरा यह स्वीकृत परिवार मेरे बधन का कारण न बनकर निर्लिप्तता की ही ओर मुझे ले जायेगा। पर आज मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। सब 'हरि के हाथ निबाह' है।

लाहौर के लोक-सेवक-मडल के सदस्य श्री सेवकरामजी मुझे रात को नौ बजे अपने कुछ मित्रों के साथ घुमाते हुए सक्खर की हरिजन-बस्ती दिखाने ले गये। मेरे लिए तो यह सक्खर के साधुबेला तीर्थ के जैसा ही पवित्र स्थल था। बस्ती में पैर रखते ही ऐसा लगा, जैसे अपने घर में आगया। मन मेरा नाच उठा। भंगी भाइयों की वह खासी अच्छी बस्ती थी। सब पजाब और राजस्थान के मूल निवासी थे। घर अच्छे स्वच्छ थे। वहाँ स्कूल था, दवाखाना था और उनका अपना छोटा-सा कोआपरेटिव बैंक भी। जब मैं पहुँचा, वे लोग भजन गारहे थे। सेवकरामजी ने सक्खर के कार्य का संक्षेप में परिचय दिया और चार-पाँच मुखियों ने अपने-अपने मोहल्ले की शिकायतें सुनाईं। आम

शिकायत बहुसंख्यक जाति द्वारा उनकी औरतों पर होनेवाले अत्याचारों की थी। जवाब में मैंने साहस और दृढ़ता के साथ अत्याचारों का सामना करने के लिए कहा, और साथ ही अपने परम सेवकों की उपेक्षा करनेवाले उपस्थित नागरिकों को भी कुछ धिक्कारा। बस्ती से चलते समय मैंने अपने हृदय में जैसे पवित्रता के संचार का अनुभव किया।

शिकारपुर की बस्ती देखकर तो और भी अधिक आनन्द हुआ। शिकारपुर के हरिजन कार्यकर्त्ता डा० किशनचन्द को मैंने धन्यवाद दिया, जो ऐसा सुन्दर स्थान दिखाने मुझे ले गये थे। यह बस्ती हरिजन सेवक-संघ की कृति थी। स्वच्छ और सुन्दर बस्ती थी। स्कूल की इमारत भी शानदार देखी। और सक्खर की तरह यहाँ भी कोआपरेटिव बैंक था। इन बस्तियों में जाकर मैंने अपनी सिन्ध-यात्रा को सचमुच सफल माना। संतोष हुआ कि पूज्य बापा के लिए भी सिन्ध से कुछ ले जा रहा हूँ।

सिन्ध प्रवास के सभी भाषणों में हम लोगों ने प्राय एक ही बात पर ज़ोर दिया। सिन्ध में देवनागरी लिपि के प्रचार की सब से बड़ी आवश्यकता अनुभव की। अन्य अनेक भारतीय भाषाओं की भाँति सिन्धी भी प्रकृति से संस्कृत-प्राकृतमूलक है। सिन्धी के विद्वान् लेखक श्री कमतमल नारूमल ने अपने सिन्धी भाषा के व्याकरण में, जिसे १८९२ में सिन्ध-सरकार ने प्रकाशित कराया था, लिखा है, " सिन्धी में कुल २०,००० शब्द हैं, जिनमें १२००० संस्कृत के तद्भव हैं, १५०० देशज हैं, २००० फारसी के और २५०० अरबी के शब्द हैं। १५०० देशी शब्दों में भी बहुत-से संस्कृतमूलक शब्द हैं। क्रियाएँ, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण और अव्यय सब संस्कृतमूलक ही हैं।"

लिपि के संबंध में सिन्धी के विद्वान् पंडित ट्रम्प ने, १८४७ में प्रकाशित अपने सिन्धी भाषा के व्याकरण में, लिखा है– "संस्कृत वर्णमाला ही सिन्धी वर्णमाला के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है; क्योंकि सिन्धी भाषा संस्कृत-प्राकृत की सच्ची पुत्री है। अरबी लिपि में प्राकृत भाषा के लिखने में भारी कठनाई होती है।" डा० ट्रम्प का मत स्पष्ट एव वैज्ञानिक है। जब संस्कृत और प्राकृतमूलक अन्य प्रांतीय भाषाएँ देवनागरी अथवा उससे मिलती-जुलती लिपि मे लिखी जाती हैं, तो केवल सिन्धी भाषा को ही परिवर्द्धित अरबी लिपि में लिखने का कोई कारण नहीं। इस लिपि को १८५३ में ईस्टइंडिया कपनी के डायरेक्टरों ने प्रयोग के रूप में यहाँ चलाया था। मैंने अपने भाषणों में जगह-जगह यही अनुरोध किया कि सिन्ध के सब राष्ट्र-प्रेमियों को इस लादी हुई अवैज्ञानिक लिपि का मोह छोड़ देना चाहिए, और उसके स्थान पर राष्ट्र-लिपि देवनागरी को स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि सिन्धी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति देवनागरी लिपि के द्वारा ही हो सकती है। देवनागरी लिपि के स्वीकार से ही सिन्ध अपना साहित्यिक संबंध राष्ट्रभाषा हिन्दी से स्थापित और दृढ़ कर सकेगा।

यह देखकर मुझे सन्तोष हुआ कि सिन्ध का विद्वत्-समाज इस सत्य को अनुभव कररहा था, किन्तु सिन्ध संकट की जिन विषम परिस्थितियों में से गुजर रहा था उन्हें देखते हुए कुछ कहा नहीं जा सकता था कि भविष्य में क्या होने वाला है। हाल में, लोकतंत्रवाद को पैरोंतले कुचलकर एक वर्ष के भीतर ही जो कुछ हुआ वह तो सब को विदित

है ही। जिस तरीके और जिस नीयत से यहाँ 'सिन्ध-यूनिवर्सिटी' बिल पास हुआ उसे देखकर तो सिन्ध देश की संस्कृति और सिन्धी भाषा का भविष्य अभी तो घोर अन्धकारमय ही दीखता है। फिर भी हम, आशा के विरुद्ध भी, आशावान हैं कि अदृष्ट लोक-शक्ति अपनी व्यापक संस्कृति की, जो शेष भारत से अविच्छिन्न है, रक्षा कर ही लेगी। राज-शासन की जड़ों के मुकाबिले लोक-संस्कृति की जड़ें बहुत गहरी और दृढ़ होती हैं।

: ५१ :

मेरा परिवार

पिछले प्रकरणों में प्रसंगानुसार परिवार के कई परिजनो का मैंने उल्लेख किया है। इस प्रकरण में—जिसे मैं कुछ सकोच या पशोपेश के साथ लिख रहा हूँ—अपने कुटुंबियो के संबंध मे कुछ अधिक लिखना चाहता हूँ। पशोपेश यह रहा कि पाठकों को घरेलू या खानगी बातों में क्यो बेकार उलझाऊँ, पर साथ ही, यह भी सोचा कि सब-कुछ मैंने पाठकों को ही ध्यान में रखकर थोडा ही लिखा है। किसीके भी जीवन-प्रवाह ने दूसरों की राजी या नाराजी पर बहुत ध्यान कब दिया ? परिजनो की चर्चा करने या न करने से कृतज्ञता या कृतघ्नता का प्रश्न नहीं उठता, पर यह अवश्य है कि चित्र यह अधूरा-सा रह जायेगा, और मुझे, और शायद स्वय मेरी कहानी को भी, पूरा संतोष नहीं होगा। फिर मेरा यह सारा चित्र ऐहिक ही तो है। सांसारिक संबंध तो सब ज्यों-के-त्यों कायम ही हैं। यह सोचकर, इसलिए, जहाँ मेरा जन्म हुआ उस घर के कतिपय संबंधियों की, तथा बाद को स्वभावतः स्वीकारने से जो विशिष्ट परिवार मेरा आज बन गया है उसकी भी थोडी विस्तृत चर्चा इस प्रकरण मे कर लेना चाहता हूँ।

आरंभ इस कथा का मेरे पूज्य नाना और नानी के पुण्य स्मरण से हुआ था, सो उनके विषय में अब और अधिक नहीं लिखना। अपनी धर्ममाता पर भी एक अलग प्रकरण लिख चुका हूँ। जन्मदात्री माँ के विषय में ही मैं अबतक लगभग मौन-सा रहा हूँ। माँ सदा मेरे साथ रहीं, फिर भी मैं उनसे कुछ अलग-अलग-सा ही रहा। इलाहाबाद तथा पन्ना में मैं उनसे एक-एक, दो-दो मील के फासले पर रहता था, दिल्ली में एक ही जगह रहा—सात-आठ साल तो एक ही घर में, और अब हरिजन-निवास में ज़रा हटकर दूसरे मकान में। बोला भी हमेशा उनसे बहुत कम। उनके हाथ का परोसा खाना भी कभी-कदाच ही खाया होगा। घर में सदा अपने हाथ से ही परोसकर खाने की मेरी आदत रही। संबोधन भी सामने माँ या किसी अन्य शब्द से नहीं किया। गरज़ यह कि जैसा चाहिए था वैसा संपर्क नहीं रहा। विवाह न कराकर माँ को मानसिक क्लेश भी बहुत दिया। मेरे ममेरे भाइयों व उनके बच्चों के लालन-पालन में अपने दुःख को उन्होंने एक तरह से भुला दिया सही, पर जीवन तबसे उनका कुछ नीरस-सा ही बन गया। पर मेरे प्रति उनके सहज स्वाभाविक स्नेह में कोई कमी नहीं आई। रूढ़िग्रस्त ब्राह्मणकुल की कई परंपराओं को त्यागकर मेरी खातिर सुधारों को भी उन्होंने बहुत-कुछ अपना लिया। देह जर्जरित, फिर भी गिरस्ती के किसी काम-काज में आलस नहीं, थकान नहीं। भोजन में सादा दाल रोटी। न दूध से मतलब, न घी से, दूध तो कभी बीमारी में भी नहीं, जवाब यह कि दूध तो बच्चों के लिए है, इतना महँगा दूध मैं भला पिऊँगी! पहनने को मोटी खादी की धोती, यद्यपि

वृद्धावस्था में मोटा कपडा वैसे सधता नहीं। पर महीन खादी पर पैसा कैसे खर्च किया जाये, और फिर इतना पैसा आये भी कहाँ से? मुझसे कभी कोई बड़ा सुख नहीं मिला। स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने भीतर वह ऊँची भक्ति-भावना नहीं पाता, जो माता के प्रति स्वभावत होनी चाहिए। इसका कारण? प्रकृति ही मेरी कुछ ऐसी बन गई है। पर जान-मानकर मैंने उनकी कभी उपेक्षा नहीं की, अविनय की तो बात ही नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्ति को विरक्ति भी नहीं कहूँगा, पर जैसी होनी चाहिए वैसी भक्ति-भावना मैंने अपने हृदय में देखी नहीं। फिर भी माँ ने मेरी इस उदासीनता की किसीसे कभी शिकायत नहीं की। उनके स्नेह की थाह मै पा नही सका, यद्यपि वह स्नेह सीमित-सा ही रहा, बहुत व्यापक नहीं बन सका।

मेरे मामा भगवानदासजी भी जीवन-भर जैसे रोते ही रहे, आँसू बहाने में कभी मितव्ययिता से काम नहीं लिया। क्रोधी होते हुए भी हृदय उनका बडा कोमल रहा। अकर्मण्यता और दुर्भाग्य ने आजीवन उनका पीछा नहीं छोडा। लडकों को भी अधिक पढा-लिखा नहीं सके। तीन लड़कों में से केवल एक लक्ष्मण ही कुछ बन गया। वह छुटपन से हमारे साथ रहा। गिरस्ती का छकडा उसीने चलाया। सबसे बडे लड़के रामप्यारे ने जीवन का सुख नहीं पाया। उसका विवाह नहीं हो सका। बेचारा कहीं वहीं एक गाँव से दूसरे गाँव में सारी ज़िन्दगी मारा-मारा भटकता फिरा। मैंने उसके जीवन में दयनीय गरीबी और सरलता देखी। और छोटा लडका भी जीवन क्षेत्र में पैर नहीं जमा सका। मामी का देहान्त हुए भी कई साल होगये। मामा को घर की

मोह माया फिर भी बुरी तरह घेरे रही। बाप-गुणी होते हुए भी अपने दुखी दरिद्र घर को कभी त्यागा नहीं। इधर, इस तरफ लोग प्राय फाकेमस्त और फटेहाल रहना पसंद करते हैं, और बाप दादों के घर से हर हालत में चिपटे रहते हैं। मुझपर मामा का सदा निश्छल सकरुण स्नेह रहा। मैं उनकी कोई खास मदद नहीं कर पाया और लड़कों से भी उन्हें जैसा चाहिए वैसा सहारा नहीं मिला।

जैसाकि ऊपर कहा है, लछमण मेरे, बल्कि ज्यादा सही तो यह है कि अपनी बुआ के साथ रहा, फिर भी एक ही जगह रहते हुए भी मुझसे उसका मिलना-जुलना हमेशा बहुत कम हुआ। अपने काम से काम रखा। मैं बोला तभी जवाब दिया। मुझसे हमेशा डरा। इसे पुराने ढर्रे की शील मर्यादा ही कहनी चाहिए। कई बच्चों का बाप होते हुए भी कभी मेरे सामने अपनी स्त्री से नहीं बोला। पहले 'हिन्दुस्तान टाइम्स' प्रेस में था, बाद को बिड़ला मिल में नौकरी करली। एक बार किसी गलती पर मुअत्तिल कर दिया गया था। चुपचाप घर में बैठ गया, पर मझसे सिफारिश करने के लिए नहीं कहा। मैंने सुना तो बल्कि उसे ऊपर से और डाँटा।

और शान्ति—लछमण की पत्नी—भी गरीब स्वभाव की ही मिली। सारे दिन चुपचाप काम करती रही। कभी किसी बात पर खीझ आगई तो कोने में बैठकर चार आँसू ढार लिये, और फिर वैसे ही काम में लग गई। किसी वस्तु की इच्छा प्रकट नहीं की। मेरी माँ के शासन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया। जिस दरिद्रग्रस्त वातावरण में वह पैदा हुई और बड़ी हुई उसे भुलाकर यहाँ शहर के

अपरिचित वातावरण को संयत रूप से अपनाने में उसे कोई खास कठिनाई नहीं हुई। यहाँ आकर अपने-आप थोडा अक्षर-ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। पढ़ी-लिखी प्रगतिशील महिलाओं की दृष्टि में शान्ति-जैसी गृहिणी का भले ही अधिक मूल्य न हो, पर इस पिछडी हुई श्रेणी की हमारी कुल-वधुएँ ही भारत की शीलमूलक आर्य-परम्परा को थोडा-बहुत साधे हुए हैं और सद्भाग्य से आज भी उनकी बहुत बडी संख्या है। कौन उनकी अज्ञात कथाएँ लिखने जाता है? किस महिला परिषद् ने उनका प्रतिनिधित्व किया है?

मैं अपनी स्वीकृत बहिन की चर्चा पिछले एक प्रकरण मे कर चुका हूँ। घटना-चक्र से उनके जीवन के कितने सारे वर्ष मानसिक क्लेश में बीते, फिर भी मेरे लिए उनके चिन्ता-जर्जरित अतर मे भ्रातृस्नेह ज्यों-का-त्यों बना रहा। उनके पवित्र स्मरण ने स्वभावत' मेरे हृदय में सदा शीतलता और सात्विकता का सचार किया।

विवाह न करने से असल मे जिसे 'गृहस्थी' कहते हैं उसके सुख-दु.ख का प्रत्यक्ष अनुभव मैने स्वय नहीं किया। दूर से ही कुतूहल की दृष्टि से देखता रहा कि किस प्रकार विवाह-बधन में पड़कर देखते-देखते मनुष्य का रूपान्तर हो जाता है। नर और नारी दोनों एक नया ही संसार बसा लेते हैं, पुराने ससार को बरबस भूलने-से लग जाते हैं। यह नही कहता कि यह रूपान्तर या अभिनव सृजन बुरा है। शायद अच्छा भी हो, शायद कुछ अशों में बुरा भी हो, इसका पता तो शायद समय पर अभिनय के उन पात्रों को भी न लगता हो। तथापि अपनी बाँधी हुई नई सीमाओं के अन्दर स्वच्छन्द घूमना उन्हे सुखद ही

मालूम देता होगा। उन सीमाओं को उद्बोधपूर्वक कितनों ने तोड़ा? वह अद्भुत पुरुषार्थ कभी-कभी ही कहीं देखने में आया। यों भिक्षु लाखों-करोड़ों हुए, पर उनमे से बुद्ध कितने बन पाये? गृह बसानेवालों की कृत्रिमता उनके जीवन में स्वाभाविक-सी बन जाती है, तो इसमें आश्चर्य क्या! बाहर से देखनेवालों को भले ही ऐसा लगता हो कि वे आग की लपटों के बीचों-बीच जल भुन रहे हैं, पर कौन जाने कि उन्हे वे लपटें भी शीतल प्रतीत होती हों! क्या पता कि रोते-कराहते हुए भी वे अपने रचे लौह-जाल के भीतर पड़े-पड़े मधुर मदिर स्वप्न देखा करते हों। तटस्थों को भले ही उनकी विवशता पर तरस आता हो, पर उन गृह-स्रष्टाओं को तो शायद अपने इस मोहक रोदन में भी जीवन-संगीत सुनाई देता होगा। उन की अपनी आँखों से बाहर-बाहर से देखनेवालों ने उनके चिर-सेवित स्वप्नों को कब देखा है?

मैंने 'गृहस्थी' को बिना ही प्रयास के जिस जगह से ३२ वर्ष पहले खड़े होकर देखा था, वहाँ से तो मुझे उसका कटुता-भरे संघर्ष का डरावना पहलू ही दिखाई दिया था। प्रेम के क्षेत्र में उसे मैंने 'जोड़क' नहीं, किन्तु 'तोड़क' माना था। मैं घबरा गया था। प्रकृति से मन में भावातिरेक जो था, या फिर मैं बिल्कुल दुर्बल था। उस संघर्ष-दर्शन से अभिभूत हो गया। भागकर फिर अपने आपसे जो सतत संघर्ष किया वह क्लेशकर और भीषण रहा। अनेक अतृप्त वृत्तियों पर काबू नहीं पा सका। मानसिक पतन तो हुआ ही। लड़ते-भिड़ते इतना कुछ मार्ग, काल की सहायता से, काट पाया हूँ, किन्तु जिस

आश्रम को अज्ञानपूर्वक उस दिन अस्वीकार किया था, और जिसे कुतूहलपूर्ण अतृप्त दृष्टि से देखता रहा, उसके एक रस ने, जो मधुर है किन्तु मादक नहीं, मुझ जर्जरित यात्री को, जीवन यात्रा के उत्तरार्द्ध में, अपनी ओर खींच लिया। मेरा आशय 'वात्सल्य' रस से है। मैंने स्वयं अपनी धर्म-माता की गोद में असीम वात्सल्य पाया था। आदान का दान में परिणत होना प्राकृतिक था। प्रतीक्षा केवल समय की थी। संस्कार अन्दर दबे पडे रहे। सयोग ही कहूँगा कि वह दबी पडी वात्सल्य-भावना समय पाकर ऊपर उठ आई—फलत भगवत और मोती को पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया अथवा इन लड़कों ने ही पहले मुझे पितृरूप में स्वीकार किया। यह पितृ-पुत्र-सबन्ध बिना किसी जाब्ते के सहज भाव से हुआ।

इनका परिचय क्या दूँ ? दोनों उद्योगशाला के स्नातक हैं, और मेरे बच्चे हैं। भगवत बडा है, मोती छोटा। यों तो कई वर्षों से किन्तु आत्मजों के जसा सपर्क इनका मेरे साथ आठ-नौ वर्षों से है। दोनो में मैंने साहित्यिक अभिरुचि का पाया, हिन्दी-साहित्य के कुछ ग्रन्थ भी पढ़ाये। भगवत कविता भी लिखने लगा, और कुछ-कुछ पक्तियाँ उसकी सरस भी देखीं। उपनाम अपना उसने 'शिशु' रखा, जो उसकी प्रकृति को देखते हुए शायद थोडा सार्थक भी लगा। मैने उसे कविता लिखने का प्रत्यक्ष प्रोत्साहन नहीं दिया, पर उसकी उस अभिरुचि को दबाया भी नहीं। साधारणतया अकुश इतना ही रखा कि कविता के शील-विरोधी प्रवाह में कहीं वह बह न जाये। मोती ने भी खासी साहित्यिक योग्यता प्राप्त करली। सम्मेलन का वह

'साहित्य-रत्न' भी हो गया। अपने विचारों को उसने स्वतंत्रता के साथ प्रकट किया, किन्तु शील-मर्यादा का ध्यान रखा।

मैंने सहज भाव से इन दोनों पर अपना सचित वात्सल्य उँड़ेला। फिर भी कभी-कभी ये मेरे साथ ढिठाई और थोड़ी रुखाई का भी व्यवहार कर बैठे। इनके आपसी मनमुटाव से कई बार मुझे मनोव्यथा भी हुई। अस्तु, इनके विषय में और अधिक क्या लिखूँ। इनके लिए मैं अबतक कुछ कर नहीं पाया। अपने अपरिपक्व सद्विचार ही कभी-कभी इनके सामने रखे। हृदय से सदा चाहा कि इन दोनों में दिन-दिन सद्बुद्धि और शील का विकास होता रहे, दोनों में भ्रातृभाव फूलता-फलता रहे, सासारिक सुखों को स्वाभाविकतया ये भले भोगें, पर उन्हें पहला स्थान न दे बैठें, और अपनी जीवन-दृष्टि का चरम लक्ष्य अभी से ही परमार्थ को बनालें। मैं तो इतना ही सकेत दे सकता हूँ कि द्वेष की भाँति राग भी एक आग का ही मोहक रूप है, जलाते दोनों ही हैं—इसलिए भरसक इस आकर्षक आग से वे दूर ही रहें। यही मेरी आशा है और यही आकाक्षा है। यों कौन किसका जीवन-निर्माण करता है? हमारी तो केवल कल्याण-कामना ही हो सकती है। प्रत्येक का निर्माण वास्तव में वातावरण और बाह्य कारणों की अपेक्षा अपने-अपने स्वभावसिद्ध सस्कारों पर ही अधिक निर्भर करता है। कामना में ममता-जनित सूक्ष्म अहकार तो निहित रहता ही है, जो उसकी उज्ज्वल आशा को भी मलिन कर देता है। ऐसा एकागी प्रेम में नहीं होता। पर एकागी प्रेम कहाँ देखने में आता है? आशा इसमें कितनी कुछ बाधा डालती है! सच्चा कल्याणकामी तो परमपिता परमात्मा ही

हो सकता है, और उसीकी इच्छाएँ पूरी होती है।

अपनी पुत्रवधू, भगवत की पत्नी सौ० दमयंती को मैं अपनी पुत्री—बिटिया के रूप में मानता हूँ। यह सुप्रसिद्ध स्व० पंडित भीमसेन शर्मा की पौत्री है। यह विवाह मेरे मित्र श्री पं० हरिभाऊ उपाध्याय के प्रस्ताव से हुआ। लड़की सरल और सुशील दिखी। मेरे प्रति उसका वैसा ही पूज्यभाव बन गया जैसा कि पिता के प्रति किसी पुत्री का होता है।

और एक वर्ष बाद चि० मोती का भी विवाह हो गया। उसकी पत्नी सौ० इन्दुमती भी मेरी पुत्रवधू अथवा छोटी पुत्री बन गई। मुझसे बोलती बहुत ही कम है, इसलिए मैंने उसका 'गूंगी लड़की' यह नाम रख लिया है। देहरादून के प्रख्यात समाज-सेवी स्व० चौधरी बिहारीलालजी तथा श्री गिरधारीलालजी की यह भानजी है।

यह हुआ मेरा स्वीकृत परिवार। भगवत और मोती पर जो मेरा विशेष स्नेह-भाव हो गया उसे कभी-कभी मेरा अति पक्षपात भी कहा गया। इसे अस्वीकार नहीं करता, कर नहीं सकता। मैने कभी निष्पक्ष होने का दावा नहीं किया। नहीं जानता कि इस जीवन मे निष्पक्ष कभी बन भी सकूँगा। न नितान्त निष्पक्ष अभीतक कोई मेरे देखने में आया है। यो उद्योगशाला के सभी विद्यार्थी एवं स्नातक मेरे बच्चे-जैसे हैं और मुझे प्रिय हैं, पर इस तथ्य को स्वीकार करने मे मुझे तनिक भी सकोच नहीं होता कि ये दोनों लड़के मुझे विशेष प्रिय हैं, क्योंकि ये मेरे स्वीकृत पुत्र हैं। पर यह विशेषत्व सामान्यत्व का विरोधी नहीं है। अन्तर दोनों में मात्र अपेक्षा का है। पक्षपात उतना ही, जितना

उचित और स्वाभाविक है। और फिर मैं भी हूँ तो सबकी तरह सामाजिक जन ही। संसार से ऊपर मैं कहाँ उठा हूँ ? यह अवस्था तो निर्लिप्तता या अनासक्ति से ही प्राप्त होती है। वह अवस्था अभी कहाँ ? सामने उसका अस्पष्ट-सा केवल कल्पना-चित्र है। मगर 'मन-मोदकों' से किसीकी भूख शान्त हुई है ? सचमुच जिसने साधना के पथ पर पैर भी न रखा हो उसके सामने ऐसे-ऐसे विचारों का मूल्य कल्पना-चित्रों से अधिक नहीं। फिर भी हरि-कृपा से सब कुछ साध्य है। वहाँ अघटित भी घटित हो जाता है। प्रेमपूर्ण पक्षपात मनुष्य को किसी दिन निष्पक्ष भी बना लेता है। अव्यक्त की भावना व्यक्त की उपासना से ही तो सिद्ध होती है।

अन्त में प्रार्थना है कि मेरे ये बन्धन ही मेरी मुक्ति के कारण बन जायें, मेरा यह सीमित प्रेम ही सीमाओं को तोड़दे। जिस बन्धन के द्वार से मुझे मुक्ति पाने की आशा हो, जिस प्रेम के आश्रय से असीम को आलिंगन देने की आकांक्षा हो, उस बन्धन और उस प्रेम पर मैं क्यों न नम्रतापूर्वक सात्त्विक गर्व करूँ ? उसके लिए अपने आरोपियों की भी शुभ कामना चाहता हूँ।

: ५२ :

महा परिनिर्वाण

राजनीति से यद्यपि मैंने कभी कोई सोधा सबध नहीं रखा, तो भी स्वदेश-प्रेम का मेरे हृदय में एकात अभाव नही रहा। यों राजनीति हरेक के लिए आवश्यक और उपयुक्त भो नही। जब मैं छतरपुर मे था, तब भी, उस अँधेरे कूप के अन्दर भी, देश-प्रेम की मुझे कुछ-कुछ हवा लग चुकी थी। बुन्देलखण्ड की रियासतें उन दिनो सभी दृष्टियो से बहुत पिछडी हुई थीं। देश-भक्ति की मामूली चर्चा करना भी वहाँ भारी राजद्रोह समझा जाता था। एक तो लोगो में अखबार मँगाने और पढ़ने का भी शौक नहीं था, दूसरे, जो इधर-उधर से ले-देकर पढ़ते थे उनपर पुलिस कडी निगाह रखतो थी। अखबारो में कभी-कभी बंगाल के क्रान्तिकारियो की और स्वदेशी-आन्दोलन की भी खबरें छपती रहती थीं। ऐसी खबरो को मैं ज़रूर पढ़ता था। मुझे याद है कि कुवँर कन्हैयाजू को छत्रसाल की जोवनी 'बुन्देलखण्ड-केशरी' जैसी निर्दोष पुस्तक लिखने पर मुकदमा चलाये बग़ैर ही कैद में डाल दिया गया था। अँग्रेज़ी राज के प्रति प्रजा मे पूरी वफ़ादारी थी। अँग्रेज तब परमात्मा द्वारा भेजे हुए भारत के खास उद्धारक और त्राता

समझे जाते थे।

देश-भक्तों में लोकमान्य तिलक, मालवीयजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और अरविन्द घोष यही चार-पाँच नाम हम लोगों ने सुन रखे थे। इन राष्ट्र नेताओं के लिए मन में भक्ति-भाव पैदा हो गया था। सोचता था कि क्या कभी इन बड़े बड़े नेताओं के दर्शन कर सकूँगा। दो तीन महापुरुषों की मामूली जीवनियाँ भी पढ़ी थीं। कुछ बाद को उस समय की प्रसिद्ध पुस्तक 'देश की बात' भी शायद पढ़ी थी।

इलाहाबाद आया तब राजनीतिक आन्दोलनों को प्रत्यक्ष देखा। अनेक बड़े बड़े नेताओं के दर्शन किये और उनके भाषण भी सुने। यह गांधी-युग का उदय-काल था। इस ऐतिहासिक युग का आरम्भ बड़े प्रचंड वेग से हुआ। मैं उन दिनों टंडनजी के घर में रहता था। वे जिस त्याग और निर्भीकता से असहयोग-आन्दोलन में कूदे वह सब मैंने अपनी आँखों से देखा। उनकी पहली गिरफ्तारी का दृश्य हज़ारों को रोमांचित कर देनेवाला था।

इस असहयोग आन्दोलन में मुझसे और कुछ योग तो देते बना नहीं, हाँ, तनपर मोटी खादी अवश्य धारण करली। खादी तभी से मेरे शरीर का अंग बनी हुई है। देश प्रेम से प्रेरित होकर असहयोग संबंधी तीन-चार छोटी छोटी किताबें भी उन्हीं दिनों लिखीं।

जब सन् ३०का सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ा तब मैं पन्ना में था। आंदोलन की हवा देशी रियासतों में भी पहुंची थी। छत्रपुर राज्य में तो चरणपादुका स्थान पर गोली भी चली, जिससे कितने ही निर्दोष आदमी मारे गये। पकड़-धकड़ भी काफ़ी हुई। गड़बड़ी देखकर एक-दो जगह

डाकुओं ने भी सिर उठाया। संगठन तो था नहीं, इसलिए आन्दोलन को उधर कोई खास सफलता नहीं मिली। कई बार मन में आया कि इलाहाबाद जाकर मैं भी सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लूँ। पर संकल्प दुर्बल होने के कारण मेरी भावना क्रिया का रूप न ले सकी। राजसी वातावरण मे रहते रहते साहस जैसे पंगु-सा हो गया था। फिर भी मेरे स्वदेश प्रेम में कमी नहीं आई। वहाँ अग्रेजो की दुर्दान्त प्रभु-सत्ता देखकर उनके तथा उनके दासानुदास राजाओं के खिलाफ मेरी विद्रोह-भावना और अधिक बढ गई। फिर भी कुछ कर नही पाता था।

दिल्ली में आकर सब कुछ अनुकूल पाया। पर राजनीतिक हल-चलो से यहाँ भी अलग ही रहा। सन् १९४२ की देशव्यापी राज-क्रान्ति को भी एक तटस्थ दर्शक की तरह दूर से ही खड़े-खड़े देखता रहा। कूदने को जी चाहा, पर पूज्य बापा का दृढ आदेश था कि संस्था को चलाना ही है, किसी भी हालत मे उसे बंद नहीं करना है, हाँ, सरकार हमें उठाकर बाहर फेंकदे तो बात दूसरी है। कांग्रेसी मित्रों में से कुछ ने तो हमारी तटस्थता को अच्छा कहा, और कुछ ने हमें धिक्कारा भी। देश की स्वाधीनता का यह अन्तिम युद्ध था। पछतावा जरूर रहा कि इस महायज्ञ मे भी मैं आहुति न डाल सका। घाटे में भी रहा। मेरे पास आज जेल-यात्रा का एक भी 'सर्टीफिकेट' नही है। फिर भी देशानुराग की आग बुझी नहीं। मेरे लिए इतना ही बहुत था।

आदतन खादीधारी होते हुए भी चर्खा तो नियमित नही कात सका, पर नित्य नियमित रूप से अखबार पढ़ने का शौक़ ज़रूर लगगया।

इस व्यसन ने मेरी राजनीतिक जानकारी को बढ़ा दिया। राजनीतिक विषयों पर ऊटपटांग बहस भी कभी-कभी कर बैठता हूँ, हालांकि यह चीज़ मेरे स्वभाव में नहीं है। इधर दो-तीन साल के अन्दर घटना-चक्र इतनी तेज़ी से चला कि राजनीति के चित्र पट को दूर से मूक बनकर देखते रहना मुश्किल हो गया। इस घटना चक्र ने चुम्बक की तरह हर किसीको, किसी-न-किसी रूप में, अपनी तरफ़ खींच लिया। कांग्रेस का इसमें सबसे प्रमुख भाग रहा। यद्यपि मैं कभी कांग्रेस का चवन्नी का भी सदस्य नहीं बना, उसकी आलोचना भी की, फिर भी उसकी निन्दा सहन नहीं कर सका। अनेक भूलों के बावजूद कांग्रेस के प्रति मेरे मन में सदा, बिना किसी लोभ या आशा के, स्वभावत अपनेपन की भावना रही है।

गांधीजी ने अंग्रेज शासकों पर, १९४२ में, 'भारत छोड़ो' नामक अन्तिम अस्त्र चलाया। वे इस ब्रह्मास्त्र से बच नहीं सके। पाँच बरस बाद उन्हें हमारी भारत-भूमि को बाध्य होकर छोड़ ही देना पड़ा। कोई नहीं जानता था कि इतनी जल्दी स्वतन्त्रता का स्वर्ण-रथ हमारे प्रांगण में उतर पड़ेगा—जल्दी जल्दी में पथ पर हम दो-चार फूल भी नहीं बिखेर पाये।

मगर स्वर्ण-रथ के उतरने से पहले ही हमारी हरी-भरी स्वर्ण-भूमि पर रक्त-वर्षा शुरू हो गई थी। असन्तुष्ट मुस्लिम लीग को बहुत मनाया, पर वह न मानी। देश का अंग-भंग करने पर तुल गई। कांग्रेस जितनी ही झुकी, उतनी ही वह अकड़ती गई। लीग के बेहद घृणा-प्रचार से देश के कई भागों में नृशंस रक्त-काण्ड हुए। जहाँ तहाँ

बदले-पर-बदले लिये जाने लगे। खून से रँगे परदे पर कभी कलकत्ता दिखाई दिया तो कभी नोआखाली, कभी बिहार सामने आया तो कभी रावलपिण्डी। गाधीजी की छाती इन घृणित घटनाओं को सुन-सुनकर धायँ-धायँ जल उठी। उन्होंने देश के अनेक भागों में फैली हुई आग को बुझाने का यत्न किया। खुद जल-बल रहे थे, फिर भी रग-रग से अहिंसा की मधुर झनकार निकल रही थी। आग के बीचो-बीच खडे प्रेम का शीतल छिडकाव कर रहे थे।

प्रश्न था--आनेवाली कई पीढ़ियोंतक पराधीनता को जारी रखना, या स्वाधीनता की खातिर देश के दो टुकडे कर देना? काग्रेस और लीग का मिल-जुलकर शासन चलाना असम्भव हो गया। फलत ब्रिटिश शासकों की नेक सलाह से देश को खण्डित कर दिया गया। पंजाब के भी दो टुकडे किये गये, और बंगाल के भी। आरा चलाकर भारत की दोनो भुजाएँ काट डाली गईं। गाधीजी को भी जहर की घूँट पीकर इस घातक योजना का समर्थन करना पडा। बेचारे एक टण्डनने ही विरोध की आवाज़ उठाई,पर वह सुनी-अनसुनी करदी गई। ऊपर से देखने में नहीं आये, पर अन्दर-अन्दर गांधीजी के कलेजे के टुकडे टुकडे हो गये। देश का अगच्छेद हो जाने पर भी शान्ति न हुई—आग और भी भडक उठी। जिस दिन भारत खण्डित हुआ उसी दिन युग-युग के लिए अशान्ति के विष-बीज बो दिये गये।

१५ अगस्त, १९४७ का ऐतिहासिक दिन। सन्ध्या को दिल्ली में स्वातन्त्र्य-महोत्सव मनाया जा रहा था। विद्युत की दीप मालिकाओं से सारे राज-पथ जगमगा रहे थे। हर छोटे-बडे भवन पर चक्राङ्कित राष्ट्र-

ध्वज फहरा रहे थे। उधर लाहौर में तथा पंजाब के कई नगरों और ग्रामों में निर्दोषों के रक्त के पनाले बह रहे थे। जहाँ तहाँ हाहाकार मचा हुआ था। लाखों घरों के दिये बुझ चुके थे।

फिर इधर इन हिस्सों में भी बदले लिये गये। प्रतिहिंसा का नग्न नृत्य हुआ। कुछ छुट-पुट शर्मनाक घटनाएँ यहाँ भी घटीं। देवता बनने का चाव रखनेवाला मनुष्य देखते-देखते पशु हो गया।

कोई पचास लाख आदमी पाकिस्तान से और लगभग इतने ही हिन्दुस्तान से चन्द दिनों में अदल-बदल हुए। रास्ते में सैकड़ों-हज़ारों क़त्ल कर दिये गये। जवान स्त्रियाँ भगाई गईं, सतीत्व नष्ट किया गया। धर्म ज़बरन बदला गया। लाखों का घर-द्वार छूटा। हज़ारों-लाखों लुटानेवाले दाने-दाने के मोहताज हो गये। शरणार्थियों से दोनों स्वतन्त्र देश खचाखच भर गये।

इनकी आपबीती कहानियाँ सुनने के लिए पत्थर का कलेजा चाहिए। जो मारे गये थे वे पार हो गये, जो जिंदा बचकर आये उनका बहुत बुरा हाल हुआ। आज़ादी की क़ीमत असल में इन्हीं दुखियों ने चुकाई। पाकिस्तान की मैं नहीं जानता, पर हमारे हिन्दुस्तान में उन्हें फिर से बसाने का पूरा-अधूरा उद्योग करने पर भी हालत उनकी प्राय वैसी ही रही। सरदार पटेल की तरफ से कपड़े बाँटने के लिए मैं कितनी ही जगह गया, और वहाँ अनेक शरणार्थी कैम्प अपनी आँखों देखे। उनकी अपार विपदा को देखा, उनका असन्तोष और उनका रोष देखा। ऐसे भी देखे, जिन्होंने इस भारी विपत्ति को ईश्वर की अपरम्पार लीला समझकर खुशी-खुशी झेला।

इन लाखों दुखियों ने छोटे-छोटे तम्बुओं, घास-फूस के झोंपड़ों और खुले मैदानों में पूस-माह की रातें काटीं, और बैसाख-जेठ के दिन काटे। बेचारों को इस तरह बिलबिलाते हुए देखा, जैसे लाखों की सख्या में एक-दूसरे पर लदे हुए बरसाती कीड़े। अपने हरिजन-निवास के पड़ोस का सब से बड़ा कैम्प आग और आँधी की लपटों में जब धायँ-धायँ जला, उस दिन का वह हृदय-विदारक भयङ्कर दृश्य क्या कभी भूल सकता हूँ ? स्वतन्त्रता तो आई, पर साथ में यह क्या-क्या विपदा लाई। उत्सव का यह कैसा दीपक, कैसा उजेला !

'घर मे चिराग़ क्या जला, घर को जला गया !'

गाधीजी का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। उनकी छाती पर अङ्गार दहक रहे थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति के मुख पर वे किसी भी तरह कालिख नहीं लगने देना चाहते थे। रक्त की एक एक बूँद होमकर वे बर्बरता और प्रतिहिंसा को बढ़ने और फैलने से रोक रहे थे। उधर शासन शकट के अनुभव शून्य अश्वों की लगाम भी अपने जीर्ण-शीर्ण हाथों से खींचे चले जा रहे थे।

गाधीजी की धर्म-नीति से हिन्दू जाति का एक नगण्य-सा भाग बेतरह क्षुब्ध और उत्तप्त हो उठा। फलत एक हतबुद्धि हिन्दू युवक ने ३० जनवरी की शाम को ५। बजे गोलियाँ दाग़कर महात्मा का वध कर डाला। अथवा, अपनी ही जाति—हिन्दू जाति की गर्दन पर, बल्कि मानव जाति की गर्दन पर पागल होकर उसने कुल्हाड़ा मारा। भारत के लम्बे इतिहास में इस प्रकार की यह पहली ही घटना है, जो कितनी कलुषित और कितनी लज्जाजनक है। उस सन्ध्या को, लोगों ने कहा,

साथ-साथ दो-दो सूर्य डूबे।

मैं उस दिन पिलानी में था। दूसरे दिन दोपहर को जब दिल्ली पहुँचा तब पूज्य बापू का विमान बिड़ला-भवन से रवाना हो चुका था। मार्ग में दूर से उनके शव का दर्शन किया। महानिर्वाण यात्रा का वह दृश्य कैसा अपूर्व था! सचमुच में वह श्मशान-यात्रा नहीं थी। लाखों आँखों से आँसू बह रहे थे, चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम उमड़ रहा था, और मानवरूप में देवगण पुष्प-वर्षा कर रहे थे।

उस बेचारे नादान हत्यारे पर कहाँ किसका ध्यान जाता। प्रेम के महासागर में द्वेष की उस बूँद का कहीं पता भी नहीं चलता था। मुझे तो ऐसा लगा कि उस सन्ध्या को प्रार्थना-स्थल पर स्वेच्छा से स्वयं बापू ने ही जीवन सखा मृत्यु को प्रेमालिंगन देने के लिए वह सब लीला रची होगी। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस महामंत्र का साक्षात्कार करनेवाले महात्मा का शस्त्र द्वारा कैसा तो घात और कैसा मरण!

मुझे यह भी उस समय लगा कि गांधीजी मानो उसी सहज, शान्त मुद्रा में लेटे हुए अंतरिक्ष से हमें अपने हाथ के संकेत से सावधान कर रहे हैं, और रह-रहकर उनकी मीठी धीमी आवाज़ हमारे कानों में गूँज रही है—यह कि, "सावधान! क्रोध में अन्धे न हो जाना। दण्ड देना असल में भगवान् का कार्य है या फिर न्यायी शासन का। पागल होकर मेरे जीवनभर के उपदेशों पर पानी न फेर देना। विष का नाश विष से नहीं होगा, आग आग से नहीं बुझेगी।"

अंतिम अनशन शुरू किया उससे कोई पाँच-छह दिन पहले की

बात है। ठक्कर बापा ने सिन्ध से आये हुए हरिजनों के लिए कच्छ में शरणार्थी-शिविर खोलने के विचार से वहाँ जाने का निश्चय किया और बापू की सलाह और आशीर्वाद लेने वे बिडला-भवन पहुँचे। बापू का मत था कि कच्छ जाने की अपेक्षा तो दिल्ली में बैठकर कहीं अधिक काम हो सकता है। पर बापा तो निश्चय कर चुके थे। बापू ने कहा—"ठीक है, तब भले जाओ। जा सको तो कराची भी जाना। जो बेचारे हरिजन वहाँ से निकल नहीं सकते उन्हे निकाल लाने का यत्न करना। ऐसा करते हुए वहाँ अगर तुम मारे भी जाओ, तो मैं तो उसे 'मगल मरण' कहूँगा, और तुम्हारा मरण सुनकर नाच उठूँगा।" ठक्कर बापा २ फरवरी को सवेरे फूल उठाते समय सीधे चिता-स्थान पर पहुँचे, और उन्हे बापू का उस दिन का एक-एक शब्द वहाँ याद आ गया। बापू तो पहले ही नाचते हुए भगवान् के मगल-मन्दिर में चले गये थे। मैं रामदास भाई के साथ अस्थियाँ चुन रहा था, भस्म इकट्ठी कर रहा था, उधर ठक्कर बापा स्तब्ध बैठे बापू के ध्यान में मग्न थे।

चैत्य आज दिल्ली का एक तीर्थ-स्थान बन गया है। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सभी वहाँ पहुँचते है, श्रद्धा-भक्ति से फूल चढाते हैं, दो बूँद आँसू टपकाते हैं, और मस्तक झुकाते व टेकते हैं। वहाँ बैठकर किसीको भान भी नहीं होता कि यह श्मशान-भूमि है।

स्वभावत. तुरन्त ही गाधीजी के पुण्यस्मारक बनाने का प्रश्न देश के सामने आया। पूजा-उपासना व्यक्ति की ही जगत् में देखी

गई है, यद्यपि भार हमेशा अव्यक्त गुणों की उपासना पर दिया गया है। दूसरे महापुरुषों की भाँति गांधीजी भी अपने विचारों और आदर्शों की उपासना और साधना पर बल दिया करते थे। वह भी होगी, साथ-साथ व्यक्त की उपासना भी होगी। धन संग्रह होगा, स्मारक निर्माण होंगे, मन्दिर बनेंगे, मूर्तियाँ स्थापित होंगी, स्तंभ खड़े होंगे, गान्धीवाद पर चर्चाएँ और व्याख्यान हुआ करेंगे, गांधी-साहित्य विविध भाषाओं में प्रकाशित होगा, इसी प्रकार और भी अनेक आयोजन होते रहेंगे। राजसत्ता भी अपने ढंग के गांधीजी के स्मारक बनायेगी, और उनकी रक्षा करेगी। रचनात्मक संघ गांधीजी द्वारा जलाई गई ज्योति को भरसक बुझने नहीं देंगे। उनके प्रवचनों के नये-नये भाष्यकार भी पैदा होंगे। शायद गद्दियाँ भी स्थापित हो जायें। साहित्यकार और कलाकार अपनी-अपनी कृतियों से गांधी-जी के अमरत्व को युग-युगतक सिद्ध और प्रसिद्ध करते रहेंगे। ये सभी अपने-अपने प्रकार के, अपने-अपने ढंग के 'गांधी-स्मारक' होंगे।

प्रश्न है कि क्या गांधीजी के अनेक अनुयायी और उनके उपासक उनकी अपनी कल्पना का 'रामराज्य' भी स्थापित कर सकेंगे? वह राज्य, जिसमें प्रेम ही राजा हो और प्रेम ही प्रजा, जहाँ कर्तव्य के आगे अधिकार को आदर न दिया जाये, जहाँ भय से सिर न झुके, जहां लोभ को आश्रय न मिले, और जहाँ धर्म के दण्ड को राज के दण्ड से ऊँचा स्थान दिया जाये। ऐसा स्मारक क्या बड़े बड़े राजनेता ही निर्माण कर सकते हैं? उसके संबंध में क्या हमारे धुरन्धर विचारक ही सोच सकते हैं? ऐसी बात नहीं है। नेता और विचारक

अपने-अपने ढंग से भले ही उसमें योग-दान दें, पर उसका निर्माण तो जनसाधारण के हाथों से ही होगा। बापू की आत्मा को तभी संतोष होगा, जब ऊँचे स्वर से उनका जय-जयकार बोलनेवाले हम सब लोग अपनी ही विवेक बुद्धि से सत्य को पहचानेंगे, प्रेम को हृदय में स्थान देंगे, अन्धानुकरण न कर उनके सुझाये मार्ग पर सचाई से चलने का नम्रतापूर्वक प्रयत्न करेंगे।

गांधीजी स्थूल शरीर से चले गये, सूक्ष्म शरीर छोड़ गये। उनके महान् जीवन से जिनसे जितना लेते बना उतना लिया, और आगे भी लेते रहेंगे। शोक और भक्ति-भाव का वह उफान भी एक-दो मास के बाद धीरे-धीरे अपने आप शान्त होने लगा। फिर सबका सब वैसा ही चलने लगा। राष्ट्र का शासन-शकट भी आगे खिसका, उसके अश्वों और सारथी को किसीने आशीर्वाद दिया और किसीने अभिशाप।

नये राज-मन्त्रियों को शुरू से ही दम मारने की फुर्सत नहीं मिली। विभाजन से राष्ट्र की छाती में जो गहरा घाव हो गया उसकी असह्य पीड़ा का अनुभव उन्होंने पीछे किया। साथ-साथ अनेक छोटी-बड़ी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। दूर तट पर खडे-खड़े मैं देखता रहा कि राज-व्यवस्था ठीक-ठीक आख़िर क्यों नहीं जम रही। चोरबाज़ार और भी गरम हो गया। घूसखोरी भी कितनी बढ़ गई। अनुभवशून्य अधिकारी आ-आकर कुर्सियों पर बैठ गये। पदों की थाली पर लोलुप जन-सेवक अकाल-पीड़ितों की तरह टूट पडे। तन्त्र की गति मन्द पडने लगी। साधारण जनतातक सालभर बाद भी स्वराज्य का प्रकाश नहीं पहुँचा। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान बढ़ा, बड़ी-बडी योजनाएँ बनीं, पर इस सबसे

उसे क्या लेना देना। पेटभर दाल-रोटी मिले, तन ढकने के लिए कपड़ा हो, रहने को ठीक घर हो, बच्चों के लिए थोड़ा दूध हो, बीमारों के लिए दवा-दारू का इन्तजाम हो—साधारण जनता को शुरू में इतना मिल गया तो उसकी समझ में आ जायेगा कि देश में स्वराज्य आ गया।

अखबारों में कितनी ही भड़कीली योजनाएँ प्रकाशित हुई, पर अमल उनपर बहुत कम हुआ या हुआ ही नहीं। गोली बन्दूक से पहले छूटती है, आवाज़ पीछे होती है। पर इसमें ठीक उलटा देखने में आया। भाषणों और वक्तव्यों पर संयम नहीं रखा गया। ध्यान अधिकतर अंतर्राष्ट्रीयता और एशिया के नेतृत्व पर रहा। हर बात में कभी तो सोवियत रूस का और कभी अमेरिका का मुँह ताका गया, और अपनी हीन भावना को प्रश्रय दिया गया। कुछ अनावश्यक बातें भी बार-बार दोहराई गईं, और बहुसंख्यकों को व्यर्थ चिढ़ाया गया। अति न्याय के फेर में पड़कर कभी-कभी सामान्य न्याय की भी उपेक्षा की गई। स्वस्थ्य और मौक़े की आलोचना भी सरकार को अच्छी नहीं लगी। बहुतों ने लोभ से और कुछेक ने भय से अपना सच्चा मत प्रकट नहीं किया। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को यों ही टाल दिया गया। जैसे, हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राजलिपि मान लेने में प्राय हिचकिचाहट दिखाई गई। शुद्ध वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय प्रश्न को दबी ज़बान से साम्प्रदायिकतक कहा गया। सांस्कृतिक प्रश्न वैज्ञानिकों पर न छोड़कर राज-नेताओं पर छोड़ दिये गये। किसी भी शासन-तन्त्र के हित में, खासकर उसके आरम्भ-काल में, ये लक्षण अशुभ हैं।

फिर प्रजा ने भी ज़रा उतावली और कुछ अविवेक से काम

लिया। उसने साल-छह महीने के अन्दर ही सब कुछ करा लेना चाहा। लोग अपने पैरों पर खडे नहीं हुए। पंगु बनकर सरकारी बैसाखियों पर सारा भार रखकर चलने की चेष्टा की। चोरबाज़ारी और घूसखोरी जो इतनी अधिक बढ़ी और फैली इसमें प्रजा भी दोषी रही और सरकार से भी कहीं अधिक।

स्वयं इन बारह महीनों में जो-जो मैंने देखा, और लोगों के मुँह से जहाँ-तहाँ जो कुछ सुना उसी सबके आधार पर यह लिखा गया है। गहराई में उतरकर राज-शासन की नीति से अलग सलग रहने-वाला मुझ जैसा मामूली आदमी इससे अधिक और समझ ही क्या सकता था? फिर भी राजप्रकरण ऐसा जटिल और गुह्य विषय नहीं है, जो जनसाधारण की पहुँच से एकदम बाहर हो, और जिसपर कहने या राय बनाने का किसी सामान्य व्यक्ति को अधिकार ही न हो। आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश बाबू से लेकर हमारे हरिजन-निवास के मस्तराम जग्गू मज़दूरतक सभी अपना-अपना मत प्रकट कर सकते हैं। राजनीति की ऊँची-ऊँची बातें तो देहात का जग्गू भला क्या जाने, पर इतना तो वह भी जानता है, कि "जवाहरलाल नेहरू गांधी महात्मा के भजन के परताप से राज कर रहा है, पर अभी सतजुग नहीं आया, लोग सुखी नहीं है।" और एक दिन कहने लगा, "सिक्कों और नोटों पर तो अब भी वही अंग्रेज का पुतला बैठा हुआ है!"

: ५३ :

सिंहावलोकन

इस प्रकरण में—चढ़ाई, या कहिए उतार की, ५३ वीं सीढ़ी पर खड़े खड़े एक बार ज़रा पीछे की ओर मुड़कर देख लेना चाहता हूँ। जीवन की वे कई धुँधली और कई निखरी झलकें सुखद न सही, आकर्षक तो मुझे लगती ही हैं।

जीवन के सुनहरे प्रभात की कितनी ही मधुर स्मृतियाँ एक-एक करके सामने आ रही हैं। शैशव का वह अनजानपन कितना सरल, कितना निर्दोष था, और आज का मेरा यह सारा जानपन कितना पेचीदा, कितना सदोष बन गया है! तब तो जैसे प्रतिक्षण जिज्ञासा और तृप्ति दोनों साथ-साथ मेरे नन्हे-से आँगन में खेला करती थीं। और, आज का यह अनपका या अधपका 'ज्ञान' दिन-दिन अतृप्ति की ओर खींचे ले जा रहा है! मैं रोना रोने नहीं बैठा हूँ—यह तो एक तथ्य की बात सुना रहा हूँ। मेरा रुपहरा बाल चिन्तन तब कमल के पत्ते पर जल-बिन्दु की नाईं काँपता रहता था—वह कितना सुन्दर और कितना सुखद प्रतीत होता था! आज इस प्रौढ़ता की चट्टान पर पैर जमाये हुए खड़ा हूँ, फिर भी चारों ओर जैसे संशय और विषाद को बटोर रखा है।

खूब याद है, तब मै पाँच बरस का था। भात के साथ छिलके सहित आलू की तरकारी खाने से एक दिन उलटी होगई थी। ऐसा डरा कि फिर तीन चार सालतक वैसी तरकारी कभी जीभ पर नहीं रखी। इधर अब इस उतरती उम्र मे पता चला कि छिलकों मे तो 'विटामिन' होता है। पर तब की उस अज्ञान-जनित अरुचि ने 'पोषण' में कुछ कमी की थी क्या? चटनी और नमक-मिर्च या पाँच-सात बताशे उस डरावनी तरकारी को सामने नहीं फटकने देते थे।

ध्यान फिर जा रहा है उन अनेक त्यौहारों, उत्सवो और नान खेलो पर। कितने दिनो पहले से मैं बाट जोहा करता था कि अब कन्हैया-आठें आ रही है, अब दसहरा, अब दीवाली और अब होली उमग-ही-उमग। सत्यनारायण की कथा का पचामृत जितना स्वादिष्ट होता था उतनी ही अरोचक वह लीलावती कलावती की कहानी लगा करती थी। उससे कही सुन्दर तो वे राजा-रानी की कहानियाँ होती थी, जिन्हें मेरी नानी और माँ सुनाया करती थीं।

एक बारात को भी नहीं भूला हूँ। तब मुश्किल से मैं आठ, साढ़े आठ बरस का था। मामा के साथ एक सेठ के लडके की बारात में गया था। उस गाँव का नाम शायद दरगवाँ था। तीन या चार दिन मे बैलगाडियाँ वहाँ पहुँची थीं। जेठ का महीना था वह। दोपहर की लुवों मे घने पेडो की छाँहतले जहाँ हमारा पडाव पडता वहाँ कितना सुहावना लगता था! हर पडाव पर रोज़-रोज़ वही सेव-खुरमे खाने को और पीने को पानी की जगह खाँड का ठडा शर्बत। कच्चे आम भी हम सब बच्चे झोड़ लेते थे। बारात में जितने बालक गये थे, सब-के-

सब, सिवा एक मेरे, चाँदी-सोने के गहनों से लदे हुए थे, पर कपड़े-लत्ते सबके वैसे ही मैले-कुचैले थे। आधी रात को जब वहाँ आतिशबाजी (आतिशबाजी) छूटी और कागज की रंगबिरंगी फुलवाड़ियाँ लुटीं, तब कितनी खुशी हुई थी हम सब बच्चों को! बारात आठ नौ दिन ठहरी थी उस छोटे-से गाँव में। लौटते हुए रास्ते में जब एक बड़ा नाला मिला, तब उसमें से हमने बहुत-से लाल और सफेद रंग के गोल-गोल सुन्दर पत्थर बीनकर इकट्ठे किये थे।

खेलों में आँख-मिचौनी और दौड़-पदौड़ के सारे ही खेल मैं बचपन में खेलता था। दिमागी खेलों की तरफ़ कभी रुचि नहीं होती थी। आज भी मैं ऐसे खेलों की हार-जीत नहीं समझ पाता। बाल-साथियों में सबसे समीपी, पड़ोस के, रामचन्द्र गुसाईं और मातादीन सर्राफ़ थे। उट्टा (असहयोग) भी हम लोगों में जल्दी हो जाती, और मेल भी जल्दी। सयाना या समझवाला होना कितना बुरा है कि वैर की गाँठ ऐसी पक्की बंध जाती है कि फिर खोले नहीं खुलती! काश जीवनभर मनुष्य बालक ही बना रहता! हम तीनों ही गरीब घरों के थे—शील-व्यवहार में सब समान। हम तीनों धूलि-धूसरित मित्र फटे पुराने कपड़े पहनते, सूखी-रूखी रोटी खाते, और खेल-कूद में मस्त रहते थे। हमारा पुनर्मिलाप, छतरपुर छूटा उससे २९ बरस बाद, १९४४ में हुआ। हरियाली वह सारी सूख चुकी थी। वे गये-बीते सुहावने दिन फिर लौटाने पर भी नहीं लौटे। चेष्टा व्यर्थ थी।

पढ़ाई के दिनों या प्रसंगों पर नज़र नहीं दौड़ाना चाहता। जितना आवश्यक था वह लिख चुका हूँ। फिर ऐसा पढ़ा पढ़ाया ही क्या?

अध्ययन का क्षेत्र मेरा बहुत सकुचित रहा। न तो वैसे अनुकूल साधन मिले, न अधिक पढ़ने का मन ही हुआ। पर इसका मुझे पछतावा नहीं। जितना कुछ पढ़ा उसीको नही पचा सका। अत अल्पशिक्षित रहने मे भी सन्तोष ही रहा।

मेरी विद्यार्थी-अवस्था समाप्त हुई कि बेकारी ने घर दबाया। अनिश्चितता और विमूढ़ता के दलदल मे जा फँसा। सस्ती भावनाओ ने थपकियाँ दे-देकर मेरे डावाँ-डोल मन को सुलाने का यत्न किया, पर वह तो अनिद्रा रोग से ग्रस्त हो चुका था। उस समय की मन.स्थिति को याद नही करूँगा। उन दिनो, और बाद को भी, इर्द-गिर्द के लोग मुझ अस्थिरचित्त नवयुवक को कुछ-का कुछ समझने लग गये थे। मेरा मन खुद भी मुझे बहका रहा था।

यौवन आया। फिर भी कुशल रही कि यौवन-ज्वर बहुत ऊँचा नहीं गया। हाँ, हलका-हलका तापमान रहने लगा। पर वह नित्य का हलका तापमान तो और भी बुरा था। यह तो मानसिक राजयक्ष्मा का लक्षण हुआ।

फिर मिथ्याकवि के रग-बिरंगे पंख चिपकाकर कल्पना के आकाश में बहुत कालतक इधर-उधर फडफडाता रहा। मित्रों ने मेरे इस स्वाँग भरने पर शाबासी दी और शायद मै उनके बहकावे में आ भी गया। अब मैं कवि था, और शायद दार्शनिक भी था, और न जाने क्या-क्या था। मैं अपनी असलीयत को भूल बैठा था।

विवाह-बन्धन मे नहीं पडा यही सन्तोष था। वह लुभावना फंदा गले में इस डर से भी नहीं डाला था कि जिन स्वजनों से इतना अधिक

स्नेह-दान पाया वे कहीं छूट न जायें। भय था कि नया संसार बस जाने पर मेरा पुराना संसार, जो मुझे प्रिय था, कहीं उजड़ न जाये। आँखों के आगे ऐसा होते मैंने देखा भी था। पर जो डर था वह तो होकर ही रहा। पुराना संसार एकदम तो नहीं उजड़ा, पर उसकी कड़ियाँ एक-एक करके टूटने-बिखरने लगीं। एकाध बार मन में आया भी कि साधारण रीति-नीति का अनुसरण न कर मैंने शायद कोई भारी भूल कर डाली। पर पुस्तक प्रकाश में आ चुकी थी। प्रूफ-संशोधन के लिए गुंजाइश अब नहीं रही थी। और फिर, बाद को तो अपनी कुछ भूलों पर मुझे ममता भी हो गई।

फिर कितने ही वर्षों तक अध्यात्म-रस के लोभ से गन्दारण्य में मुँह उठाये भटकता फिरा, मगर हाथ कुछ भी न आया। न तो आत्मा का रूप चित्त पर उतरा, न अनात्मा का ही। जितने भी चित्र खींचे—सब पानी पर। अन्दर-अन्दर संशयों और प्रश्नों के साथ अधकचरे अध्ययन का कुछ-कुछ वैसा ही संघर्ष चलता रहा, जैसा शतरंज के मोहरों का। किताबी दलीलों से मात देता और मात खाता रहा। भावावेश में जो कभी-कभी थोड़ा क्षणिक आनन्द-लाभ होता था उस लोभ से इस अन्धी शोध को छोड़ते भी नहीं बनता था। यथार्थ में अनात्मदर्शी भी हो गया होता, तो मन की उस अशान्ति का तब भी कुछ-न-कुछ उच्छेद हो जाता। पर अनात्म-दर्शन भी ऐसा सुलभ कहाँ? कैसी विचित्रता है कि न तो सामान्यजन-सुलभ सरल श्रद्धा मेरे भाग्य में आई, न तत्त्व साधक की धर्म-निष्ठा हाथ लगी, और न भौतिक विज्ञानी का बौद्धिक सहारा ही मिला!

मेरी धर्म-माता ने मेरे डगमगाते पैरों को भक्ति की आधार-शिला पर जमाने का बहुत प्रयत्न किया, पर निस्सत्त्व पैरो में उतना भी बल नहीं रह गया था। फिर भी उस महान् उपकार को भूलूँगा नहीं। उनके स्नेह भरे सकेत से काँपते-काँपते तुलसी की 'विनय-पत्रिका' का एक बार फिर सहारा लिया, और उससे कुछ-कुछ ढाढस बँधा।

फिर कई बरस बाद गांधीजी का प्रकाश-पुञ्ज जीवन सामने आया। देखते-देखते वह एक पुण्यतीर्थ बन गया। सहस्रों यात्री उस तीर्थधाम में पहुँचे। देखा-देखी में भी लडखडाता हुआ कुछ दूरतक गया, पर और आगे नहीं बढ़ सका। उस निर्मल निर्झर से, सुनने में आया कि, कितने ही साधको ने जाकर अपने-अपने जीवन-घट भर लिये। पर जिसके घडे मे छेद-ही-छेद हो, वह वहाँतक पहुँच भी जाता तो क्या भरकर लाता?

स्वीकार करता हूँ कि मै किसी भी महापुरुष का सच्चा अनुयायी न बन सका, और वैसा भक्त भी नहीं। किसीके भी दीपक से अपने अन्तर का अन्धकार दूर न कर सका। सुना कि दीपक का उजेला तो उसी घर मे पहुँचता है, जो उसे अपना सब कुछ अर्पण कर देता है। 'स्वार्पण' की वह भक्ति-भावना स्वभाव से मुझमें नहीं रही। भगवान् बुद्ध ने अपने ही दीपक से अपने आपको आलोकित करने का उपदेश किया था—'अत्तसरणा भवथ अत्तदीपा।' पर इसके लिए भी सम्यक् साधना चाहिए। फिर भी बुद्ध के इस अगुलि-निर्देश से बहुत अधिक आश्वासन मिलता है।

आध्यत्मिक प्रश्न और उनके उत्तर अब पहले की तरह आकृष्ट नहीं करते। न कुछ प्रश्न करवे को जी करता है, न उत्तर सुनने को। रोज़-

मर्रा के साधारण विषयों पर बात करना बल्कि अधिक अच्छा लगता है। इस नाते अगर कुछ रुचिकर लगता भी है, तो वैराग्य की ओर कभी-कभी चित्त भटक जाता है। पर वह विश्रामस्थली इतनी अधिक ऊँचाई पर है कि वहाँतक हाथ नहीं पहुँच पाता। उस अधर लटकने निर्वेद-रस को चख लेने का लोभ सन्त-वाणी ने बढ़ा दिया—यद्यपि राग की लपटों से बुरी तरह झुलस गया हूँ।

फिर अपने साहित्यिक जीवन पर दृष्टि डालता हूँ तो वह भी देखने में सुन्दर नहीं लगता। अधिकांश जो कुछ मैंने लिखा उसमें अनुभूति तो क्या अध्ययन भी बहुत कम रहा। ऐसा खोखला साहित्य असुन्दर तो होना ही चाहिए। ऐसे साहित्य का रचयिता लोगों को प्राय भ्रम में डाल देता है। उसकी रचनाओं का रंगीन चश्मा चढ़ाकर वे उसका अयथार्थ रूप देखने लग जाते हैं। मेरे बारे में भी बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ। रुखाई और कभी-कभी अविनय के साथ मैंने कई मिलने-जुलने-वालों के भ्रम को दूर करने का यत्न किया, और सफलता मिलने पर सन्तोष भी हुआ। पर मेरी मूढ़ता को तो देखिए कि इतना होते हुए भी मैं 'मसि-जीवन' से पल्ला नहीं छुड़ा सका। माना कि ज्यादातर पेट के लिए ही मैंने लिखा, और अब भी लिखता हूँ, पर कुछ हदतक यह लेखन एक व्यसन भी बन गया है। कुछ मित्र जब-तब यह भी सलाह देते रहते हैं कि मुझे और सब काम छोड़-छाड़कर अपने समय का अधिकांश साहित्य-रचना को ही देना चाहिए। शायद वे इसमें मेरा कुछ लाभ देखते हों। उनके दृष्टिकोण पर मैं क्यों सन्देह करूँ? पर उनकी नेक सलाह पर मैं अबतक चल नहीं सका, और आगे

भी शायद उनके सुझाये पथ पर नहीं चल सकूँगा। साहित्यकार बनने की यदि मुझमें कुछ पात्रता होती, तो अबतक बन गया होता।

१९१८ से १९२५ तक प्रयाग मे रहा, और फिर १९३२ के अत-तक पन्ना में। ये तेरह-चौदह साल हमेशा याद रहेगे। दोनों जगह मेरा जीवन-प्रवाह बालू को छूता और पत्थरों से टकराता हुआ प्रवाहित हुआ। प्रयाग मे टण्डनजी को पाकर मानों पुण्य को भेटा, और सम्मेलन से सम्बन्ध जोड़कर कृतार्थ हुआ। वे दिन बडे अच्छे बीते। छतरपुर के, अपने जन्म-स्थान के, वातावरण में जो दम घुटा जा रहा था उससे यहाँ राहत मिली। बेकारी भी जाती रही और जो जडता ने जकड रखा था वह स्थिति भी दूर हुई। न वैसी ऊँची उडाने भरने का मन हुआ, न अधिक आकांक्षाओ ने ही घेरा। अभाव भी वैसे यहाँ चुभे नहीं। काफ़ी मस्त रहता था।

पन्ना मे यह बात नहीं रही। वहाँ जीवन ने पलटा खाया। राज्य का वातावरण मोहक था, पर शान्त और सुखद नहीं। अर्थ-सकट वहाँ भी बना रहा, पर उसे में ढकने का प्रयत्न करने लगा। इससे दिखावे को आश्रय मिला। वहाँ जाकर जैसे सुनहरे जाल में फँस गया। शिक्षा-विभाग के कार्य को यदि हाथ मे न ले लिया होता, और मान लीजिए, चार-पाँच बरस राज-भवन का अतिथि ही बना रहता, या दूसरो की तरह हाँ-में-हाँ मिलानेवाला बन जाता, तो मेरी क्या दशा हुई होती। मैं बिल्कुल निकम्मा हो गया होता और मुझे पता भी न चलता। कुशल रही कि मैं ऐसा नहीं हो पाया।

फिर भी पन्ना को मैं भूल नही सका। विन्ध्य प्रदेश के उन मनो-

रम दृश्यों को कैसे भुला दूँ ? उन हरी-भरी घाटियों को, काली-भूरी चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करती हुई उस केन नदी और उसके प्रपातों को, पूस-माह और बैसाख जेठ के अपने उन सालाना दौरों को, शिकार के उन हाँकों और मचानों को भला कभी भूल सकता हूँ ? पन्ना-महाराज के छोटे भाई नन्हें राजा का प्रेम-व्यवहार एवं उनकी पत्नी—मेरी धर्म-भगिनी का निश्छल स्नेह भी सदा याद रहेंगे।

अब दिल्ली। यहाँ रहते आज सोलह साल होने को आये—सन् १९४२ से १९५८ तक। यहाँ पूज्य बापू से संपर्क बढ़ा, ठक्कर बापा का पुण्य स्नेह मिला, हरिजन-निवास को बसते हुए देखा, दो बालकों को पुत्ररूप में स्वीकार किया, और जीवन के बहाव को ममताभरी दृष्टि से देखा।

लोगों ने यहाँ माना कि मैं सेवा के क्षेत्र में काम कर रहा हूँ, और साहित्यिक सन्यास ले लिया है। पर मैंने ऐसा नहीं माना। जन सेवा की जो परिभाषा सुनी, उससे मैं बहुत-बहुत दूर हूँ। यह कोरी नम्रता की बात नहीं है। एक शिक्षण-संस्था के साधारण-से व्यवस्था कार्य को लोक-सेवा का नाम कैसे दूँ ? सेवा करते करते तो मन निर्मल और स्थिर हो जाता है, हृदय अधिक-अधिक विकसित होता है, और अहंकार का पर्दा हट जाने से 'स्वरूप' स्वयं ही सामने आजाता है। अबतक तो ऐसा कुछ अनुभव हुआ नहीं। लोक-सेवक को, हाथ में विवेक का दीपक लेकर, साधना के कठिन पथ पर चलना पड़ता है। मैंने तो उस पथ पर पैर भी नहीं रखा। हज़ारों आदमी दफ्तरों और कारखानों में मुझसे कहीं अधिक परिश्रम का काम करते हैं। फिर भी उनके दिनभर

क़लम घिसने और पसीना बहाने को कोई सेवा-कार्य नहीं कहता। मैं दूसरो की नही जानता, पर मेरे साथ जब लोक-सेवा का ग़लत अर्थ जोडा जाता है तब लज्जा व ग्लानि-सी होती है।

हाँ, दिल्ली मे मेरा जन-परिचय का क्षेत्र अवश्य बढ़ गया। कितने ही साहित्यकारो, समाज सेवकों और कई राष्ट्र-नेताओ से यहाँ जान-पहचान हुई। कुछ असमान व्यक्तियो के साथ भी मित्रता का सम्बन्ध जुडा। पर असल मे सम्पूर्णतया कौन तो किसके समान है और कौन असमान? समान और असमान आशिक रूप मे ही तो अर्थ को वहन करते हैं। अस्तु, ऐसे असमान कहे जानेवाले मित्रो में मुख्य श्री घनश्यामदास बिडला हैं। यो तो वे शुरू से ही हमारे हरिजन-सेवक-सघ के अध्यक्ष रहे। पर स्वतंत्र रूप से भी मेरा उनके साथ एक मित्र के जैसा नाता बन गया। इसपर यदा-कदा मेरी टीका-टिप्पणी भी खूब हुई। चूँकि घनश्यामदासजी श्रीमन्त हैं, इसीलिए उनसे दूर-दूर रहने की मुझे, मेरी हित-चितना की दृष्टि से, सलाह दी गई—इस भय से कि कहीं मैं उनकी हाँ-मे-हाँ मिलानेवाला न बन जाऊँ। पर अनुचित रूप में 'जी हाँ वादी' तो मैं किसीका भी नहीं बना, न किसी श्रीमन्त का, न किसी लोक-नेता का। अपने आप पर मेरा इतना भरोसा तो रहा ही। मुझसे प्राय. पूछा गया—एक पूँजीपति के साथ तुम्हारी यह मैत्री कैसी? प्रत्येक पूँजीपति मानो अस्पृश्य है, और उसके साथ हमारी अमैत्री ही होनी चाहिए। जो विचार-तुला मानव को भुलाकर केवल उसके ऊपरी आवरणो को ही तोला करती हो उसके परिणामों की यथार्थता पर कैसे विश्वास करूँ? मानव-मानव के

सम्बन्ध में ये विचित्र वर्ग और वाद क्यों दखल दें? घनश्यामदासजी बस मेरे मित्र हैं, फिर वे चाहे कुछ भी हों। उनमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं, जैसी कि आकार-प्रकार-भेद से हर किसी मनुष्य में होती हैं। मुझमें ही कितनी सारी अपूर्णताएँ भरी पड़ी हैं। फिर किसीका भी सच्चा निष्पक्ष टीकाकार या निर्णायक कौन हो सकता है? आलोचक और आलोच्य के बीच न्यूनाधिक रूप में सापेक्ष्य सम्बन्ध ही तो होता है। मैं तो घनश्यामदासजी के कतिपय सद्गुणों का आदर करता हूं। कितनी ही बातों में उनसे मेरा मत नहीं मिला, और यह आवश्यक भी नहीं। औरों की तरह उनके भी कुछ कच्चे-पक्के विचार हैं। उन्होंने जल्दी में प्रायः अनुकूल या प्रतिकूल मत बना लिया, यह भी कभी-कभी मुझे अच्छा नहीं लगा, पर वहाँ भी मैंने उनमें सचाई और सरलता ही देखी। प्रतिपक्षी के प्रति कभी-कभी कटुता तो प्रकट की, फिर भी उसका बुरा नहीं चाहा। वैज्ञानिक की जैसी सूक्ष्म बुद्धि पाकर भी हृदय अतिशय भावनाशील रहा, जिससे बहुत बार उन्हें चोट भी लगी। भिन्न मत रखते हुए भी बड़ों के प्रति श्रद्धा और छोटों के प्रति स्नेह-भाव में भरसक कमी नहीं आने दी। माता-पिता एवं गांधीजी तथा सबसे ज्येष्ठ भ्राता के प्रति उनमें आदर्श श्रद्धा-भाव देखा। मेरी मित्रता का एक मुख्य कारण यह भी हुआ कि घनश्यामदासजी ने कभी कुलशील का परित्याग नहीं किया। और कुलशील ही तो मनुष्य के चारित्र्य की आधार-शिला है।

मगर उनकी व्यापार-नीति? बहुधा पूछा गया कि क्या वह सर्वथा दूध की धुली रही? मैं गहराई में नहीं गया, न जाना चाहता हूँ। मैं तो इतना ही कहूँगा कि जिस मनुष्य का चरित्र स्वच्छ रहा

हो उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ना ही चाहिए। ऐसे मनुष्य की नीति दूध की धुली न सही, पानी की धुली तो होनी ही चाहिए। वह गन्दगी को खुशी-खुशी अपना नहीं सकता।

फिर मैं यह कब कहता हूँ कि जिस दृष्टि से मैं अपने मित्रों को देखता हूँ उसी दृष्टि से दूसरे भी उन्हें देखें। इस बात को अवश्य मानता हूँ कि जिस किसीके साथ मेरा मैत्री-सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसके घर की हरेक चीज़ को मैं खिड़कियों व झरोखों से झाँक-झाँककर नहीं देखा करता। खुफिया पुलिस का काम मुझसे नहीं हो सकता, यह स्वभाव के विपरीत है।

घनश्यामदासजी को मैंने समीप से देखा, और उनके सुसंस्कृत व्यक्तित्व और चरित्र ने मुझे खींच लिया। उन्होंने भी मुझपर विश्वास किया। मित्रता का यही तो एकमात्र आधार है। मुझे अपने मैत्री-सम्बन्ध को किसी सभा या न्यायालय में सिद्ध करने नहीं जाना। घनश्यामदासजी के कारण उनके परिवार के सभी छोटों-बड़ों के प्रति स्नेहभाव हो गया। कलकत्ते के श्रीभागीरथमल कानोड़िया के साथ भी मेरा ऐसा ही मैत्री-सम्बन्ध है। सयोग से उनकी भी गणना पूँजीपतियों में होती है। पर मेरे तो कितने ही नाना मत रखनेवाले स्नेही मित्र हैं। उनमे धनी भी हैं, दरिद्र भी हैं, सुधारवादी भी हैं, रूढ़िवादी भी हैं, और प्रगतिशील तथा प्रतिगामी भी हैं। उनके नामो की लम्बी सूची देना अनावश्यक है। ऊपर ये एक-दो नाम तो वाध्य होकर देने पडे।

परिवार की चर्चा पिछले एक प्रकरण में विस्तार के साथ कर चुका

हूँ, यद्यपि मोह-ममतावश फिर उसी ओर ध्यान जा रहा है। छूटने को चाहा भी, पर उलटे उलझता गया। सोचता हूँ कि यदि कहीं मुझे अपने प्रति श्रद्धा-भक्ति का प्रतिदान मिला होता, तो शायद इस सुनहरे जाल में और अधिक उलझ गया होता। अच्छा ही हुआ कि उत्तर में मैंने प्रायः कुछ उपेक्षा ही पाई। फलतः श्रद्धा-भाजन बनने की आकांक्षा अपने आप दुर्बल पड़ गई। फिर भी स्नेह-भाव भीतर-भीतर उमड़ता ही रहा, जो निश्चय ही मेरी जीवन-यात्रा में एक शुभ और स्वच्छ चिह्न है।

कभी कभी अपने आस-पास वैर-भाव पनपते देखा और उससे मैं व्यथित हो गया। प्रेम के प्रयोग-पर-प्रयोग सुझाये और किये, पर प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुए। तो भी विश्वास दिन-दिन बढ़ता ही गया कि यदि प्रेम में मोह की मिलावट न हो, तो अन्त में वह वैर पर अवश्य विजय पाता है। प्रेम के अद्भुत चमत्कार को देखने के लिए मैं सदैव व्याकुल रहा। अपने परिवार में हो या कहीं भी जब-जब जहाँ पर विरोध के विषैले पौदे को पनपते देखा, तब-तब उसकी जड़ें काटने को व्याकुल हो उठा—यह देखते हुए भी कि उसके मूलोच्छेद करने की शक्ति मेरे निर्बल हाथों में नहीं है। आश्चर्य होता है कि इस विष-बेलि को अहंकार का पानी दे-देकर पनपने ही क्यों दिया जाता है। अपने आसपास उसे देखकर या उसकी तीव्र गन्ध पाकर ही मेरा तो दम घुटने लगता है, जैसे आग के बीचो-बीच सड़ायँद के साथ साथ जल-भुन रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि ऐसा अंतर में छिपी अहिंसा की भावना से होता है या किससे।

और हरिजन-निवास पर अधिक क्या लिखूँ। वह तो प्रतिदिन

आँखो के आगे रहा है। पूज्य बापू का वह साकार आशीर्वाद है, श्रद्धेय बापा के तप का मधुर फल है। यह बात दूसरी है कि मैं उस पुण्यस्थल से कोई लाभ नहीं उठा पाया। गगा के तट पर बैठा रहा, फिर भी प्यासा-का प्यासा!

यह है अबतक का, यहाँतक का मेरा अपना जीवन-प्रवाह। मैं स्वय भी या कोई दूसरा इस प्रवाह के बारे में कुछ भी राय बनाले, वह तो अपने रस मे ऐसा ही बहता आया है, और कौन जाने, कबतक इसी तरह बहता रहेगा।

सूने-विहूने किन्तु सुहावने घाट पर खडा हूँ, और देख रहा हूँ प्रवाह पर पल-पल पड़नेवाली अगणित अनित्य सस्कारो की झिलमिल छाया। बस, आज तो इतना ही—बन पडा तो फिर कभी आगे और।